प्रकाशक :

देवेन्द्रराज मेहता,
सचिव
प्राकृत भारती अकादमी,
३८२६, यति श्यामलालजी का उपाश्रय
मोतीसिंह भोमियों का रास्ता, जयपुर-३०२००३ (राजस्थान)

पारसमल भंसाली
अध्यक्ष,
श्री जैन श्वेताम्बर नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ
पो. मेवानगर, स्टे. बालोतरा, ३४४०२५
जि० बाडमेर (राजस्थान)

द्वितीय संस्करण, मार्च १९९०

मूल्य : (अजिल्द) रु० ८०; (सजिल्द) रु० १००

मुद्रक : श्री जैनेन्द्र प्रेस, ए-४५, नारायणा, नई दिल्ली ११००२८

AGAMA-YUGA KA JAINA DARSHANA/PHILOSOPHY
D.D. MALVANIA / 1990

प्रकाशकीय

जैन दर्शन के मूर्धन्य मनीषि पं० दलसुखभाई मालवणिया की पाण्डित्यपूर्ण लेखिनी से निसृत "आगम-युग का जैन दर्शन" पुस्तक प्राकृत भारती के ६६वें पुष्प के रूप में प्रकाशित हो रही है। यह भी प्राकृत भारती अकादमी और श्री जैन श्वेताम्बर नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ का संयुक्त प्रकाशन है।

जैन दर्शन के स्वरूप का प्रतिपादन करने वाली अनेकों पुस्तकें अभी तक प्रकाशित हो चुकी हैं तदपि तत्कालीन समस्त दर्शन मान्य विचारणाओं/निष्कर्षों को सोदाहरण उपस्थित कर, आगम युग के आधार पर जैन दर्शन के स्वरूप का प्रस्थापन जिस मौलिक चिन्तन के साथ इसमें हुआ है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। यही कारण है कि न्याय-दर्शन के अध्येताओं के लिये यह पुस्तक दीपस्तम्भ की तरह मार्गदर्शक बनी हुई है और रहेगी।

प्रस्तुत पुस्तक पांच अध्यायों में विभक्त है। पहले अध्याय में आगम साहित्य की रूपरेखा का विस्तार से प्रतिपादन है। दूसरे और तीसरे अध्याय में जैन सम्मत प्रमेय और प्रमाण का सांगोपांग विशद विवेचन है। चौथे अध्याय में न्यायशास्त्र के आधार पर जैन आगमों में वाद और वादविद्या का सविस्तार प्रतिपादन है। पांचवें अध्याय में आगमोत्तर कालीन वाचक उमास्वाति, आचार्य कुन्दकुन्द और सिद्धसेन के ग्रन्थों के आधार पर प्रमेय, प्रमाण और स्याद्वाद का अनुपम निरूपण है।

पुस्तक के अन्त में ३ परिशिष्ट भी हैं। पहला परिशिष्ट दार्शनिक साहित्य का विकास क्रम है; जो आगम, अनेकान्त व्यवस्था, प्रमाण व्यवस्था और नव्यन्याय युगों में विभक्त है। दूसरा परिशिष्ट आचार्य मल्लवादी और उनके नयचक्र ग्रन्थ पर आधारित है। तीसरा परिशिष्ट विस्तृत नामानुक्रमणिका का है।

यह साधिकार कह सकते हैं कि यह पुस्तक मौलिक है और गहन अध्ययन/चिन्तन के साथ अनेकान्त का सांगोपांग प्रस्थापन समन्वय के साथ करती है। इस पुस्तक के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि मालवणियाजी ने जिस गहन अध्ययन/चिन्तन के साथ प्रांजल शैली में इसका लेखन किया है वह वस्तुतः अनूठा है और उनकी अमित प्रतिभा का द्योतक भी।

प्रस्तुत पुस्तक का प्रथम संस्करण सन् १९६६ में सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा से प्रकाशित हुआ था, जो आज अप्राप्त है। अध्येताओं की दृष्टि से इसकी उपयोगिता देखकर और हमारे अनुरोध पर श्री मालवणिया जी ने इसके प्रकाशन की औदार्य के साथ स्वीकृति देकर हमें अनुगृहीत किया है। अतः हम निःस्पृह एवं निश्छल व्यक्तित्व के धनी पण्डितवर्य श्री दलसुखभाई का हार्दिक आभार प्रकट करते हैं।

आगमज्ञ कविरत्न उपाध्याय श्री अमरमुनिजी म० एवं मुनि श्री समदर्शीजी के भी हम अत्यन्त आभारी हैं कि जिन्होंने सम्मति ज्ञानपीठ, आगरा की ओर से इस पुस्तक का द्वितीय संस्करण प्रकाशित करने की हमें सहर्ष अनुमति प्रदान की।

आशा करते हैं, दर्शनशास्त्र के चिन्तनशील अध्येता एवं शोधार्थी इसका अध्ययन कर लाभान्वित होंगे और प्राकृत भारती के इस प्रयास की अवश्य ही सराहना करेंगे ।

पारसमल भंसाली	**म० विनयसागर**	**देवेन्द्रराज मेहता**
अध्यक्ष	निदेशक	सचिव
जैन श्वे. नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ	प्राकृत भारती अकादमी	प्राकृत भारती अकादमी
मेवानगर	जयपुर	जयपुर

दो शब्द द्वितीय आवृत्ति के अवसर में

"आगम-युग का जैन दर्शन" प्रकाशित होने के बाद "जैन दर्शन का आदिकाल" प्रकाशित हो चुका है। मेरी इच्छा तो यह थी कि अब आगम युग का मध्यकाल और उत्तरकाल ऐसा विभाजन कर, प्रस्तुत पुस्तक को पुनः लिखकर तीन खण्ड में कर दूं। किन्तु, अब आयु ऐसी नहीं रही कि नया कुछ करने का साहस कर सकूं। अतएव प्रस्तुत पुस्तक को जैसी है, पुनः प्रकाशित करवा रहा हूँ। इसके प्रकाशन के लिये मैं महोपाध्याय विनयसागरजी का ऋणी हूँ कि उन्होंने इसे पुनः प्रकाशित करने की योजना बनाई।

दिनांक १८. ८. ८८ — दलसुख मालवणिया

अहमदाबाद

लेखक की ओर से :

•

जैनदर्शन के विषय में स्वतन्त्र पुस्तकों का प्रकाशन नहीं के बराबर ही है। जैनदर्शन की मौलिक संस्कृत एवं प्राकृत पुस्तकों की प्रस्तावनाओं के रूप में पण्डित श्री सुखलालजी, पंडित श्री बेचरदासजी, पण्डित श्री कैलाशचन्द्रजी, पं० श्री महेन्द्र-कुमारजी, श्री जुगमन्दरलालजी जैनी तथा प्रोफेसर चक्रवर्ती, प्रोफेसर घोषाल और प्रोफेसर डा० उपाध्ये आदि ने लिखा है। पं० महेन्द्रकुमारजी तथा डा० मोहन लाल मेहता के हिन्दी में, 'जैनदर्शन' अपने आप में विशिष्ट कृतियां हैं। अँग्रेजी में डा० नथमलजी टाटिया की 'Studies in Jain Philosophy' पुस्तक, डा० पद्म-राजैया की 'Comparative study of the Jain theory of reality and knowledge' पुस्तक और श्री वीरचन्द गांधी की 'Jain Philosophy' पुस्तक जैनदर्शन के सम्बन्ध में रचनाएँ हैं। परन्तु इन सभी में जैनदर्शन के मध्यकालीन विकसित रूप का ही, विवेचन या सार-संग्रह है। किसी ने जैन मूल आगम में, जैन-दर्शन का कैसा रूप है, इसका विवरण नहीं दिया है। इस अभाव की पूर्ति के लिए मैंने जो प्रयत्न किया था, वह यहाँ स्वतन्त्र पुस्तक के रूप में उपस्थित है। मैंने १६४६ में 'न्यायावतारवार्तिकवृत्ति' की प्रस्तावना के एक अंश के रूप में जैन आगमों का अध्ययन करके उनमें जो जैनदर्शन का रूप है, वह उपस्थित किया था। उक्त प्रस्तावना के अंश को अन्य सामग्री के साथ जोड़ कर आगम-युग का जैनदर्शन प्रकाशित किया जा रहा है। अध्येताओं को जैनदर्शन के क्रमिक विकास को समझने में यह पुस्तक भूमिका का काम देगी। जैनदर्शन के बृहद् इतिहास को मन में रख कर ही प्रस्तुत प्रयत्न किया गया है। यह प्रयत्न उस बृहद् इतिहास का प्रथम भाग ही है। जैनदर्शन के मौलिक सिद्धान्तों का परिचय देने में अभी तो एकमात्र यही साधन है, यह कहा जाए, तो अतिशयोक्ति नहीं है।

मैं अपने अन्य कार्य में अत्यधिक व्यस्त था, अतः प्रस्तुत पुस्तक को तैयार करने का अवकाश मेरे पास नहीं था, फिर भी सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा के प्रबन्धकों के आग्रह के कारण मुझे यह कार्य अपने हाथ में लेना पड़ा। सन्मति ज्ञान पीठ के मन्त्री के प्रयत्न के कारण ही, मैं इस कार्य को शीघ्र कर पाया, अन्यथा मेरी धर्मपत्नी के स्वर्गवास से जो परिस्थिति आ पड़ी थी, उससे बाहर निक-लना मेरे लिए सम्भव नहीं था। मेरे पुत्र चिरंजीव रमेशचन्द्र मालवणिया ने इसकी शब्दसूची बनाकर मेरा भार हल्का न किया होता, तो पूरी पुस्तक छप जाने

पर भी पड़ी ही रहती । मेरा उन्हें हृदय से आशीर्वाद है। मुझे विश्वास है, रमेशचन्द्र ने इस कार्य को अपना कर्त्तव्य समझकर बड़ी लगन से किया है।

प्रस्तुत पुस्तक के सम्पादन एवं मुद्रण में पूज्य विजय मुनि ने जो परिश्रम किया है एतदर्थ मैं उनका तथा सतत प्रेरणा देने वाले पूज्य उपाध्याय अमर मुनि जी का विशेष रूप से आभारी हूँ।

'सिंघी जैन सीरीज,—भारतीय विद्याभवन, बम्बई के संचालकों ने प्रस्तावना के अंश को प्रकाशित करने की स्वीकृति दी है, एतदर्थ मैं आभारी हूँ। इस पुस्तक में जो कुछ कमी है, उसका परिज्ञान मुझे तो है ही, किन्तु विद्वानों से निवेदन है, कि वे भी इसमें संशोधन के लिए सुझाव दें। विद्वानों के सुझाव आने पर मैं उनका उपयोग पुस्तक के अगले संस्करण में कर सकूंगा।

अहमदाबाद
ता० ४-६-६५

दलसुख मालवणिया

प्रकाशकीय :

'आगम-युग का जैन-दर्शन' यह एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक है। प्रस्तुत पुस्तक के लेखक हैं, पण्डित श्री दलसुख मालवणिया। जैनदर्शन पर हिन्दी में अनेक पुस्तकें उपलब्ध हैं, किन्तु प्रस्तुत पुस्तक की अपनी विशेषता है। यह पुस्तक आगमों के मूल दार्शनिक तत्त्वों पर लिखी गई है। मूल आगमों में प्रमाण, प्रमेय, निक्षेप और नय आदि पर क्या-क्या विचार हैं और उनका विकास किस प्रकार हुआ, इन सबका क्रमिक विकास प्रस्तुत पुस्तक में उपनिबद्ध किया गया है। जो अध्येता एवं पाठक दार्शनिक दृष्टि से आगमों का अध्ययन करना चाहते हैं, उनके लिए प्रस्तुत पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है। इस पुस्तक के अध्ययन करने से मूल आगम ग्रन्थों के दार्शनिक तत्त्वों का एक अच्छा परिबोध हो जाता है।

पण्डित श्री दलसुख जी अपने लेखन कार्य में और अनुसंधान में अत्यन्त व्यस्त थे, फिर भी उन्होंने हमारे आग्रह को स्वीकार किया और अपने व्यस्त समय में से कुछ समय निकाल कर प्रस्तुत पुस्तक को तैयार करके, उन्होंने तत्त्व-जिज्ञासुओं पर एक बड़ा उपकार किया है। एतदर्थ मैं पण्डित जी को धन्यवाद देता हूँ, कि उन्होंने जैन साहित्य को एक अमूल्य कृति भेंट की है।

प्रस्तुत पुस्तक का मुद्रण, एजुकेशनल प्रेस आगरा में हुआ है। प्रेस के संचालक और प्रबन्धक महोदयों ने प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन में जिस धीरता और उदारता का परिचय दिया है, इसके लिए मैं उनका बहुत आभारी हूँ, क्योंकि प्रस्तुत पुस्तक में संस्कृत और प्राकृत के टिप्पण इतने अधिक हैं, जिससे Compositer का परेशान होना स्वाभाविक था, किन्तु इस कठिन कार्य को प्रेस की ओर से बड़े धैर्य और सुन्दरता के साथ सम्पन्न किया गया है। इसके लिए मैं बाबू जगदीश प्रसाद को बहुत-बहुत धन्यवाद देता हूँ।

सोनाराम जैन
मन्त्री
सन्मति ज्ञानपीठ

प्रिय पत्नी

स्वर्गीय

मथुरा गौरी

को

जिन्होंने लिया कुछ नहीं,

दिया ही दिया है।

दलसुख मालवणिया

ग्रन्थानुक्रमणिका

परिशिष्ट

संकेत सूची

अनुयोग०	अनुयोगद्वारसूत्र
अनुयोगसू०	,,
अनु० टी०	अनुयोगद्वारसूत्रटीका
आचा०	आचारांगसूत्र
आचा० चूर्णि	आचारांग चूर्णि
आचा० नि०	आचारांग निर्युक्ति
आचा० निर्यु०	,,
आप्तमी०	आप्तमीमांसा
आव० नि०	आवश्यकनिर्युक्ति
ईशा०	ईशावास्योपनिषद्
उत्त०	उत्तराध्ययनसूत्र
उत्तरा०	,,
कठो०	कठोपनिषद्
केन०	केनोपनिषद्
चरक०	चरकसंहिता
छान्दो०	छान्दोग्योपनिषद्
तत्त्वार्थ०	तत्त्वार्थसूत्र
तत्त्वार्थ भा०	तत्त्वार्थसूत्रभाष्य
तत्त्वार्थश्लो०	तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक
तित्थोगा०	तित्थोगालिय
तैत्तिरी०	तैत्तिरीयोपनिषद्
दश० नि०	दशवैकालिकनिर्युक्ति
दशवै०	दशवैकालिक
दशवै० चू०	दशवैकालिकचूर्णि
दशवै० नि०	दशवैकालिकनिर्युक्ति
दर्शन प्रा०	दर्शनप्राभृत
दीघ०	दीघनिकाय
नियम०	नियमसार

न्यायभा०	न्यायसूत्र भाष्य
न्यायसू०	न्यायसूत्र
न्याया० टिप्पण (णी)	न्यायावतारवार्तिकवृत्ति के टिप्पण
पंचा०	पंचास्तिकाय
पंचास्ति०	,,
प्रमाणन०	प्रमाणनयतत्त्वालोक
प्रमाणमी०	प्रमाणमीमांसा
प्रवचन०	प्रवचनसार
प्रशस्त०	प्रशस्तपादभाष्य
प्रश्नो०	प्रश्नोपनिषद्
प्रस्तावना	न्यायावतारवार्तिकवृत्ति की प्रस्तावना
प्राकृतव्या०	प्राकृत व्याकरण, आ० हेमचन्द्रकृत
बृहदा०	बृहदारण्यकोपनिषद्
बृहत्०	बृहत्कल्पसूत्रभाष्य
भग०	भगवतीसूत्र
भावप्रा०	भावप्राभृत
माण्डूक्यो०	माण्डूक्योपनिषद्
माण्डू०	,,
माध्य०	माध्यमिककारिका
मुण्डको०	मुण्डकोपनिषद्
मोक्षप्रा०	मोक्षप्राभृत
योग०	योगसूत्र
विशेषा०	विशेषावश्यकभाष्य
वीरनि०	वीरनिर्वाण संवत् और जैनकाल गणना (श्री कल्याणविजयजी)
वैशे०	वैशेषिकसूत्र
श्वेता०	श्वेताश्वतरोपनिषद्
संयुत्त	संयुत्तनिकाय
संयुत्तनि०	,,
सन्मति०	सन्मतितर्कप्रकरण
समय०	समयसार
समयसार तात्पर्य०	समयसार तात्पर्यटीका
सर्वार्थ०	सर्वार्थसिद्धि (तत्त्वार्थटीका)

सांख्यका०	सांख्यकारिका
सांख्यत०	सांख्यतत्त्वकौमुदी
स्था०	स्थानांगसूत्र
हेतुबि०	हेतुबिन्दुटीका
Constru.	Constructive Survey of Upanishadic philosophy
J. R. A. S.	Journal of the Royal Asiatic Society
Pre-Dig.	Pre-Dignaga-Buddhist-Texts (G. O. S.)

आगम-साहित्य की रूप-रेखा

एक

पौरुषेयता और अपौरुषेयता :

ब्राह्मण-धर्म में श्रुति (वेद) का और बौद्धधर्म में त्रिपिटक का जैसा महत्त्व है, वैसा ही जैन धर्म में श्रुत (आगम) गणिपिटक का महत्त्व है। ब्राह्मण दार्शनिक मीमांसकों ने वेदविद्या को सनातन मानकर अपौरुषेय बताया और नैयायिक-वैशेषिक आदि दार्शनिकों ने उसे ईश्वर-प्रणीत बताया, किन्तु वस्तुतः देखा जाए, तो दोनों के मत से यही फलित होता है कि वेद-रचना का समय अज्ञात ही है। इतिहास उसका पता नहीं लगा सकता। इसके विपरीत बौद्ध त्रिपिटक और जैन गणिपिटक पौरुषेय हैं। ईश्वर प्रणीत नहीं हैं, और उनकी रचना के काल का भी इतिहास को पता है।

मनुष्य पुराणप्रिय है। यह भी एक कारण था, कि वेद अपौरुषेय माना गया। जैनों के सामने भी यह आक्षेप हुआ होगा, कि तुम्हारे आगम तो नये हैं, उसका कोई प्राचीन मूल आधार नहीं है। इसका उत्तर दिया गया कि द्वादशांगभूत गणिपिटक कभी नहीं था,यह भी नहीं और कभी नहीं है, यह भी नहीं, और कभी नहीं होगा यह भी नहीं। वह तो था, है और होगा। वह ध्रुव है, नियत है, शाश्वत है, अक्षय है, अव्यय है अवस्थित है और नित्य है[1]।

जब यह उत्तर दिया गया, तब उसके पीछे तर्क यह था कि पारमार्थिक दृष्टि से देखा जाए, तो सत्य एक ही है, तथ्य एक ही है। विभिन्न देश, काल और पुरुष की दृष्टि से उस सत्य का आविर्भाव नाना प्रकार से होता है, किन्तु उन आविर्भावों में एक ही सनातन सत्य अनुस्यूत

[1] देखो समवायांगगत द्वादशांगपरिचय, तथा नन्दी सू० ५७.

है। यदि उस सनातन सत्य की ओर दृष्टि दी जाए और आविर्भाव के प्रकारों की उपेक्षा की जाए तो यही कहना होगा, कि जो रागद्वेष को जीतकर–जिन होकर उपदेश देगा, वह आचार का सनातन सत्य सामायिक, समभाव, विश्ववात्सल्य एवं विश्वमैत्री का तथा विचार का सनातन सत्य, स्याद्वाद, अनेकान्तवाद एवं विभज्यवाद का ही उपदेश देगा। वैसा कोई काल नहीं, जब उक्त सत्य का अभाव हो। अतएव जैन आगम को इस दृष्टि से अनादि अनन्त कहा जाता है, वेद की तरह अपौरुषेय कहा जाता है।

एक स्थान पर कहा गया है[२] कि ऋषभआदि तीर्थङ्करों की शरीर-सम्पत्ति और वर्धमान की शरीर सम्पत्ति में अत्यन्त वैलक्षण्य होने पर भी सभी के धृति, शक्ति और शरीर-रचना का विचार किया जाए तथा उनकी आन्तरिक योग्यता-केवल ज्ञान–का विचार किया जाए,तो उन सभी की योग्यता में कोई भेद न होने के कारण उनके उपदेश में कोई भेद नहीं हो सकता। और दूसरी बात यह भी है, कि संसार में प्रज्ञापनीय भाव तो अनादि अनन्त हैं। अतएव जब कभी सम्यग्ज्ञाता उनका प्ररूपण करेगा, तो कालभेद से प्ररूपणा में भेद नहीं हो सकता। इसीलिए कहा जाता है कि द्वादशांगी अनादि अनन्त है। सभी तीर्थङ्करों के उपदेश की एकता का उदाहरण शास्त्र में भी मिलता है। आचारांग सूत्र[३] में कहा गया है, कि "जो अरिहंत हो गए, जो अभी वर्तमान में हैं और जो भविष्य में होंगे, उन सभी का एक ही उपदेश है, कि किसी भी प्राण, जीव, भूत और सत्त्व की हत्या मत करो, उनके ऊपर अपनी सत्ता मत जमाओ, उनको गुलाम मत बनाओ और उनको मत सताओ, यही धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है और विवेकी पुरुषों ने बनाया है।"

सत्य का आविर्भाव किस रूप में हुआ, किसने किया, कब किया और कैसे किया, इस व्यावहारिक दृष्टि से विचार किया जाए, तो जैन

---

[२] बृहत्कल्पभाष्य २०२–२०३.

[३] आचारांग-अ० ४ सू० १२६. सूत्रकृतांग २–१–१५, २–२–४१.

आगम पौरुषेय सिद्ध होते हैं। अतएव कहा गया कि[४] "तप-नियम-ज्ञानरूप वृक्ष के ऊपर आरूढ़ होकर अनन्त ज्ञानी केवली भगवान् भव्य जनों के विबोध के लिए ज्ञान-कुसुम की वृष्टि करते हैं। गणधर अपने बुद्धि-पट में उन सकल कुसुमों को झेल कर प्रवचन माला गूंथते हैं।"

इस प्रकार जैन-आगम के विषय में अपौरुषेयता और पौरुषेयता का सुन्दर समन्वय सहज ही सिद्ध होता है और आचार्य हेमचन्द्र का यह विचार चरितार्थ होता है—

"आदीपमाव्योम समस्वभावं स्याद्वादमुद्राऽनतिभेदि वस्तु"[५]

श्रोता और वक्ता की दृष्टि :

जैन-धर्म में बाह्य रूपरंग की अपेक्षा आन्तरिक रूपरंग को अधिक महत्त्व है। यही कारण है, कि जैन धर्म को अध्यात्मवादी धर्मों में उच्च स्थान प्राप्त है। किसी भी वस्तु की अच्छाई की जाँच उसकी आध्यात्मिक योग्यता के नाप पर ही निर्भर है। यही कारण है, कि निश्चय-दृष्टि से तथाकथित जैनागम भी मिथ्याश्रुत में गिना जाता है, यदि उसका उपयोग किसी दुष्ट ने अपने दुर्गुणों की वृद्धि में किया हो, और वेद आदि अन्य शास्त्र भी सम्यग्श्रुत में गिना जाता है, यदि किसी मुमुक्षु ने उसका उपयोग मोक्ष-मार्ग को प्रशस्त करने में किया हो। व्यावहारिक दृष्टि से देखा जाए, तो भगवान् महावीर के उपदेश का जो सार-संग्रह हुआ है, वही जैन आगम है[६]।

कहने का तात्पर्य यह कि निश्चय-दृष्टि से आगम की व्याख्या में श्रोता की प्रधानता है, और व्यवहार-दृष्टिसे आगम की व्याख्या में वक्ता की प्रधानता है।

---

४ "तवनियमनाणरुक्खं आरूढो केवली अमियनाणी।
तो मुयइ नाणवुट्ठिं भवियजणविबोहणट्ठाए ॥८९॥
तं बुद्धिमएण पडेण गणहरा गिण्हिउं निरवसेसं।
तित्थयरभासियाइं गंथंति तओ पवयणट्ठा ॥९०॥"—आवश्यकनिर्युक्ति

५ अन्ययोगव्यवच्छेदिका—५.

६ देखो नंदी सूत्र ४०, ४१। बृहत्कल्प भाष्य गा० ८८.

शब्द तो निर्जीव हैं, और सभी सांकेतिक अर्थ के प्रतिपादन की योग्यता रखने के कारण सर्वार्थक भी। इस स्थिति में निश्चय-दृष्टि से देखा जाए, तो शब्द का प्रामाण्य या अप्रामाण्य स्वतः नहीं, किन्तु उस शब्द के प्रयोक्ता के गुण या दोष के कारण ही शब्द में भी प्रामाण्य या अप्रामाण्य होता है। इतना ही नहीं, किन्तु श्रोता या पाठक के गुण-दोष के कारण भी प्रामाण्य या अप्रामाण्य का निर्णय करना होगा। अतएव यह आवश्यक हो जाता है, कि वक्ता और श्रोता दोनों की दृष्टि से आगम का विचार किया जाए। जैनों ने इन दोनों दृष्टियों से जो विचार किया है, उसे यहाँ प्रस्तुत किया जाता है—

शास्त्र की रचना निष्प्रयोजन नहीं, किन्तु श्रोता को अभ्युदय और श्रेयस्कर मार्ग का प्रदर्शन कराने की दृष्टि से ही है। शास्त्र की उपकारिता या अनुपकारिता उसके शब्दों पर निर्भर नहीं किन्तु, उन शास्त्रवचन को ग्रहण करने वाले की योग्यता पर भी है, यही कारण है, कि एक ही शास्त्र-वचन के नाना और परस्पर-विरोधी अर्थ निकालकर दार्शनिक लोग नाना मतवाद खड़े कर देते हैं। उदाहरण के लिए एक भगवद्गीता या एक ही ब्रह्मसूत्र कितने विरोधी वादों का मूल बना हुआ है? अतः श्रोता की दृष्टिसे किसी एक ग्रंथ को नियमतः सम्यक् या मिथ्या कहना, किसी एक ग्रंथ को ही जिनागम कहना भ्रमजनक होगा। यही सोचकर जिनागम के मूल ध्येय—जीवों की मुक्ति की पूर्ति—जिस किसी भी शास्त्र से होती है, वे सम्यक् हैं, वे सब आगम हैं—यह भी व्यापक दृष्टि बिन्दु जैनों ने स्वीकार किया है। इसके अनुसार वेद आदि सब शास्त्र जैनों को मान्य हैं। जिस जीव की श्रद्धा सम्यक् है, उसके सामने कोई भी ग्रंथ आ जाए, वह उसका उपयोग मोक्षमार्ग को प्रशस्त बनाने में ही करेगा। अतएव उसके लिए सब शास्त्र प्रामाणिक हैं, सम्यक् हैं। किन्तु जिस जीव की श्रद्धा ही विपरीत है, जिसे मुक्ति की कामना ही नहीं, जिसे संसार में ही सुख नज़र आता है, उसके लिए वेदआदि तो क्या, तथाकथित जैन-आगम भी मिथ्या हैं, अप्रमाण हैं। आगम की इस व्याख्या में सत्य का आग्रह है, साम्प्रदायिक कदाग्रह नहीं।

अब वक्ता की दृष्टि से जिस प्रकार आगम की व्याख्या की गई है, उसका विचार भी करलें। व्यवहार-दृष्टि से जितने शास्त्र जैनागमान्तर्गत हैं, उनको यह व्याख्या व्याप्त करती है। अर्थात् जैन लोग वेदादि से पृथक् ऐसा जो अपना प्रामाणिक शास्त्र मानते हैं वे सभी लक्ष्यान्तर्गत हैं।

आगम की सामान्य व्याख्या तो इतनी ही है कि आप्त का कथन आगम है[७]। जैनसम्मत आप्त कौन हैं ? इसकी व्याख्या में कहा गया है, कि जिसने राग और द्वेष को जीत लिया है, वह जिन तीर्थंकर, एवं सर्वज्ञ भगवान् आप्त हैं। और जिन का उपदेश एवं वाणी ही जैनागम है[८]। उसमें वक्ता के साक्षात् दर्शन और वीतरागता के कारण दोष की संभावना ही नहीं, पूर्वापर विरोध भी नहीं और युक्तिबाध भी नहीं। अतएव मुख्य रूप से जिनों का उपदेश एवं वाणी जैनागम प्रमाण भूत माना जाता है, और गौणरूप से उससे अनुप्राणित अन्य शास्त्र भी प्रमाणभूत माने जाते हैं।

यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि जैनागम के नाम से जो द्वादशांगी आदि शास्त्र प्रसिद्ध हैं, क्या वह जिनों का साक्षात् उपदेश है ? क्या जिनों ने ही उसको ग्रंथबद्ध किया था।

इस प्रश्न का उत्तर देने से पहले इतना स्पष्टीकरण आवश्यक है कि वर्तमान में उपलब्ध जो आगम हैं, वे स्वयं गणधर-ग्रथित आगमों की संकलना है। यहाँ जैनों की तात्त्विक मान्यता क्या है, उसी को दिखा कर उपलब्ध जैनागम के विषय में आगे विशेष विचार किया जाएगा।

जैन अनुश्रुति उक्त प्रश्न का उत्तर इस प्रकार देती है—जिन भगवान् उपदेश देकर विचार और आचार के मूल सिद्धान्त का निर्देश करके कृत-कृत्य हो जाते हैं। उस उपदेश को जैसा कि पूर्वोक्त रूपक में बताया गया है, गणधर या विशिष्ट प्रकार के साधक ग्रंथ का रूप देते हैं। फलितार्थ यह है, कि ग्रन्थबद्ध उपदेश का जो तात्पर्यार्थ है, उसके

---

[७] आप्तोपदेशः शब्दः—न्यायसूत्र १, १ ७. तत्त्वार्थभाष्य १, २०.

[८] नंदीसूत्र. ४०.

प्रणेता जिन-वीतराग एवं तीर्थंकर हैं, किन्तु जिस रूप में वह उपदेश ग्रन्थबद्ध या सूत्रबद्ध हुआ, उस शब्दरूप के प्रणेता गणधर ही हैं[९] जैनागम तीर्थंकर प्रणीत[१०] कहा जाता है, इसका अभिप्राय केवल यह है, कि अर्थात्मक ग्रन्थ प्रणेता वे थे, किन्तु शब्दात्मक ग्रंथ के प्रणेता वे नहीं थे।

पूर्वोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि सूत्र या ग्रंथ रूप में उपस्थित गणधर प्रणीत जैनागम का प्रामाण्य गणधरकृत होने मात्र से नहीं, किन्तु उसके अर्थ के प्रणेता तीर्थंकर की वीतरागता और सर्वार्थसाक्षात्कारित्व के कारण ही है।

जैन-श्रुति के अनुसार तीर्थंकर के समान अन्य प्रत्येकबुद्ध कथित आगम भी प्रमाण हैं।[११]

जैन परम्परा के अनुसार केवल द्वादशांगी ही आगमान्तर्गत नहीं है, क्योंकि गणधर कृत द्वादशांगी के अतिरिक्त अंगबाह्य रूप अन्य शास्त्र भी आगमरूप से मान्य हैं, और वे गणधरकृत नहीं हैं। क्योंकि गणधर केवल द्वादशांगी की ही रचना करते हैं, यह अनुश्रुति है। अंगबाह्यरूप से प्रसिद्ध शास्त्र की रचना अन्य स्थविर करते हैं[१२]।

स्थविर दो प्रकार के होते हैं—संपूर्णश्रुतज्ञानी और दशपूर्वी। संपूर्णश्रुतज्ञानी चतुर्दशपूर्वी[१३] या श्रुतकेवली गणधर प्रणीत संपूर्ण द्वाद-

---

[९] अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गन्थन्ति गणहरा निउणं।
सासणस्स हियट्ठाए तओ सुत्तं पवत्तइ ॥१९२॥ आव० नि०

[१०] नन्दीसूत्र-४०.

[११] "सुत्तं गणहरकथिदं तहेव पत्तेयबुद्धकथिदं च।
सुदकेवलिणा कथिदं अभिण्णदसपुव्वकथिदं च॥" मूलाचार-५-८०।
जयधवला पृ० १५३. ओघनिर्युक्तिटीका पृ० ३.

[१२] विशेषावश्यकभाष्य गा० ५५०. बृहत्कल्पभाष्य गा० १४४. तत्त्वार्थभा० १-२०. सर्वार्थसिद्धि १-२०.

[१३] जैनागम के पाठ्यक्रम में बारहवें अंग के अंशभूत चतुर्दशपूर्व को उसकी गहनता के कारण अन्तिम स्थान प्राप्त है। अतएव चतुर्दशपूर्वी का मतलब है। संपूर्णश्रुतधर। जैनानुश्रुति के अनुसार यह स्पष्ट है कि भद्रबाहु अन्तिम चतुर्दशपूर्वधर थे। उनके पास स्थूलभद्र ने चौदहों पूर्वों का पठन किया, किन्तु

शांगी रूप जिनागम के सूत्र और अर्थ के विषय में विशेषतः निपुण होते हैं। अतएव उनकी योग्यता एवं क्षमता मान्य है, कि वे जो कुछ कहेंगे या लिखेंगे, उसका जिनागम के साथ कुछ भी विरोध नहीं हो सकता। जिनोक्त विषयों का संक्षेप या विस्तार करके तत्कालीन समाज के अनुकूल ग्रंथ रचना करना ही उनका एक मात्र प्रयोजन होता है। अतएव उन ग्रंथों को सहज ही में संघ ने जिनागमान्तर्गत कर लिया है। इनका प्रामाण्य स्वतन्त्रभाव से नहीं, किन्तु गणधरप्रणीत आगम के साथ अविसंवाद-प्रयुक्त होने से है।

संपूर्ण श्रुतज्ञान जिसने हस्तगत कर लिया हो, उसका केवली के वचन के साथ विरोध न होने में एक यह भी दलील दी जाती है, कि सभी पदार्थ तो वचनगोचर होने की योग्यता नहीं रखते। संपूर्ण ज्ञेय का कुछ अंश ही तीर्थंकर के वचनगोचर हो सकता है[१४]। उन वचनरूप द्रव्यागम श्रुतज्ञान को जो संपूर्ण रूप में हस्तगत कर लेता है, वही तो श्रुतकेवली होता है। अतएव जिस बात को तीर्थंकर ने कहा था, उसको श्रुतकेवली भी कह सकता है[१५]। इस दृष्टि से केवली और श्रुतकेवली में कोई विशेष अन्तर न होने के कारण दोनों का प्रामाण्य समान-रूप से है।

कालक्रम से वीरनि० १७० वर्ष के बाद और मतान्तर से १६२ वर्ष के बाद, जैन संघ में जब श्रुतकेवली का भी अभाव हो गया, और केवल दशपूर्वधर ही रह गए तब उनकी विशेष योग्यता को ध्यान में रख कर जैनसंघ ने दशपूर्वधर ग्रथित ग्रंथों को भी आगम में समाविष्ट कर लिया। इन ग्रंथों का भी प्रामाण्य स्वतन्त्र भाव से नहीं, किन्तु गणधरप्रणीत आगम के साथ अविरोध होने से है।

भद्रबाहु की आज्ञा के अनुसार वे दशपूर्व ही अन्य को पढ़ा सकते थे। अतएव उनके बाद दशपूर्वी हुए। तित्थोगालीय ७४२. आवश्यक—चूर्णि भा० २, पृ० १८७.

[१४] बृहत्कल्पभाष्य गा० ९६४.

[१५] वही ९६३, ९६६.

जैनों की मान्यता है, कि चतुर्दशपूर्वधर और दशपूर्वधर वे ही साधक हो सकते हैं, जिनमें नियम से सम्यग्दर्शन होता है—(बृहत्—१३२)। अतएव उनके ग्रन्थों में आगमविरोधी बातों की संभावना ही नहीं रहती। यही कारण है, कि उनके ग्रंथ भी कालक्रम से आगमान्तर्गत कर लिए गए हैं।

आगे चलकर इस प्रकार के अनेक आदेश, जिनका समर्थन किसी शास्त्र से नहीं होता है, किन्तु जो स्थविरों की अपनी प्रतिभा के बल से किसी के विषय में दी हुई संमति मात्र हैं—उनका समावेश भी अंगबाह्य आगम में कर लिया गया है। इतना ही नहीं, कुछ मुक्तकों को भी उसी में स्थान प्राप्त है।[१६]

आदेश और मुक्तक आगमान्तर्गत हैं या नहीं, इसके विषय में दिगम्बर परम्परा मौन है। किन्तु गणधर, प्रत्येक-बुद्ध, चतुर्दशपूर्वी और दशपूर्वीग्रथित सभी शास्त्र आगमान्तर्गत हैं, इस विषय में दोनों का एक मत है।

इस चर्चा से यह तो स्पष्ट ही है, कि पारमार्थिक दृष्टि से सत्य का आविर्भाव निर्जीव शब्द में नहीं, किन्तु सजीव आत्मा में ही होता है। अतएव किसी पुस्तक के पन्ने का महत्त्व तब तक है, जब तक वह आत्मोन्नति का साधन बन सके। इस दृष्टि से संसार का समस्त साहित्य जैनों को उपादेय हो सकता है, क्योंकि योग्य और विवेकी आत्मा के लिए अपने काम की चीज कहीं से भी खोज लेना सहज है। किन्तु अविवेकी और अयोग्य के लिए यही मार्ग खतरे से खाली नहीं है। इसी लिए जैन ऋषियों ने विश्व-साहित्य में से चुने हुए अंश को ही जैनों के लिए व्यवहार में उपादेय बताया है और उसी को जैनागम में स्थान दिया है।

चुनाव का मूल सिद्धान्त यह है कि उसी विषय का उपदेश उपादेय हो सकता है, जिसे वक्ता ने यथार्थ रूप में देखा हो, इतना ही नहीं, किन्तु यथार्थ रूप में कहा भी हो। ऐसी कोई भी बात प्रमाण

[१६] बृहत्० १४४ और उसकी पादटीप. विशेषा० गा० ५५०.

नहीं मानी जा सकती, जिसका मूल उपर्युक्त उपदेश में न हो या जो उससे विसंगत हो ।

जो यथार्थदर्शी नहीं हैं, किन्तु यथार्थ श्रोता (श्रुतकेवली-दशपूर्वी) हैं, उनकी भी वही बात प्रमाण मानी जाती है, जो उन्होंने यथार्थदर्शी से साक्षात् या परंपरा से सुनी है । अश्रुत कहने का भी अधिकार नहीं है । तात्पर्य इतना ही है कि कोई भी बात तभी प्रमाण मानी जाती है, जब उसका यथार्थ अनुभव एवं यथार्थ दर्शन किसी न किसी को हुआ हो । आगम वही प्रमाण है, जो प्रत्यक्षमूलक है । आगम-प्रामाण्य के इस सिद्धान्त के अनुसार पूर्वोक्त आदेश आगमान्तर्गत नहीं हो सकते ।

दिगम्बरों ने तो अमुक समय के बाद तीर्थकरप्रणीत आगम का सर्वथा लोप ही मान लिया, इसलिए आदेशों को आगमान्तर्गत करने की उनको आवश्यकता ही नहीं हुई । किन्तु श्वेताम्बरों ने आगमों का संकलन करके यथाशक्ति सुरक्षित रखने का जब प्रयत्न किया, प्रतीत होता है, कि ऐसी बहुत-सी बातें उन्हें मालूम हुईं, जो पूर्वाचार्यों से श्रुतिपरंपरा से आई हुई तो थीं, किन्तु जिनका मूलाधार तीर्थकरों के उपदेशों में नहीं था, ऐसी बातों को भी सुरक्षा की दृष्टि से आगम में स्थान दिया गया और उन्हें आदेश एवं मुक्तक कह कर के उनका अन्य प्रकार के आगम से पार्थक्य भी सूचित किया ।

आगमों के संरक्षण में बाधाएँ :

ऋग्वेद आदि वेदों की सुरक्षा भारतीयों का अद्भुत कार्य है । आज भी भारतवर्ष में सैकड़ों वेदपाठी ब्राह्मण मिलेंगे, जो आदि से अन्त तक वेदों का शुद्ध उच्चारण कर सकते हैं । उनको वेद पुस्तक की आवश्यकता नहीं । वेद के अर्थ की परंपरा उनके पास नहीं, किन्तु वेद-पाठ की परम्परा तो अवश्य ही है ।

जैनों ने भी अपने आगम ग्रंथो को सुरक्षित रखने का वैसा ही प्रबल प्रयत्न किया है, किन्तु जिस रूप में भगवान् के उपदेश को गणधरों ने ग्रथित किया था, वह रूप आज हमारे पास नहीं । उसकी भाषा में—वह प्राकृत होने के कारण—परिवर्तन होना स्वाभाविक ही है ।

अतः ब्राह्मणों की तरह जैनाचार्य और उपाध्याय अंग ग्रंथों की अक्षरशः सुरक्षा नहीं कर सके हैं। इतना ही नहीं, किन्तु कई सम्पूर्ण ग्रन्थों को भूल चुके हैं और कई ग्रंथों की अवस्था विकृत कर दी है। फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है, कि अंगों का अधिकांश जो आज उपलब्ध है, वह भगवान् के उपदेश से अधिक निकट है। उसमें परिवर्तन और परिवर्धन हुआ है, किन्तु समूचा नया ही मन-गढ़न्त है, यह तो नहीं कहा जा सकता। क्योंकि जैन संघ ने उस संपूर्ण श्रुत को बचाने का बार-बार जो प्रयत्न किया है, उसका साक्षी इतिहास है।

भूतकाल में जो बाधाएँ जैन श्रुत के नाश में कारण हुईं, क्या वे वेद का नाश नहीं कर सकती थीं ? क्या कारण है, कि जैनश्रुत से भी प्राचीन वेद तो सुरक्षित रह सका और जैनश्रुत संपूर्ण नहीं, तो अधिकांश नष्ट हो गया ? इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार है।

वेद की सुरक्षा में दोनों प्रकार की वंश-परंपराओं ने सहकार एवं सहयोग दिया है। जन्म-वंश की अपेक्षा पिता ने पुत्र को और उसने अपने पुत्र को तथा विद्या-वंश की अपेक्षा गुरु ने शिष्य को और उसने अपने शिष्य को वेद सिखाकर वेदपाठ की परंपरा अव्यवहित गति से चालू रखी, किन्तु जैनागम की रक्षा में जन्म-वंश को कोई स्थान ही नहीं। पिता अपने पुत्र को नहीं, किन्तु गुरु अपने शिष्य को ही पढ़ाता है। अतएव विद्या-वंश की अपेक्षा से ही जैनश्रुत की परंपरा को जीवित रखने का प्रयत्न किया गया है। यही कमी जैनश्रुत की अव्यवस्था में कारण हुई है। ब्राह्मणों को अपना सुशिक्षित पुत्र और वैसा ही सुशिक्षित ब्राह्मण शिष्य प्राप्त होने में कोई कठिनाई नहीं होती थी, किन्तु जैन श्रमण के लिए अपना सुशिक्षित पुत्र जैनश्रुत का अधिकारी नहीं, गुरु के पास तो शिष्य ही होता है, भले ही वह योग्य हो, या अयोग्य, किन्तु श्रुत का अधिकारी वही होता था और वह भी श्रमण हो तब। सुरक्षा एक वर्ण विशेष से हुई है, जिसका स्वार्थ उसकी सुरक्षा में ही था। जैनश्रुत की सुरक्षा वैसे किसी वर्णविशेष के अधीन नहीं, किन्तु चतुर्वर्ण में से कोई भी मनुष्य यदि जैनश्रमण हो जाता है, तो वही जैन श्रुत का अधिकारी हो जाता है। वेद का अधिकारी ब्राह्मण

अधिकार पाकर उससे बरी नहीं हो सकता। उसके लिए जीवन की प्रथमावस्था में नियमत: वेदाध्ययन आवश्यक था। अन्यथा ब्राह्मण समाज में उसका कोई स्थान नहीं रहता था। इसके विपरीत जैन श्रमण को जैनश्रुत का अधिकार मिल जाता है, कई कारणों से वह उस अधिकार के उपभोग में असमर्थ ही रहता है। ब्राह्मण के लिए वेदाध्ययन सर्वस्व था, किन्तु जैन श्रमण के लिए आचार-सदाचार ही सर्वस्व है। अतएव कोई मन्दबुद्धि शिष्य सम्पूर्ण श्रुत का पाठ न भी कर सके, तब भी उसके मोक्ष में किसी प्रकार की रुकावट नहीं थी और ऐहिक जीवन भी निर्बाध रूप से सदाचार के बल से व्यतीत हो सकता था, जैन सूत्रों का दैनिक क्रियाओं में विशेष उपयोग भी नहीं। एक सामायिक पद मात्र से भी मोक्षमार्ग सुगम हो जाने की जहाँ बात हो, वहाँ विरले ही सम्पूर्ण श्रुतधर होने का प्रयत्न करें। अधिकांश वैदिक सूक्तों का उपयोग अनेक प्रकार के क्रियाकाण्डों में होता है जबकि कुछ ही जैनसूत्रों का उपयोग श्रमण के लिए अपने दैनिक जीवन में है। अत: शुद्ध ज्ञान-विज्ञान का रस हो, तभी जैनागम-समुद्र में मग्न होने की भावना जागृत होती है, क्योंकि यहाँ तो आगम का अधिकांश भाग बिना जाने भी श्रमण जीवन का रस मिल सकता है। अपनी स्मृति पर बोझ न बढ़ा कर, पुस्तकों में जैनागमों को लिपि-बद्ध करके भी जैन श्रमण आगमों को बचा सकते थे, किन्तु वैसा करने में अपरिग्रहव्रत का भंग असह्य था। उसमें उन्होंने असंयम देखा।[१७] जब उन्होंने अपने अपरिग्रहव्रत को कुछ शिथिल किया, तब तक वे आगमों का अधिकांश भूल चुके थे। पहिले जिस पुस्तक-परिग्रह को असंयम का कारण समझा था, उसी को संयम का कारण मानने लगे[१८]। क्योंकि वैसा न करते तो श्रुत-विनाश का भय था। किन्तु अब क्या हो सकता था। जो कुछ उन्होंने खोया, वह तो मिल ही नहीं सकता था। लाभ इतना अवश्य हुआ, कि जब से उन्होंने पुस्तक-परिग्रह को संयम का कारण माना, तो जो कुछ आगमिकसंपत्ति उस समय शेष रह गई थी,

---

[१७] पोत्थएसु घेप्पंतएसु असंजमो भवइ. दशवै० चू० पृ० २१.

[१८] कालं पुण पडुच्च चरणकरणट्ठा अवोच्छित्तिनिमित्तं च गेण्हमाणस्स पोत्थए संजमो भवइ, दशवै० चू० पृ० २१.

वह सुरक्षित रह गई। आचार के कठोर नियमों को श्रुत की सुरक्षा की दृष्टि से शिथिल कर दिया गया। श्रुतरक्षा के लिए कई अपवादों की सृष्टि की गई। दैनिक आचार में भी श्रुत-स्वाध्याय को अधिक महत्त्व दिया गया। इतना करने पर भी जो मौलिक कमी थी, उसका निवारण तो हुआ नहीं। क्योंकि गुरु अपने श्रमण शिष्य को ही ज्ञान दे सकता था। इस नियम का तो अपवाद हुआ ही नहीं। अतएव अध्येता श्रमणों के अभाव में गुरु के साथ ही ज्ञान चला जाए, तो उसमें आश्चर्य क्या ? कई कारणोंसे, विशेषकर जैनश्रमण की कठोर तपस्या और अत्यन्त कठिन आचार के कारण अन्य बौद्धआदि श्रमणसंघों की तरह जैन श्रमण संघ का संख्यावल शुरू से ही कम रहा है। इस स्थिति में कण्ठस्थ की तो क्या, वलभी में लिखित सकल ग्रन्थों की भी सुरक्षा न रह सकी हो, तो इसमें आश्चर्य ही क्या ?

पाटलीपुत्र-वाचना :

बौद्ध इतिहास में भगवान बुद्ध के उपदेश को व्यवस्थित करने के लिए भिक्षुओं ने कालक्रम से कई संगीतियाँ की थीं, यह प्रसिद्ध है। उसी प्रकार भगवान् महावीर के उपदेश को भी व्यवस्थित करने के लिए जैन आचार्यों ने भी तीन वाचनाएं की थीं। जब आचार्यों ने देखा, कि श्रुत का ह्रास हो रहा है, उसमें अव्यवस्था होगई है, तब जैनाचार्यों ने एकत्र होकर जैनश्रुत को व्यवस्थित किया है।

भगवान्[१९] महावीर के निर्वाण से करीब १६० वर्ष वाद पाटलिपुत्र में एक लम्बे समय के दुर्भिक्ष के वाद जैनश्रमणसंघ एकत्रित हुआ था। उन दिनों मध्यप्रदेश में अनावृष्टि के कारण जैनश्रमण तितर-बितर हो गए थे। अतएव अंगशास्त्र की दुरवस्था होना स्वाभाविक ही है। एकत्रित हुए श्रमणों ने एक दूसरे से पूछ-पूछकर ११ अंगों को व्यवस्थित किया, किन्तु देखा गया कि उनमें से किसी को भी सम्पूर्ण दृष्टिवाद का परिज्ञान न था। उस समय दृष्टिवाद के ज्ञाता आचार्य भद्रबाहु थे, किन्तु

---

[१९] आवश्यक चूर्णि भा २, पृ १८७.

उन्होंने १२ वर्ष के लिए विशेष प्रकार के योगमार्ग की साधना की थी, और वे उस समय नेपाल में थे। अतएव संघ ने स्थूलभद्र को अनेक साधुओं के साथ दृष्टिवाद की वाचना लेने के लिए भद्रबाहु के पास भेजा। उनमें से दृष्टिवाद को ग्रहण करने में केवल स्थूलभद्र ही समर्थ सिद्ध हुए। उन्होंने दशपूर्व सीखने के वाद अपनी श्रुतलब्धि-ऋद्धि का प्रयोग किया। इसका पता जव भद्रबाहु को चला, तव उन्होंने आगे अध्यापन कराना छोड़ दिया। स्थूलभद्र के वहुत कुछ अनुनय-विनय करने पर वे राजी हुए किन्तु स्थूलभद्र को कहा, कि शेष चार पूर्व की अनुज्ञा मैं तुम्हें नहीं देता। तुमको मैं शेष चार पूर्व की सूत्र वाचना देता हूँ, किन्तु तुम इसे दूसरों को नहीं पढ़ाना।[२०]

परिणाम यह हुआ, कि स्थूलभद्र तक चतुर्दशपूर्व का ज्ञान श्रमणसंघ में रहा। उनकी मृत्यु के वाद १२ अंगों में से ११ अंग और दशपूर्व का ही ज्ञान शेष रह गया। स्थूलभद्र की मृत्यु[२१] वीरनि० के २१५ वर्ष वाद (मतान्तर से २१९) हुई।

वस्तुत: देखा जाए, तो स्थूलभद्र भी श्रुतकेवली न थे। क्योंकि उन्होंने दशपूर्व तो सूत्रत: और अर्थत: पढ़े थे, किन्तु शेष चार पूर्व मात्र सूत्रत: पढ़े थे। अर्थ का ज्ञान भद्रवाहु ने उन्हें नहीं दिया था।

अतएव श्वेताम्बरों के मत से यही कहना होगा, कि भद्रबाहु की मृत्यु के साथ ही अर्थात् वीरात् १७० वर्ष के वाद श्रुत-केवली का लोप होगया। उसके वाद सम्पूर्णश्रुत का ज्ञाता कोई नहीं हुआ। दिगम्बरों ने श्रुतकेवली का लोप १६२ वर्ष वाद माना है। दोनों की मान्यताओं में सिर्फ ८ वर्ष का अन्तर है। आचार्य भद्रबाहु तक की दोनों की परंपरा इस प्रकार है—

---

[२०] तित्थोगा० ८०१-२. वीरनिर्वाणसंवत् और जैन कालगणना पृ० ९४.

[२१] आ० कल्याण विजयजी के मत से मृत्यु नहीं, किन्तु युग प्रधानत्व का अन्त, देखो, वीरनि० पृ० ६२ टिप्पणी

दिगम्बर[22]		श्वेताम्बर[23]	
केवली-गौतम	१२ वर्ष	सुधर्मा[24]	२० वर्ष
सुधर्मा	१२ ,,	जम्बू	४४ ,,
जम्बू	३८ ,,		
श्रुतकेवली-विष्णु	१४ ,,	प्रभव	११ ,,
नन्दिमित्र	१६ ,,	शय्यंभव	२३ ,,
अपराजित	२२ ,,	यशोभद्र	५० ,,
गोवर्धन	१६ ,,	संभूतिविजय	८ ,,
भद्रवाहु	२६ ,,	भद्रवाहु	१४ ,,
	१६२ वर्ष		१७० वर्ष

सारांश यह है, कि गणधर-ग्रथित १२ अंगों में से प्रथम वाचना के समय चार पूर्व न्यून १२ अंग श्रमणसंघ के हाथ लगे। क्योंकि स्थूलभद्र यद्यपि सूत्रतः सम्पूर्णश्रुत के ज्ञाता थे, किन्तु उन्हें चार पूर्व की वाचना दूसरों को देने का अधिकार नहीं था। अतएव तब से संघ में श्रुतकेवली नहीं, किन्तु दशपूर्वी हुए और अंगों में से उतने ही श्रुत की सुरक्षा का प्रश्न था।

अनुयोग का पृथक्करण और पूर्वों का विच्छेद :

श्वेताम्बरों के मत से दशपूर्वों की परंपरा का अंत आचार्य वज्र के साथ हुआ। आचार्य वज्र की मृत्यु विक्रम ११४ में हुई अर्थात् वीरात् ५८४। इसके विपरीत दिगम्बरों की मान्यता के अनुसार अन्तिम दश-पूर्वी धर्मसेन हुए और वीरात् ३४५ के बाद दशपूर्वी का विच्छेद हुआ अर्थात् श्रुतकेवली का विच्छेद दिगम्बरों ने श्वेताम्बरों से आठ वर्ष पूर्व माना और दशपूर्वी का विच्छेद २३९ वर्ष पूर्व माना। तात्पर्य यह है, कि श्रुति-विच्छेद की गति दिगम्बरों के मत से अधिक तेज है।

श्वेताम्बरों और दिगम्बरों के मत से दशपूर्वधरों की सूची इस प्रकार है—

[22] धवला पु० १ प्रस्ता० पृ० २६.

[23] इण्डियन ऍन्टी० भा० ११ सप्टे० पृ० २४५—२५६. वीरनि० पृ० ६२.

[24] सुधर्मा कैवल्यावस्था में आठ वर्ष रहे, उसके पहले छद्मस्थ के रूप में रहे.

दिगम्बर[२५]			श्वेताम्बर[२६]		
विशाखाचार्य	१०	वर्ष	स्थूलभद्र	४५	वर्ष
प्रोष्ठिल	१९	,,	महागिरि	३०	,,
क्षत्रिय	१७	,,	सुहस्तिन्	४६	,,
जयसेन	२१	,,	गुणसुन्दर	४४	,,
नागसेन	१८	,,	कालक	४१	,,(प्रज्ञापना कर्त्ता)
सिद्धार्थ	१७	,,	स्कंदिल (सांडिल्य)	३८	,,
धृतिषेण	१८	,,	रेवती मित्र	३६	,,
विजय	१३	,,	आर्य मंगू	२०	,,
बुद्धिलिंग	२०	,,	आर्य धर्म	२४	,,
देव	१४	,,	भद्रगुप्त	३९	,,
धर्मसेन	१६	,,	श्रीगुप्त	१५	,,
			वज्र	३६	,
	१८३	वर्ष		४१४	वर्ष
	+१६२=३४५			+१७०=५८४	

आर्य वज्र के बाद आर्य रक्षित हुए। १३ वर्ष तक युग-प्रधान रहे। उन्होंने शिष्यों को भविष्य में मति, मेधा, धारणा आदि से रहित जान करके अनुयोगों का विभाग कर दिया। अभी तक किसी एक सूत्र की व्याख्या चारों प्रकार के अनुयोगों से होती थी। उसके स्थान में उन्होंने विभाग कर दिया कि अमुक सूत्र की व्याख्या केवल एक ही अनुयोगपरक की जाएगी जैसे—चरणकरणानुयोग में कालिक श्रुत ग्यारह अंग, महाकल्पश्रुत और छेदसूत्रों का समावेश किया। धर्मकथानुयोग में ऋषिभाषितों का; गणितानुयोग में सूर्यप्रज्ञप्ति का, और दृष्टिवाद का द्रव्यानुयोग में समावेश कर दिया।[२७]

---

[२५] धवला पु० १ प्रस्ता० पृ० २६.

[२६] मेरुतुंग—विचारश्रेणी. वीरनि० पृ० ६४.

[२७] आवश्यक निर्युक्ति ३६३-७७७. विशेषावश्यकभाष्य २२८४-२२९५.

जब तक इस प्रकार के अनुयोगों का विभाग नहीं था, तब तक आचार्यों के लिए प्रत्येक सूत्रों में विस्तार से नयावतार करना भी आवश्यक था, किन्तु जब से अनुयोगों का पार्थक्य किया गया, तब से नयावतार भी अनावश्यक हो गया।[२८]

आर्यरक्षितके बाद श्रुतका पठन-पाठन पूर्ववत् नहीं चला होगा और पर्याप्त मात्रा में शिथिलता हुई होगी, यह उक्त बातसे स्पष्ट है। अतएव श्रुतमें उत्तरोत्तर ह्रास होना भी स्वाभाविक है। स्वयं आर्यरक्षित के लिए भी कहा गया है, कि वे सम्पूर्ण नव पूर्व और दशम पूर्व के २४ यविक मात्र के अभ्यासी थे।

आर्य रक्षित भी अपने सभी शिष्यों को ज्ञात श्रुत देने में असमर्थ ही हुए। उनकी जीवन कथा में कहा गया है, कि उनके शिष्यों में से एक दुर्बलिका पुष्पमित्र ही सम्पूर्ण नवपूर्व पढ़ने में समर्थ हुआ, किन्तु वह भी उसके अभ्यास के न कर सकने के कारण नवम पूर्व को भूल गया[२९]। उत्तरोत्तर पूर्वों के विशेषपाठियों का ह्रास होकर एक समय वह आया, जब पूर्वों का विशेषज्ञ कोई न रहा। यह स्थिति वीर निर्वाण के एक हजार वर्ष बाद हुई[३०]। किन्तु दिगम्बरों के कथनानुसार वीरनिर्वाण सं० ६८३ के बाद हुई।

माथुरी वाचना :

नन्दी सूत्र की चूर्णि में उल्लेख है[३१], कि द्वादशवर्षीय दुष्काल के कारण ग्रहण, गुणन एवं अनुप्रेक्षा के अभाव में सूत्र नष्ट हो गया। आर्य स्कंदिल के सभापतित्व में बारह वर्ष के दुष्काल के बाद साधुसंघ मथुरा में एकत्र हुआ और जिसको जो याद था, उसके आधार पर कालिकश्रुत को व्यवस्थित कर लिया गया। क्योंकि यह वाचना मथुरा में हुई। अतएव यह माथुरी वाचना कहलाई। कुछ लोगों का कहना है, कि सूत्र

---

[२८] आवश्यक निर्युक्ति ७६२. विशेषा० २२७९.

[२९] विशेषा० टी० २५११.

[३०] भगवती० २.८. सत्तरिसयठाण—३२७.

[३१] नन्दी चूर्णि पृ० ८.

तो नष्ट नहीं हुआ, किन्तु प्रधान अनुयोगधरों का अभाव हो गया। एक स्कंदिल आचार्य ही बचे थे, जो अनुयोगधर थे। उन्होंने मथुरा में अन्य साधुओं को अनुयोग दिया। अतएव वह माथुरी वाचना कहलाई।

इससे इतना तो स्पष्ट है, कि दुबारा भी दुष्काल के कारण श्रुतकी दुरवस्था हो गई थी। इस बार की संकलना का श्रेय आचार्य स्कंदिल को है। मुनि श्री कल्याणविजयजी ने आचार्य स्कंदिल का युग-प्रधानत्व काल वीरनिर्वाण संवत् ८२७ से ८४० तक माना है। अतएव यह वाचना इसी बीच हुई होगी।[३२] इस वाचना के फलस्वरूप आगम लिखे भी गए।

वालभी वाचना :

जब मथुरा में वाचना हुई थी, उसी काल में वलभी में नागार्जुन सूरि ने श्रमणसंघ को एकत्र करके आगमों को व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया था। और "वाचक नागार्जुन और एकत्रित संघ को जो-जो आगम और उनके अनुयोगों के उपरांत प्रकरण ग्रन्थ याद थे, वे लिख लिए गए और विस्मृत स्थलों को पूर्वापर संबंध के अनुसार ठीक करके उसके अनुसार वाचना दी गई[33]।" इसमें प्रमुख नागार्जुन थे। अतएव इस वाचना को 'नागार्जुनीय वाचना' भी कहते हैं।

देवर्धिगणि का पुस्तक-लेखन :

"उपर्युक्त वाचनाओं के सम्पन्न हुए करीब डेढ़ सौ वर्ष से अधिक समय व्यतीत हो चुका था, उस समय फिर वलभी नगर में देवर्धिगणि क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में श्रमणसंघ इकट्ठा हुआ, और पूर्वोक्त दोनों वाचनाओं के समय लिखे गए सिद्धान्तों के उपरान्त जो-जो ग्रन्थ-प्रकरण मौजूद थे, उन सब को लिखाकर सुरक्षित करने का निश्चय किया। इस श्रमण-समवसरण में दोनों वाचनाओं के सिद्धान्तों का परस्पर समन्वय किया गया और जहाँ तक हो सका भेदभाव मिटा कर उन्हें एकरूप

[३२] वीरनि पृ० १०४.

[33] वीरनि० पृ० ११०.

कर दिया। जो महत्वपूर्ण भेद थे, उन्हें पाठान्तर के रूप में टीका-चूर्णिओं में संगृहीत किया। कितनेक प्रकीर्णक ग्रन्थ जो केवल एक ही वाचना में थे, वैसे के वैसे प्रमाण माने गए[३४]।"

यही कारण है, कि मूल और टीका में हम 'वायणंतरे पुण' या 'नागार्जुनीयास्तु पठन्ति' जैसे उल्लेख पाते हैं[३५]।

यह कार्य वीरनिर्वाण सं० ९८० में हुआ और वाचनान्तर के अनुसार ९९३ में हुआ।

वर्तमान में जो आगमग्रन्थ उपलब्ध हैं उनका अधिकांश इसी समय में स्थिर हुआ था।

नन्दी सूत्र में जो सूची है, उसे ही यदि वलभी में पुस्तकारूढ़ सभी आगमों की सूची मानी जाए, तब कहना होगा, कि कई आगम उक्त लेखन के बाद भी नष्ट हुए हैं। विशेष करके प्रकीर्णक तो अनेक नष्ट हो गए हैं। केवल वीरस्तव नामक एक प्रकीर्णक और पिण्ड-निर्युक्त ऐसे हैं जो, नन्दीसूत्र में उल्लिखित नहीं हैं, किन्तु श्वेताम्बरों को आगमरूप से मान्य हैं।

पूर्वों के आधार से बने ग्रन्थ :

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों के मत से पूर्वों का विच्छेद हो गया है, किन्तु पूर्वगत श्रुत का विषय सर्वथा लुप्त हो गया हो, यह बात नहीं। क्योंकि दोनों संप्रदायों में कुछ ऐसे ग्रन्थ और प्रकरण मौजूद हैं, जिनका आधार पूर्वों को बताया जाता है। दिगम्बर आचार्यों ने पूर्व के आधार पर ही षट्खण्डागम और कषायप्राभृत की रचना की है। यह आगे बताया जाएगा। इस विषय में श्वेताम्बर मान्यता का वर्णन किया जाता है।

श्वेतांबरों के मत से दृष्टिवाद में ही संपूर्ण वाङ्मय का अवतार होता है, किन्तु दुर्बलमति पुरुष और स्त्रियों के लिए ही दृष्टिवाद के

---

[३४] वही पृ० ११२.
[३५] वही पृ० ११६.

विषय को लेकर शेष ग्रन्थों की सरल रचना होती है[३६]। इसी मत को मान करके यह कहा जाता है, कि गणधर सर्व प्रथम पूर्वों की रचना करते हैं, और उन्हीं पूर्वों के आधार से शेष अङ्गों की रचना करते हैं[३७]।

यह मत ठीक भी प्रतीत होता है। किन्तु इसका तात्पर्य इतना ही समझना चाहिए, कि वर्तमान आचारांग आदि से पहले जो शास्त्रज्ञान श्रुतरूप में विद्यमान था, वही पूर्व के नाम से प्रसिद्ध हुआ और उसी के आधार पर भगवान् महावीर के उपदेशों को ध्यान में रख कर द्वादशांग की रचना हुई, और उन पूर्वों को भी बारहवें अंग के एक देश में प्रविष्ट कर दिया गया। पूर्व के ही आधार पर जब सरल रीति से ग्रन्थ बने, तब पूर्वों के अध्ययन अध्यापन की रुचि कम होना स्वाभाविक है। यही कारण है, कि सर्वप्रथम विच्छेद भी उसी का हुआ।

यह तो एक सामान्य सिद्धान्त हुआ। किन्तु कुछ ग्रन्थों और प्रकरणों के विषय में तो यह स्पष्ट निर्देश है, कि उनकी रचना अमुक पूर्व से की गई है। यहाँ हम उनकी सूची देते हैं—जिससे पता चल जाएगा, कि केवल दिगम्बर मान्य षट्खण्डागम और कषायप्राभृत ही ऐसे ग्रन्थ नहीं, जिनकी रचना पूर्वों के आधार से की गई है, किन्तु श्वेताम्बरों के आगमरूप से उपलब्ध ऐसे अनेक ग्रन्थ और प्रकरण हैं, जिनका आधार पूर्व ही है।

१. महाकल्प श्रुत नामक आचारांग के निशीथाध्ययन की रचना, प्रत्याख्यान पूर्व के तृतीय आचार वस्तु के बीसवें पाहुड से हुई है[३८]।

२. दशवैकालिक सूत्र के धर्मप्रज्ञप्ति अध्ययन की आत्मप्रवाद पूर्व से, पिण्डैषणाध्ययन की कर्मप्रवाद पूर्व से, वाक्यशुद्धि अध्ययन की

---

[३६] विशेषा० गा० ५५१–५५२. बृहत्० १४५–१४६.

[३७] नन्दी चूर्णि पृ० ५६. आवश्यकनिर्युक्ति २९२–३. इसके विपरीत दूसरा मत सर्वप्रथम आचारांग की रचना होती है और क्रमशः शेष अंगों की—आचा० निर्यु० ८, ९. आचा० चूर्णि पृ० ३. धवला पु० १, पृ० ६५.

[३८] आचा० नि० २९१.

सत्यप्रवाद पूर्व से और शेष अध्ययनों की रचना नवम प्रत्याख्यान पूर्व के तृतीय वस्तु से हुई है। इसके रचयिता शय्यंभव हैं।

३. आचार्य भद्रबाहु ने दशाश्रुतस्कंध, कल्प और व्यवहार सूत्र की रचना प्रत्याख्यान पूर्व से की है।

४. उत्तराध्ययन का परीषहाध्ययन कर्मप्रवाद पूर्व से उद्धृत है।

इनके अलावा आगमेतर साहित्य में विशेष कर कर्म साहित्य का अधिकांश पूर्वोद्धृत है, किन्तु यहाँ अप्रस्तुत होने से उनकी चर्चा नहीं की जाती है।

द्वादश अंग :

अब यह देखा जाए, कि जैनों के द्वारा कौन-कौन से ग्रन्थ वर्तमान में व्यवहार में आगमरूप से माने गए हैं ?

जैनों के तीनों सम्प्रदायों में इस विषय में तो विवाद है ही नहीं, कि सकल श्रुत का मूलाधार गणधर ग्रथित द्वादशांग है, तीनों सम्प्रदाय में बारह अंगों के नाम के विषय में भी प्रायः एक मत है। वे बारह अंग ये हैं—

१. आचार २. सूत्रकृत ३. स्थान ४. समवाय ५. व्याख्याप्रज्ञप्ति ६. ज्ञातृधर्मकथा ७. उपासकदशा ८. अंतकृद्दशा ९. अनुत्तरोपपातिकदशा १०. प्रश्नव्याकरण ११. विपाक १२. दृष्टिवाद।

तीनों सम्प्रदायों के विचार से अन्तिम अंग दृष्टिवाद का सर्वप्रथम लोप हो गया है।

दिगम्बर मत से श्रुत का विच्छेद :

दिगम्बरों का कहना है, कि वीर-निर्वाण के बाद श्रुत का क्रमशः ह्रास होते होते ६८३ वर्ष के बाद कोई अंगधर या पूर्वधर आचार्य रहा ही नहीं। अंग और पूर्व के अंशमात्र के ज्ञाता आचार्य हुए। अंग और पूर्व के अंशधर आचार्यों की परम्परा में होने वाले पुष्पदंत और भूतबलि आचार्यों ने षट्खण्डागम की रचना दूसरे अग्रायणीय पूर्व के अंश के आधार से की, और आचार्य गुणधर ने पांचवें पूर्व ज्ञान-प्रवाद के अंश

के आधार से कषायपाहुड की रचना की[४०]। इन दोनों ग्रंथों को दिगम्बर आम्नाय में आगम का स्थान प्राप्त है। उसके मतानुसार अंग-आगम लुप्त हो गए हैं।

दिगम्बरों के मत से वीर-निर्वाण के बाद जिस क्रम से श्रुत का लोप हुआ, वह नीचे दिया जाता है[४१]—

३. केवली—गौतमादि पूर्वोक्त—	६२ वर्ष
५. श्रुतकेवली—विष्णु आदि पूर्वोक्त—	१०० वर्ष
११. दशपूर्वी—विशाखाचार्य आदि पूर्वोक्त—	१८३ वर्ष
५. एकादशांगधारी—नक्षत्र जसपाल (जयपाल) पाण्डु ध्रुवसेन कंसाचार्य	२२० वर्ष
४. आचारांगधारी—सुभद्र यशोभद्र यशोबाहु लोहाचार्य	११८ वर्ष
	६८३ वर्ष

दिगम्बरों के अंगबाह्य ग्रंथ :

उक्त अंग के अतिरिक्त १४ अंगबाह्य आगमों की रचना भी स्थविरों ने की थी, ऐसा मानते हुए भी दिगम्बरों का कहना है, कि उन अंगबाह्य आगम का भी लोप हो गया है। उन चौदह अंगबाह्य आगमों के नाम इस प्रकार हैं—

१ सामायिक २ चतुर्विंशतिस्तव ३ वंदना ४ प्रतिक्रमण ५ वैनयिक ६ कृति-कर्म ७ दशवैकालिक ८ उत्तराध्ययन ९ कल्पव्यवहार १० कल्पाकल्पिक ११ महाकल्पिक १२ पुण्डरीक १३ महापुण्डरीक १४ निशीथिका[४२]।

---

[४०] धवला पु० १ प्रस्ता० पृ० ७१, जयधवला पृ० ८७.

[४१] देखो जयधवला प्रस्ता० पृ० ४९.

[४२] जयधवला पृ० २५. धवला पु० १, पृ० ९६. गोमट्टसार जीव० ३६७, ३६८.

श्वेताम्बरों के दोनों सम्प्रदायों के अंगवाह्य ग्रंथों की और तद्गत अध्ययनों की सूची को देखने से स्पष्ट हो जाता है, कि उक्त १४ दिगम्बर मान्य अंगवाह्य आगमों में से अधिकांश श्वेताम्बरों के मत से सुरक्षित हैं। उनका विच्छेद हुआ ही नहीं।

दिगम्बरों ने मूलआगम का लोप मान कर भी कुछ ग्रन्थों को आगम जितना ही महत्त्व दिया है, और उन्हें जैन वेद की संज्ञा देकर प्रसिद्ध चार अनुयोगों में विभक्त किया है। वह इस प्रकार है—

१. **प्रथमानुयोग**—पद्मपुराण (रविषेण), हरिवंशपुराण (जिनसेन), आदिपुराण (जिनसेन), उत्तर-पुराण (गुणभद्र)।

२. **करणानुयोग**—सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, जयधवल।

३. **द्रव्यानुयोग**—प्रवचनसार, समयसार, नियमसार, पञ्चास्तिकाय, (ये चारों कुन्दकुन्दकृत) तत्त्वार्थाधिगम सूत्र (उमास्वाति कृत) और उसकी समन्तभद्र[43], पूज्यपाद, अकलङ्क, विद्यानन्द आदि कृत टीकाएँ, आप्तमीमांसा (समन्तभद्र) और उसकी अकलङ्क, विद्यानन्द आदि कृत टीकाएँ।

४. **चरणानुयोग**—मूलाचार (वट्टकेर), त्रिवर्णाचार, रत्नकरण्ड-श्रावकाचार[44]।

इस सूची से स्पष्ट है, कि इस में दशवीं शताब्दी तक लिखे गए ग्रंथों का समावेश हुआ है।

स्थानकवासी के आगम-ग्रन्थ :

श्वेताम्बर स्थानकवासी संप्रदाय के मत से दृष्टिवाद को छोड़ कर सभी अंग सुरक्षित हैं। अंगवाह्य के विषय में इस संप्रदाय का मत है, कि केवल निम्नलिखत ग्रंथ ही सुरक्षित हैं।

---

[43] अनुपलब्ध है.

[44] जैनधर्म पृ० १०७ हिस्ट्री ओफ इन्डियन लिटरेचर भा० २ पृ० ४७४.

अंगबाह्य में १२ उपांग, ४ छेद, ४ मूल और १ आवश्यक इस प्रकार केवल २१ ग्रंथों का समावेश है, वह इस प्रकार से है—

१२ उपांग—१ औपपातिक २ राजप्रश्नीय ३ जीवाभिगम
४ प्रज्ञापना ५ सूर्यप्रज्ञप्ति ६ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति
७ चन्द्रप्रज्ञप्ति ८ निरयावली ९ कल्पावतंसिका
१० पुष्पिका ११ पुष्पचूलिका १२ वृष्णिदशा ।

शास्त्रोद्धार मीमांसा में (पृ० ४१) पूज्य अमोलख ऋषि ने लिखा है, कि चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति ये दोनों ज्ञाताधर्म के उपांग हैं। इस अपवाद को ध्यान में रखकर क्रमशः आचारांग का औपपातिक आदि क्रम से अंगों के साथ उपांगों की योजना कर लेना चाहिए।

४ छेद—१ व्यवहार २ बृहत्कल्प ३ निशीथ ४ दशा-श्रुतस्कंध ।

४ मूल—१ दशवैकालिक २ उत्तराध्ययन ३ नन्दी ४ अनुयोग द्वार ।

१ आवश्यक—इस प्रकार सब मिलकर २१ अंगवाह्य-ग्रन्थ वर्तमान में हैं।

२१ अंगवाह्य-ग्रन्थों को जिस रूप में स्थानकवासियों ने माना है, श्वेताम्बर मूर्तिपूजक उन्हें उसी रूप में मानते हैं। इसके अलावा कुछ अन्य ग्रंथों का भी अस्तित्व स्वीकार किया है, जिन्हें स्थानकवासी प्रमाणभूत नहीं मानते या लुप्त मानते हैं।

स्थानकवासी के समान उसी संप्रदाय का एक उपसंप्रदाय तेरह पंथ को भी ११ अंग और २१ अंगबाह्य ग्रंथों का ही अस्तित्व और प्रामाण्य स्वीकृत है अन्य ग्रंथों का नहीं।

इन दोनों सम्प्रदायों में निर्युक्ति आदि ग्रंथों का प्रामाण्य अस्वीकृत है।

यद्यपि वर्तमान में कुछ स्थानकवासी साधुओं की, आगम के इतिहास के प्रति दृष्टि जाने से तथा आगमों की निर्युक्ति जैसी प्राचीन टीकाओं के अभ्यास से, दृष्टि कुछ उदार हुई है, और वे यह स्वीकार

करने लगे हैं, कि दशवैकालिक आदि शास्त्र के प्रणेता गणधर नहीं, किन्तु शय्यंभव आदि स्थविर हैं, तथापि जिन लोगों का आगम के टीका-टिप्पणियों पर कोई विश्वास नहीं तथा जिन्हें संस्कृत टीका ग्रन्थों के अभ्यास के प्रति अभिरुचि नहीं है उन साम्प्रदायिक मनोवृत्ति वालों का यही विश्वास प्रतीत होता है, कि अंग और अंगबाह्य दोनों प्रकार के आगम के कर्त्ता गणधर ही थे, अन्य स्थविर नहीं[४५]।

श्वेताम्बरों के आगम ग्रंथ :

यह तो कहा ही जा चुका है, कि अंगों के विषय में किसी का भी मतभेद नहीं। अतएव श्वेताम्बरों को भी पूर्वोक्त १२ अंग मान्य हैं, जिन्हें अन्य दिगम्बरादि ने माना है। अन्तर यही है, कि दिगम्बरों ने १२ अंगों को पूर्वोक्त क्रम से विच्छेद माना, जबकि श्वेताम्बरों ने सिर्फ अन्तिम अंग का विच्छेद माना। उनका कहना है, कि भगवान् महावीर के निर्वाण के १००० वर्ष बाद ही पूर्वगत का विच्छेद[४६] हुआ है।

जब तक उसका विच्छेद नहीं हुआ था, आचार्यों ने पूर्व के विषयों को लेकर अनेक रचनाएँ की थीं। इस प्रकार की अधिकांश रचनाओं का समावेश अंग बाह्य में किया गया है। कुछ ऐसी भी रचनाएँ हैं, जिनका समावेश अंग में भी किया गया है।

दिगम्बरों ने १४, स्थानकवासियों ने २१ और श्वेताम्बरों ने ३४ अंगबाह्य ग्रन्थ माने हैं।

श्वेताम्बरों के मत से उपलब्ध ११ अंग और ३४ अंगबाह्य ग्रन्थों की सूची इस प्रकार है—

११. अंग—पूर्वोक्त आचारांग आदि।

१२. उपांग—औपपातिक आदि पूर्वोक्त।

१०. प्रकीर्णक—१ चतुःशरण २ आतुरप्रत्याख्यान ३ भक्तपरिज्ञा ४ संस्तारक ५ तंदुलवैचारिक ६ चन्द्रवेध्यक ७ देवेन्द्रस्तव ८ गणिविद्या ९ महाप्रत्याख्यान

[४५] शास्त्रोद्धार मीमांसा पृ० ४३, ४५, ४७.

[४६] भगवती—२—८. तित्थोगा० ८०१. सत्तरिसयठाण—३२७.

१० वीरस्तव[४७]।

६. छेदसूत्र–१ निशीथ २ महानिशीथ ३ व्यवहार ४ दशाश्रुत-स्कंध ५ वृहत्कल्प ६ जीतकल्प।

४. मूल–१ उत्तराध्ययन २ दशवैकालिक ३ आवश्यक ४ पिंड-निर्युक्ति[४८]।

२. चूलिकासूत्र–१ नन्दीसूत्र २ अनुयोगद्वार।

आगमों का रचनाकाल :

जैसा कि हमने देखा, आगमशब्दवाच्य एक ग्रन्थ नहीं, किन्तु अनेक व्यक्ति कर्तृक अनेक ग्रंथों का समुदाय है। अतएव आगम की रचना का कोई एक काल बताया नहीं जा सकता। भगवान् महावीर का उपदेश विक्रम पूर्व ५०० वर्ष में शुरू हुआ। अतएव उपलब्ध किसी भी आगम की रचना का उसके पहले होना सभव नहीं है, और दूसरी ओर अंतिम वाचना के आधार पर पुस्तक लेखन वलभीमें विक्रम सं० ५१० (मतान्तर से ५२३) में हुआ। अतएव तदन्तर्गत कोई शास्त्र विक्रम ५२५ के बाद का नहीं हो सकता[४९]। इस मर्यादा को ध्यान में रखकर हमें सामान्यतः आगम की रचना के काल का विचार करना है।

अंग ग्रथ गणधर कृत कहे जाते हैं, किन्तु उनमें सभी एक से प्राचीन नहीं हैं। आचारांग के ही प्रथम और द्वितीय श्रुतस्कंध भाव और भाषा में भिन्न हैं। यह कोई भी देखने वाला कह सकता है। प्रथम श्रुतस्कंध द्वितीय से ही नहीं, किन्तु समस्त जैनवाङ्मय में सबसे प्राचीन अंश है। उसमें परिवर्धन और परिवर्तन सर्वथा नहीं है, यह तो नहीं कहा जा सकता। किन्तु उसमें नया सबसे कम मिलाया गया है, यह तो

---

४७ दशप्रकीर्णक कुछ परिवर्तन के साथ भी गिनाए जाते हैं, देखो केनोनिकल लिटरेचर ओफ जैन्स पृ० ४५–५१.

४८ किसी के मत से ओघनिर्युक्ति भी इसमें समाविष्ट है. कोई पिण्डनिर्युक्ति के स्थान में ओघनिर्युक्ति को मानते हैं.

४९ चतुःशरण और भक्तपरिज्ञा जैसे प्रकीर्णक जिनका उल्लेख नन्दी में नहीं है, वे इसमें अपवाद हैं। ये ग्रन्थ कब आगमान्तर्गत कर लिए गए कहना कठिन है.

निश्चयपूर्वक कहा ही जा सकता है। वह भगवान् के साक्षात् उपदेश रूप न भी हो, तव भी उसके अत्यन्त निकट तो है ही। इस स्थिति में उसे हम विक्रम पूर्व ३०० से वाद की संकलना नहीं कह सकते। अधिक संभव यही है, कि वह प्रथम वाचना की संकलना है। आचारांग का द्वितीय श्रुत स्कन्ध आचार्य भद्रवाहु के वाद की रचना होना चाहिए, क्योंकि उसमें प्रथम श्रुतस्कंध की अपेक्षा भिक्षुओं के नियमोपनियम के वर्णन में विकसित भूमिका की सूचना मिलती है। इसे हम विक्रम पूर्व दूसरी शताब्दी से इधर की रचना नहीं कह सकते। यही वात हम अन्य सभी अंगों के विषय में सामान्यतः कह सकते हैं। किन्तु इसका मतलव यह नहीं है, कि उसमें जो कुछ संकलित है, वह इसी शताब्दी का है। वस्तु तो पुरानी है, जो गणधरों की परम्परा से चली आती थी, उसी को संकलित किया गया। इसका मतलव यह भी नहीं समझना चाहिए, कि विक्रम पूर्व दूसरी शताब्दी के वाद इनमें कुछ नया नहीं जोड़ा गया है। स्थानांग जैसे अंग ग्रन्थों में वीर निर्वाण की छठी शताब्दी की घटना का भी उल्लेख आता है। किन्तु इस प्रकार के कुछ अंशों को छोड़ करके बाकी सव भाव पुराने ही हैं। भाषा में यत्र-तत्र काल की गति और प्राकृत भाषा होने के कारण भाषा-विकास के नियमानुसार परिवर्तन होना अनिवार्य है। क्योंकि प्राचीन समय में इसका पठन-पाठन लिखित ग्रंथों से नहीं किन्तु, कण्ठोपकण्ठ से होता था। प्रश्न व्याकरण अंग का वर्णन जैसा नन्दी सूत्र में है, उसे देखते हुए उपलव्ध प्रश्न व्याकरण अंग समूचा ही वाद की रचना हो, ऐसा प्रतीत होता है। वल-भी वाचना के वाद कव यह अंग नष्ट हो गया और कव उसके स्थान में नया वनाकर जोड़ा गया, इसके जानने का हमारे पास कोई साधन नहीं, इतना ही कहा जा सकता है, कि अभयदेव की टीका, जो कि वि० १२ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में लिखी गई है, से पहले वह कभी का वन चुका था।

अब उपांग के समय के वारे में विचार क्रमप्राप्त है। प्रज्ञापना का रचनाकाल निश्चित ही है। प्रज्ञापन के कर्ता आर्य श्याम हैं। उनका

दूसरा नाम कालकाचार्य (निगोदव्याख्याता) है[५०] इनको वीरनिर्वाण सं० ३३५ में युगप्रधान पद मिला है। और वे उस पद पर ३७६ तक बने रहे। इसी काल की रचना प्रज्ञापना है। अतएव यह रचना विक्रमपूर्व १३५ से ९४ के बीच की होनी चाहिए। शेष उपांगों के कर्ता का कोई पता नहीं। किन्तु इनके कर्ता गणधर तो नहीं माने जाते। अन्य स्थविर माने जाते हैं। ये सब किसी एक ही काल की रचना नहीं हैं।

चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति और जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति इन तीन उपांगों का समावेश दिगम्बरों ने दृष्टिवाद के प्रथम भेद परिकर्म में किया है[५१]। नन्दी सूत्र में भी उनका नामोल्लेख है। अतएव ये ग्रंथ श्वेताम्बर-दिगम्बर के भेद से प्राचीन होने चाहिए। इनका समय विक्रम सं० के प्रारम्भ से इधर नहीं आ सकता। शेष उपांगों के विषय में भी सामान्यतः यही कहा जा सकता है। उपलब्ध चन्द्रप्रज्ञप्ति में और सूर्य प्रज्ञप्ति में कोई विशेष भेद नहीं। अतः संभव है, कि मूल चन्द्रप्रज्ञप्ति विच्छिन्न हो गया हो।

प्रकीर्णकों की रचना के विषय में यही कहा जा सकता है, कि उनकी रचना समय-समय पर हुई है। और अन्तिम मर्यादा वालभी वाचना तक खींची जा सकती है।

छेदसूत्र में दशाश्रुत, बृहत्कल्प और व्यवहार सूत्रों की रचना भद्रबाहु ने की है अतएव उनका समय वीरनिर्वाण संवत् १७० से इधर नहीं हो सकता। विक्रम सं० ३०० के पहले वे बने थे। इनके ऊपर निर्युक्ति भाष्य आदि टीकाएँ बनी हैं। अतएव इन ग्रंथों में परिवर्तन की संभावना नहीं है। निशीथसूत्र तो आचारांग की चूलिका है, अतएव वह भी प्राचीन है। किन्तु जीतकल्प तो आचार्य जिनभद्र की रचना है। जब पञ्चकल्प नष्ट हो गया, तब जीतकल्प, को छेद में स्थान मिला होगा। यह कहने की अपेक्षा यही कहना ठीक होगा, कि वह कल्प-व्यवहार और निशीथ के सारसंग्रहरूप है। इसी आधार पर उसे छेद में

---

[५०] वीरनि० पृ० ६४.

[५१] धवला प्रस्तावना पु० २, पृ० ४३.

स्थान मिला है। महानिशीथ सूत्र जो उपलब्ध है, वह वही है, जिसे आचार्य हरिभद्र ने नष्ट होते बचाया। उसकी वर्तमान संकलना का श्रेय आचार्य हरिभद्र को है। अतएव उसका समय भी वही मानना चाहिए, जो हरिभद्र का है। किन्तु वस्तु तो वास्तव में पुरानी है।

मूलसूत्रों में दशवैकालिक सूत्र आचार्य शय्यम्भव की कृति है। उनको युग-प्रधान पद वीर नि० सं० ७५ में मिला, और वे उस पद पर मृत्यु तक वीर नि० ९८ तक बने रहे। दशवैकालिक की रचना विक्रम पूर्व ३९५ और ३७२ के बीच हुई है। दशवैकालिक सूत्र के विषय में हम इतना कह सकते हैं, कि तद्गत चूलिकाएँ, सम्भव हैं बाद में जोड़ी गई हों। इसके अलावा उसमें कोई परिवर्तन या परिवर्धन हुआ हो यह सम्भव नहीं। उत्तराध्ययन किसी एक आचार्य की कृति नहीं, और न वह एक काल की कृति है। फिर भी उसे विक्रम पूर्व दूसरी या तीसरी शताब्दी का मानने में किसी प्रकार की बाधा नहीं। आवश्यक सूत्र अंग बाह्य होने से गणधरकृत नहीं हो सकता, किन्तु वह समकालीन किसी स्थविर की रचना होनी चाहिए। साधुओं के आचार में नित्योपयोग में आनेवाला यह सूत्र है। अतएव इसकी रचना दशवैकालिक से भी पहले मानना चाहिए। अंगों में जहाँ पठन का जिक्र आता है, वहाँ **सामाइयाइणि एकादसंगाणि**' पढ़ने का जिक्र आता है। इससे प्रतीत होता है कि साधुओंको सर्व प्रथम आवश्यक सूत्र पढ़ाया जाता था। इससे भी यही मानना पड़ता है, कि इसकी रचना विक्रम पूर्व ४७० के पहले हो चुकी थी। पिण्ड निर्युक्ति, यह दशवैकालिक की निर्युक्ति का अंश है। अतएव वह भद्रबाहु द्वितीय की रचना होने के कारण विक्रम पांचवीं छठी शताब्दी की कृति होनी चाहिए।

चूलिका सूत्रोंमें नन्दी सूत्रकी रचना तो देववाचक की है। अतः उसका समय विक्रमकी छठी शताब्दी से पूर्व होना चाहिए। **अनुयोग-द्वारसूत्रके** कर्ता कौन थे यह कहना कठिन है। किन्तु वह आवश्यक सूत्रके बाद बना होगा, क्योंकि उसमें उसी सूत्रका अनुयोग किया गया है। बहुत कुछ संभव है, कि वह आर्य रक्षितके बाद बना हो, या उन्हींने बनाया

हो। उसकी रचनाका काल विक्रमपूर्व तो अवश्य ही है। यह संभव है, कि उसमें परिवर्धन यत्र-तत्र हुआ हो।

आगमों के समय में यहाँ जो चर्चा की है, वह अन्तिम नहीं है। जब प्रत्येक आगम का अन्तर्बाह्य निरीक्षण करके इस चर्चा को परिपूर्ण किया जायगा, तब उनका समयनिर्णय ठीक हो सकेगा। यहाँ तो सामान्य निरूपण करने का प्रयत्न है।

आगमों का विषय[५२] :

जैनागमों में से कुछ तो ऐसे हैं, जो जैन आचार से सम्बन्ध रखते हैं। जैसे—आचारांग, दशवैकालिक आदि। कुछ उपदेशात्मक हैं। जैसे—उत्तराध्ययन, प्रकीर्णक आदि। कुछ तत्कालीन भूगोल और खगोल आदि मान्यताओं का वर्णन करते हैं। जैसे—जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति, सूर्य-प्रज्ञप्ति आदि। छेदसूत्रोंका प्रधान विषय जैनसाधुओंके आचार सम्बन्धी औत्सर्गिक और आपवादिक नियमोंका वर्णन तथा प्रायश्चित्तोंका विधान करना है। कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं, जिनमें जिनमार्गके अनुयायियोंका जीवन दिया गया है। जैसे—उपासकदशांग, अनुत्तरौपपातिक दशा आदि। कुछमें कल्पित कथाएँ देकर उपदेश दिया गया है। जैसे—ज्ञातृधर्म कथा आदि। विपाक में शुभ और अशुभ कर्मका विपाक कथाओं द्वारा बताया गया है। भगवती सूत्रमें भगवान् महावीरके साथ हुए संवादोंका संग्रह है। बौद्धसुत्तपिटक की तरह नाना विषय के प्रश्नोत्तर भगवतीमें संगृहीत हैं।

दर्शनके साथ सम्बन्ध रखने वाले आगम मुख्यरूपसे ये हैं—सूत्रकृत, प्रज्ञापना, राजप्रश्नीय, भगवती, नंदी, स्थानांग, समवायांग और अनुयोग द्वार।

सूत्रकृतमें तत्कालीन अन्य दार्शनिक विचारों का निराकरण करके स्वमतकी प्ररूपणा की गई है। भूतवादियोंका निराकरण करके आत्मा का पृथक् अस्तित्व बतलाया है। ब्रह्मवादके स्थानमें नानात्मवाद स्थिर किया है। जीव और शरीर को पृथक् बताया है। कर्म और उसके फलकी सत्ता

५२ देखो, प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ.

स्थिर की है। जगदुत्पत्ति के विषयमें नानावादोंका निराकरण करके विश्वको किसी ईश्वर या अन्य किसी व्यक्तिने नहीं बनाया, वह तो अनादि-अनन्त है, इस सिद्धान्त की स्थापना की गई है। तत्कालीन क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद और अज्ञानवाद का निराकरण करके विशुद्ध क्रियावाद की स्थापना की गई है।

प्रज्ञापनामें जीवके विविध भावोंको लेकर विस्तारसे विचार किया गया है। राजप्रश्नीयमें पार्श्वनाथकी परम्परामें होने वाले केशी-श्रमण ने श्रावस्तीके राजा पएसीके प्रश्नोंके उत्तरमें नास्तिकवाद का निराकरण करके आत्मा और तत्सम्बन्धी अनेक तथ्यों को दृष्टान्त और युक्तिपूर्वक समझाया है।

भगवतीसूत्र के अनेक प्रश्नोत्तरों में नय, प्रमाण आदि अनेक दार्शनिक विचार बिखरे पड़े हैं।

नन्दीसूत्र जैन दृष्टि से ज्ञानके स्वरूप और भेदोंका विश्लेपण करनेवाली एक सुन्दर एवं सरल कृति है।

स्थानांग और समवायांग की रचना बौद्धोंके अंगुत्तरनिकाय के ढंग की है। इन दोनोंमें भी आत्मा, पुद्गल, ज्ञान, नय और प्रमाण आदि विषयों की चर्चा की गई है। भगवान् महावीर के शासन में होने वाले निह्नवों का उल्लेख स्थानांगमें है। इस प्रकार के सात व्यक्ति बताए गए हैं, जिन्होंने कालक्रमसे भगवान् महावीरके सिद्धांतोंकी भिन्न-भिन्न बातको लेकर अपना मतभेद प्रकट किया था। वे ही निह्नव कहे गए हैं।

अनुयोगमें शब्दार्थ करनेकी प्रक्रियाका वर्णन मुख्य है, किन्तु प्रसङ्गसे उसमें प्रमाण और नय का तथा तत्त्वों का निरूपण भी अच्छे ढंग से हुआ है।

आगमों की टीकाएं[५३] :

इन आगमोंकी टीकाएँ प्राकृत और संस्कृतमें हुई हैं। प्राकृत टीकाएँ निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णिके नामसे लिखी गई हैं। निर्युक्ति

---

[५३] वही.

और भाष्य पद्यमय हैं और चूर्णि गद्यमय हैं,उपलब्ध निर्युक्तियों का अधिकांश भद्रबाहु द्वितीय की रचना हैं। उनका समय विक्रम पांचवीं या छठी शताब्दी है। निर्युक्तियोंमें भद्रबाहुने अनेक स्थलों पर दार्शनिक चर्चाएं बड़े सुन्दर ढंगसे की हैं। विशेषकर बौद्धों तथा चार्वाकोंके विषय में निर्युक्ति में जहाँ कहीं भी अवसर मिला, उन्होंने अवश्य लिखा है। आत्मा का अस्तित्व उन्होंने सिद्ध किया है। ज्ञानका सूक्ष्म निरूपण तथा अहिंसाका तात्त्विक विवेचन किया है। शब्दके अर्थ करनेकी पद्धतिमें तो वे निष्णात थे ही। प्रमाण, नय और निक्षेप के विषय में लिखकर भद्रबाहु ने जैन दर्शनकी भूमिका पक्की की है।

किसी भी विषय की चर्चा का अपने समय तक का पूर्णरूप देखना हो, तो भाष्य देखना चाहिए। भाष्यकारोंमें प्रसिद्ध संघदासगणी और जिनभद्र हैं। इनका समय सातवीं शताब्दी है। जिनभद्रने विशेषावश्यक-भाष्य में आगमिक पदार्थोंका तर्क-संगत विवेचन किया है। प्रमाण, नय और निक्षेप की संपूर्ण चर्चा तो उन्होंने की ही है। इसके अलावा तत्त्वोंका भी तात्त्विक युक्तिसंगत विवेचन उन्होंने किया है। यह कहा जा सकता है, कि दार्शनिक चर्चा का कोई ऐसा विषय नहीं है, जिस पर जिन-भद्रने अपनी कलम न चलाई हो।

बृहत्कल्प भाष्यमें संघदासगणि ने साधुओंके आहार एवं विहार-आदि नियमोंके उत्सर्ग-अपवाद मार्गकी चर्चा दार्शनिक ढंगसे की है। इन्होंने भी प्रसंगानुकूल ज्ञान, प्रमाण, नय और निक्षेप के विषयमें पर्याप्त लिखा है।

लगभग सातवीं-आठवीं शताब्दीकी चूर्णियाँ मिलती हैं। चूर्णि-कारोंमें जिनदास महत्तर प्रसिद्ध हैं। इन्होंने नन्दीकी चूर्णिके अलावा और भी चूर्णियाँ लिखी हैं। चूर्णियों में भाष्यके ही विषयको संक्षेपमें गद्य रूपमें लिखा गया है। जातकके ढंगकी प्राकृत कथाएं इनकी विशेपता है।

जैन आगमों की सबसे प्राचीन संस्कृत टीका आचार्य हरिभद्र ने की है। उनका समय वि० ७५७ से ८५७ के बीचका है। हरिभद्र ने

प्राकृत चूर्णियोंका प्रायः संस्कृतमें अनुवाद ही किया है। यत्र-तत्र अपने दार्शनिक ज्ञानका उपयोग करना भी उन्होंने उचित समझा है। इसलिए हम उनकी टीकाओंमें सभी दर्शनोंकी पूर्वपक्ष रूपसे चर्चा पाते हैं। इतना ही नहीं, किन्तु जैनतत्त्वको दार्शनिक ज्ञान के बल से सुनिश्चितरूपमें स्थिर करने का प्रयत्न भी देखते हैं।

हरिभद्र के बाद शीलांकसूरि ने दशवीं शताब्दी में संस्कृतटीकाओं की रचना की। शीलांकके बाद प्रसिद्ध टीकाकार शान्त्याचार्य हुए। उन्होंने उत्तराध्ययनकी बृहत्टीका लिखी है। इसके बाद प्रसिद्ध टीकाकार अभयदेव हुए, जिन्होंने नव अंगों पर संस्कृतमें टीकाएँ रचीं। उनका जन्म वि० १०७२ में और स्वर्गवास विक्रम ११३५ में हुआ है। इन दोनों टीकाकारोंने पूर्व टीकाओंका पूरा उपयोग तो किया ही है, अपनी ओर से यत्र-तत्र नयी दार्शनिक चर्चा भी की है।

यहाँ पर मलधारी हेमचन्द्रका भी नाम उल्लेखनीय है। वे बारहवीं शताब्दीके विद्वान् थे। किन्तु आगमोंकी संस्कृत टीका करने वालोंमें सर्वश्रेष्ठ स्थान तो आचार्य मलयगिरिका ही है। प्राञ्जल भाषामें दार्शनिक चर्चासे प्रचुर टीकाएँ यदि देखना हो, तो मलयगिरिको टीकाएँ देखनी चाहिए। उनकी टीका पढ़नेमें शुद्ध दार्शनिक ग्रन्थ पढ़नेका आनन्द आता है। जैनशास्त्रके कर्म, आचार, भूगोल, खगोल आदि सभी विषयोंमें उनकी कलम धारा-प्रवाहसे चलती है और विषयको इतना स्पष्ट करके रखती है, कि फिर उस विषयमें दूसरा कुछ देखने की अपेक्षा नहीं रहती। जैसे वैदिक परम्परामें वाचस्पति मिश्रने जो भी दर्शन लिया, तन्मय होकर उसे लिखा, उसी प्रकार जैन परम्परामें मलयगिरिने भी किया है। वे आचार्य हेमचन्द्रके समकालीन थे। अतएव उन्हें बारहवीं शताब्दीका विद्वान मानना चाहिए।

संस्कृत-प्राकृत टीकाओंका परिमाण इतना बड़ा था, और विषयोंकी चर्चा इतनी गहन-गहनतर होगई थी, कि बादमें यह आवश्यक समझा गया, कि आगमोंकी शब्दार्थ करनेवाली संक्षिप्त टीकाएँ की जाएँ। समयकी गतिने संस्कृत और प्राकृत भाषाओंको बोलचालकी भाषासे

हटाकर मात्र साहित्यिक भाषा बना दिया था। तब तत्कालीन अपभ्रंश अर्थात् प्राचीन गुजराती भाषा में बालावबोधों की रचना हुई। इन्हें 'टबा' कहते हैं। ऐसे बालावबोधों की रचना करनेवाले अनेक हुए हैं, किन्तु १८वीं सदीमें होने वाले लोंकागच्छके धर्मसिंह मुनि विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं। क्योंकि इनकी दृष्टि प्राचीन टीकाओं के अर्थ को छोड़कर कहीं-कहीं स्वसंप्रदाय संमत अर्थ करने की भी रही है।

आगम साहित्य की यह बहुत ही संक्षिप्त रूप-रेखा प्रस्तुत की गई है। फिर भी इसमें आगमों के विषय में मुख्य-मुख्य तथ्यों का वर्णन कर दिया गया है, जिससे कि आगे चल कर आगमों के गुरु गम्भीर दार्शनिक सत्य एवं तथ्य को समझने में सुगमता हो सकेगी। इससे दूसरा लाभ यह भी होगा, कि अध्येता आगमों के ऐतिहासिक मूल्यों के महत्त्व को हृदयंगम कर सकेंगे और उनके दार्शनिक सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि को भलीभाँति समझ सकेंगे।

दर्शन का विकास-क्रम :

जैन दर्शनशास्त्र के विकास-क्रम को चार युगों में[५४] विभक्त किया जा सकता है। १. आगम-युग २. अनेकान्तस्थापन-युग ३. प्रमाण-शास्त्रव्यवस्था-युग ४. नवीनन्याय-युग।

युगों के लक्षण युगों के नाम से ही स्पष्ट हैं। कालमर्यादा इस प्रकार रखी जा सकती है—आगम-युग भगवान महावीर के निर्वाण से लेकर करीब एक हजार वर्ष का है (वि० पू० ४७०-वि० ५००), दूसरा वि० पाँचवीं से आठवीं शताब्दी तक; तीसरा आठवीं से सत्रहवीं तक, और चौथा अठारहवीं से आधुनिक समय पर्यन्त। इन सभी युगों की विशेषताओं का मैंने अन्यत्र संक्षिप्त विवेचन किया है[५५]। दूसरे, तीसरे और चौथे युग की दार्शनिक संपत्ति के विषय में पूज्य पण्डित सुखलालजी, पं० कैलाशचन्द्रजी, पं० महेन्द्रकुमारजी आदि विद्वानों ने

---

[५४] प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ में मेरा लेख पृ० ३०३, तथा जैन संस्कृति-संशोधन मंडल पत्रिका १.

[५५] वही.

पर्याप्त मात्रा में प्रकाश डाला है, किन्तु आगम-युग के साहित्य में जैन दर्शन के प्रमेय और प्रमाण तत्त्व के विषय में क्या क्या मन्तव्य हैं, उनका संकलन पर्याप्त मात्रा में नहीं हुआ है। अतएव यहाँ जैन आगमों के आधार से उन दो तत्त्वों का संकलन करने का प्रयत्न किया जाता है। यह होने से ही अनेकान्त-युग के और प्रमाणशास्त्र व्यवस्था-युग के विविध प्रवाहों का उद्गम क्या है, आगम में वह है कि नहीं, है तो कैसा है यह स्पष्ट होगा। इतना ही नहीं, बल्कि जैन आचार्यों ने मूल तत्त्वों का कैसा पल्लवन और विकसन किया तथा किन नवीन तत्त्वों को तत्कालीन दार्शनिक विचार-धारा में से अपना कर अपने तत्त्वों को व्यवस्थित किया, यह भी स्पष्ट हो सकेगा।

आगम-युग के दार्शनिक तत्त्वों के विवेचन में मैंने श्वेताम्बर प्रसिद्ध मूल आगमों का ही उपयोग किया है। दिगम्बरों के मूल षट्खण्डागम आदि का उपयोग मैंने नहीं किया। उन शास्त्रों का दर्शन के साथ अधिक सम्बन्ध नहीं है। उन ग्रन्थों में जैन कर्म-तत्त्व का ही विशेष विवरण है। श्वेताम्बरों के निर्युक्ति आदि टीकाग्रन्थों का कहीं-कहीं स्पष्टीकरण के लिए उपयोग किया है, किन्तु जो मूल में न हो, ऐसी निर्युक्ति आदि की बातों को प्रस्तुत आगम युग के दर्शन तत्त्व के निरूपण में स्थान नहीं दिया है। इसका कारण यह है, कि हम आगम साहित्य के दो विभाग कर सकते हैं। एक मूल शास्त्र का तथा दूसरा टीका-निर्युक्ति भाष्य-चूर्णिका। प्रस्तुत में मूल का ही विवेचन अभीष्ट है। उपलब्ध निर्युक्तियों से यह प्रतीत होता है, कि उनमें प्राचीन निर्युक्तियाँ समाविष्ट कर दी गई हैं। किन्तु सर्वत्र यह बताना कठिन है कि कितना अंग मूल प्राचीन निर्युक्ति का है और कितना अंग भद्रबाहु का है। अतएव निर्युक्ति का अध्ययन किसी अन्य अवसर के लिए स्थगित रख कर प्रस्तुत में मूल आगम में विशेष कर अंग, उपांग और नन्दी-अनुयोग के आधार पर चर्चा की जायगी।

**
**

प्रमेय-खण्ड

दो

भगवान् महावीर से पूर्व की स्थितिः

वेद से उपनिषद् पर्यन्त—विश्व के स्वरूप के विषय में नाना प्रकार के प्रश्न[1] और उन प्रश्नों का समाधान यह विविध प्रकार से प्राचीन काल से होता आया है। इस बात का साक्षी ऋग्वेद से लेकर उपनिषद् और बाद का समस्त दार्शनिक सूत्र और टीका-साहित्य है।

ऋग्वेद का दीर्घतमा ऋषि विश्व के मूल कारण और स्वरूप की खोज में लीन होकर प्रश्न[2] करता है कि इस विश्व की उत्पत्ति कैसे हुई है, इसे कौन जानता है? है कोई ऐसा जो जानकार से पूछ कर इसका पता लगावे? वह फिर कहता है कि[3] मैं तो नहीं जानता किन्तु खोज में इधर-उधर विचरता हूँ तो वचन के द्वारा सत्य के दर्शन होते हैं। खोज करते दीर्घतमा ने अन्त में कह दिया कि[4]—**"एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति"**। सत् तो एक ही है किन्तु विद्वान् उसका वर्णन कई प्रकार से करते हैं। अर्थात् एक ही तत्त्व के विषय में नाना प्रकार के वचन प्रयोग देखे जाते हैं।

दीर्घतमा के इस उद्गार में ही मनुष्य-स्वभाव की उस विशेषता का हमें स्पष्ट दर्शन होता है, जिसे हम समन्वयशीलता कहते हैं। इसी समन्वयशीलता का शास्त्रीय रूप जैनदर्शन-सम्मत स्याद्वाद या अनेकान्तवाद है।

---

[1] ऋग्वेद १०.५,२७,८८,१२९ इत्यादि। तैत्तिरीयोपनिषद् ३.१.। श्वेता० १.१.

[2] ऋग्वेद १.१६४.४.

[3] ऋग्वेद १.१६४.३७.

[4] ऋग्वेद १.१६४.४६.

नासदीय सूक्त का[५] ऋषि जगत् के आदि कारणरूप उस परम गंभीर तत्त्व को जब न सत् कहना चाहता है और न असत्, तब यह नहीं समझना चाहिए कि वह ऋषि अज्ञानी या संशयवादी था, किन्तु इतना ही समझना चाहिए कि ऋषि के पास उस परम तत्त्व के प्रकाशन के लिए उपयुक्त शब्द न थे। शब्द की इतनी शक्ति नहीं है कि वह परम तत्त्व को संपूर्ण रूप में प्रकाशित कर सके। इसलिए ऋषि ने कह दिया कि उस समय न सत् था न असत्। शब्द-शक्ति की इस मर्यादा के स्वीकार में से ही स्याद्वाद का और अस्वीकार में से ही एकान्त वादों का जन्म होता है।

विश्व के कारण की जिज्ञासा में से अनेक विरोधी मतवाद उत्पन्न हुए, जिनका निर्देश उपनिषदों में हुआ है। जिसको सोचते-सोचते जो सूझ पड़ा, उसे उसने लोगों में कहना शुरू किया। इस प्रकार मतों का एक जाल बन गया। जैसे एक ही पहाड़ में से अनेक दिशाओं में नदियाँ बहती हैं, उसी प्रकार एक ही प्रश्न में से अनेक मतों की नदियाँ बहने लगीं। और ज्यों-ज्यों वह देश और काल में आगे बढ़ीं त्यों-त्यों विस्तार बढ़ता गया। किन्तु वे नदियाँ जैसे एक ही समुद्र में जा मिलती हैं, उसी प्रकार सभी मतवादियों का समन्वय महासमुद्ररूप[६] स्याद्वाद या अनेकान्तवाद में हो गया है।

विश्व का मूल कारण क्या है? वह सत् है या असत्? सत् है तो पुरुष है या पुरुषेतर—जल, वायु, अग्नि, आकाश आदि में से कोई एक? इन प्रश्नों का उत्तर उपनिषदों के ऋषियों ने अपनी-अपनी प्रतिभा के बल से दिया है[७]। और इस विषय में नाना मतवादों की सृष्टि खड़ी कर दी है।

---

[५] ऋग्वेद १०.१२९.

[६] "उदधाविव सर्वसिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि नाथ दृष्टयः।
न च तासु भवान् प्रदृश्यते प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः।"
—सिद्धसेनद्वात्रिंशिका ४.१५.

[७] Constructive Survey of Upanishads, p. 73

किसी के मत से असत् से ही सत् की उत्पत्ति हुई है[८]। कोई कहता है[९]–प्रारम्भ में मृत्यु का ही साम्राज्य था, अन्य कुछ भी नहीं था। उसी में से सृष्टि हुई। इस कथन में भी एक रूपक के जरिये असत् से सत् की उत्पत्ति का ही स्वीकार है। किसी ऋषि के मत से सत् से असत् हुआ और वही अण्ड वन कर सृष्टि का उत्पादक हुआ[१०]।

इन मतों के विपरीत सत्कारणवादियों का कहना है कि असत् से सत् की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? सर्व प्रथम एक और अद्वितीय सत् ही था। उसी ने सोचा मैं अनेक होऊँ। तव क्रमशः सृष्टि की उत्पत्ति हुई है[११]।

सत्कारणवादियों में भी ऐकमत्य नहीं। किसी ने जल को, किसी ने वायु को, किसी ने अग्नि को, किसी ने आकाश को और किसी ने प्राण को विश्व का मूल कारण माना है।[१२]

इन सभी वादों का सामान्य तत्त्व यह है कि विश्व के मूल कारणरूप से कोई आत्मा या पुरुप नहीं है। किन्तु इन सभी वादों के विरुद्ध अन्य ऋपियों का मत है कि इन जड़ तत्त्वों में से सृष्टि उत्पन्न हो नहीं सकती, सर्वोत्पत्ति के मूल में कोई चेतन तत्त्व कर्ता होना चाहिए।

---

[८] "असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत"।—तैत्तिरी० २.७

[९] "नैवेह किंचनाग्र आसीन्मृत्युनैवेदमावृतमासीत्".—बृहदा० १.२.१

[१०] आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः। तस्योपव्यानम्। असदेवेदमग्र आसीत्। तत् सदासीत्। तत् समभवत्। तदाण्डं निरवर्तत।" छान्दो० ३.१६.१

[११] "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। तस्मादसतः सज्जायत। कुतस्तु खलु सोम्य एवं स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेतेति। सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्। तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति"—छान्दो० ६.२.

[१२] बृहदा० ५.५.१. छान्दो० ४.३. कठो० २.५.६. छान्दो० १.६.१. । १.११.५. । ४.३.३. । ७.१२.१.

पिप्पलाद ऋषि के मत से प्रजापति से सृष्टि हुई है[१३]। किन्तु बृहदारण्यक में आत्मा को मूल कारण मानकर उसी में से स्त्री और पुरुष की उत्पत्ति के द्वारा क्रमशः संपूर्ण विश्व की सृष्टि मानी गई है[१४]। ऐतरेयोपनिषद् में भी सृष्टिक्रम में भेद होने पर भी मूल कारण तो आत्मा ही माना गया है[१५]। यही बात तैत्तिरीयोपनिषद् के विषय में भी कही जा सकती है[१६]। किन्तु इसकी विशेषता यह है कि आत्मा को उत्पत्ति का कर्त्ता नहीं, बल्कि कारण मात्र माना गया है। अर्थात् अन्यत्र स्पष्ट रूप से आत्मा या प्रजापति में सृष्टिकर्तृत्व का आरोप है, जब कि इसमें आत्मा को केवल मूल कारण मानकर पंचभूतों की संभूति उस आत्मा से हुई है, इतना ही प्रतिपाद्य है। मुण्डकोपनिषद् में जड़ और चेतन सभी की उत्पत्ति दिव्य, अमूर्त्त और अज ऐसे पुरुष से मानी गई है[१७]। यहाँ भी उसे कर्त्ता नहीं कहा। किन्तु श्वेताश्वतरोपनिषद् में विश्वाधिप देवाधिदेव रुद्र ईश्वर को ही जगत्कर्त्ता माना गया है और उसी को मूल कारण भी कहा गया है[१८]।

उपनिषदों के इन वादों को संक्षेप में कहना हो तो कहा जा सकता है कि किसी के मत से असत् से सत् की उत्पत्ति होती है, किसी के मत से विश्व का मूल तत्त्व सत् है, किसी के मत से वह सत् जड़ है और किसी के मत में वह तत्त्व चेतन है।

एक दूसरी दृष्टि से भी कारण का विचार प्राचीन काल में होता था। उसका पता हमें श्वेताश्वतरोपनिषद् से चलता है। उसमें ईश्वर को ही परम तत्त्व और आदि कारण सिद्ध करने के लिए जिन

---

[१३] प्रश्नो० १.३-१-३.
[१४] बृहदा० १.४.१-४.
[१५] ऐतरेय १.१-३.
[१६] तैत्तिरी० २.१.
[१७] मुण्ड० २.१.२-६.
[१८] श्वेता० ३.२। ६.६.

अन्य मतों का निराकरण किया गया है वे ये हैं[१९]—१ काल, २ स्वभाव, ३ नियति, ४ यदृच्छा, ५ भूत, ६ पुरुष, ७ इन सभी का संयोग, ८ आत्मा।

उपनिषदों में इन नाना वादों का निर्देश है। अतएव उस समय-पर्यन्त इन वादों का अस्तित्व था ही, इस बात को स्वीकार करते हुए भी प्रो० रानडे का कहना है कि[२०] उपनिषद्कालीन दार्शनिकों की दर्शन क्षेत्र में जो विशिष्ट देन है, वह तो आत्मवाद है।

अन्य सभी वादों के होते हुए भी जिस वाद ने आगे की पीढ़ी के ऊपर अपना असर कायम रखा और जो उपनिषदों का विशेष तत्त्व समझा जाने लगा, वह तो आत्मवाद ही है। उपनिषदों के ऋषि अन्त में इसी नतीजे पर पहुँचे कि विश्व का मूल कारण या परम तत्त्व आत्मा ही है। परमेश्वर को भी, जो संसार का आदि कारण है, श्वेताश्वतर में 'आत्मस्थ' देखने को कहा है—

"तमात्मस्थं येनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्" ६.१२.

छान्दोग्य का निम्न वाक्य देखिए—

"अथातः आत्मादेशः आत्मैवाधस्तात्, आत्मोपरिष्टात्, आत्मा पश्चात्, आत्मा पुरस्तात्, आत्मा दक्षिणतः, आत्मोत्तरतः आत्मैवेदं सर्वमिति। स वा एष एवं पश्यन् एवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति।" छान्दो० ७.२५।

बृहदारण्यक में उपदेश दिया गया है कि—

"न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्।" २.४.५।

उपनिषदों का ब्रह्म और आत्मा भिन्न नहीं, किन्तु आत्मा ही ब्रह्म है—'अयमात्मा ब्रह्म'—बृहदा २.५.१९.

इस प्रकार उपनिषदों का तात्पर्य आत्मवाद में है, ऐसा जो कहा है, वह उस काल के दार्शनिकों का उस वाद के प्रति जो विशेष पक्षपात

---

[१९] "कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्। संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः॥"—श्वेता० १.२.

[२०] Constructive Survey of Upanishadas ch. V. P. 246.

था, उसी को लक्ष्य में रखकर है। परम तत्त्व आत्मा या ब्रह्म को उपनिषदों के ऋषियों ने शाश्वत, सनातन, नित्य, अजन्य, ध्रुव माना है।[२१]

इसी आत्म-तत्त्व या ब्रह्म-तत्त्व को जड़ और चेतन जगत् का उपादान कारण, निमित्त कारण या अधिष्ठान मान कर दार्शनिकों ने केवलाद्वैत. विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत या शुद्धाद्वैत का समर्थन किया है। इन सभी वादों के अनुकूल वाक्यों की उपलब्धि उपनिषदों में होती है। अतः इन सभी वादों के बीज उपनिषदों में हैं, ऐसा मानना युक्तिसंगत ही है।[२२]

उपनिषत्काल में कुछ लोग महाभूतों से आत्मा का समुत्थान और महाभूतों में ही आत्मा का लय मानने वाले थे, किन्तु उपनिषत्-कालीन आत्मवाद के प्रचण्ड प्रवाह में उस वाद का कोई खास मूल्य नहीं रह गया। इस बात की प्रतीति बृहदारण्यकनिर्दिष्ट याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी के संवाद से हो जाती है। मैत्रेयी के सामने जब याज्ञवल्क्य ने भूतवाद की चर्चा छेड़ कर कहा कि "विज्ञानघन इन भूतों से ही समुत्थित होकर इन्हीं में लीन हो जाता है, परलोक या पुनर्जन्म जैसी कोई बात नहीं है"[२३] तब मैत्रेयी ने कहा कि ऐसी बात कह कर हमें मोह में मत डालो। इससे स्पष्ट है कि आत्मवाद के सामने भूतवाद का कोई मूल्य नहीं रह गया था।

प्राचीन उपनिषदों का काल प्रो० रानडे ने ई० पू० १२०० से ६०० तक का माना है[२४] यह काल भगवान् महावीर और बुद्ध के पहले का है। अतः हम कह सकते हैं कि उन दोनों महापुरुषों के पहले भारतीय दर्शन की स्थिति जानने का साधन उपनिषदों से बढ़कर अन्य कुछ हो नहीं सकता। अतएव हमने ऊपर उपनिषदों के आधार से ही

---

[२१] कठो० १.२.१८. २.६.१. १.३.१५. २.४.२. २.१५. मुण्डको० १.६. इत्यादि।

[२२] Constru. p. 205—232.

[२३] "विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञा अस्तीत्यरे ब्रवीमीति होवाच याज्ञवल्क्यः।" बृहदा० २.४.१२.

[२४] Constru. p. 13

भारतीय दर्शनों की स्थिति पर कुछ प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। उस प्रकाश के आधार पर यदि हम जैन और बौद्ध दर्शन के मूल तत्त्वों का विश्लेषण करें, तो दार्शनिक क्षेत्र में जैन और बौद्ध शास्त्र की क्या देन है, यह सहज ही में विदित हो सकता है। प्रस्तुत में विशेषतः जैन तत्त्वज्ञान के विषय में ही कहना इष्ट है, इस कारण बौद्ध दर्शन के तत्त्वों का उल्लेख तुलना की दृष्टि से प्रसंगवश ही किया जायगा और मुख्यतः जैन दर्शन के मौलिक तत्त्व की विवेचना की जायगी।

भगवान् बुद्ध का अनात्मवादः

भगवान् महावीर और बुद्ध के निर्वाण के विषय में जैन-बौद्ध अनुश्रुतियों को यदि प्रमाण माना जाय, तो फलित यह होता है कि भगवान् बुद्ध का निर्वाण ई० पू० ५४४ में हुआ था। अतएव उन्होंने अपनी इहजीवन-लीला भगवान् महावीर से पहले समाप्त की थी और उन्होंने उपदेश भी भगवान् के पहले ही देना शुरू किया था। यही कारण है कि वे पार्श्व-परंपरा के चातुर्याम का उल्लेख करते हैं। उपनिषत्कालीन आत्मवाद की बाढ़ को भगवान् बुद्ध ने अनात्मवाद का उपदेश देकर मंद किया। जितने वेग से आत्मवाद का प्रचार हुआ और सभी तत्त्व के मूल में एक परम तत्त्व शाश्वत आत्मा को ही माना जाने लगा, उतने ही वेग से भगवान् बुद्ध ने उस वाद की जड़ काटने का प्रयत्न किया। भगवान् बुद्ध विभज्यवादी थे। अतएव उन्होंने रूप आदि ज्ञान वस्तुओं को एक-एक करके अनात्म सिद्ध किया। उनके तर्क का क्रम यह है—

[२५] क्या रूप अनित्य है या नित्य ?

अनित्य।

जो अनित्य है वह सुख है या दुःख ?

दुःख।

जो चीज अनित्य है, दुःख है, विपरिणामी है, क्या उसके विषय

---

[२५] संयुत्तनिकाय XII. 70. 32-37

में इस प्रकार के विकल्प करना ठीक है कि—यह मेरा है, यह मैं हूँ, यह मेरी आत्मा है ?

नहीं ।

इसी क्रम से वेदना,[२६] संज्ञा, संस्कार और विज्ञान के विषय में भी प्रश्न करके भगवान् बुद्ध ने अनात्मवाद को स्थिर किया है । इसी[२७] प्रकार चक्षुरादि इन्द्रियाँ, उनके विषय, तज्जन्य विज्ञान, मन, मानसिक धर्म और मनोविज्ञान इन सबको भी अनात्म सिद्ध किया है ।

कोई भगवान् बुद्ध से पूछता कि जरा-मरण क्या है और किसे होता है, जाति क्या है और किसे होती है, भव क्या है और किसे होता है ? तो तुरन्त ही वे उत्तर देते कि ये प्रश्न ठीक नहीं । क्यों कि प्रश्नकर्त्ता इन सभी प्रश्नों में ऐसा मान लेता है कि जरा आदि अन्य हैं और जिसको ये जरा आदि होते हैं, वह अन्य हैं । अर्थात् शरीर अन्य है और आत्मा अन्य है । किन्तु ऐसा मानने पर ब्रह्मचर्यवास—धर्माचरण संगत नहीं । अतएव भगवान् बुद्ध का कहना है कि प्रश्न का आकार ऐसा होना चाहिए—जरा कैसे होती है ? जरा-मरण कैसे होता है ? जाति कैसे होती है ? भव कैसे होता है ? तब भगवान् बुद्ध का उत्तर है कि ये सब प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं । मध्यम मार्ग का अवलंबन लेकर भगवान् बुद्ध समझाते हैं कि शरीर ही आत्मा है, ऐसा मानना एक अन्त है और शरीर से भिन्न आत्मा है, ऐसा मानना दूसरा अन्त है । किन्तु मैं इन दोनों अन्तों को छोड़कर मध्यम मार्ग से उपदेश देता हूँ कि—

अविद्या के होने से संस्कार, संस्कार के होने से विज्ञान, विज्ञान के होने से नाम-रूप, नाम-रूप के होने से छह आयतन, छह आयतनों के होने से स्पर्श, स्पर्श के होने से वेदना, वेदना के होने से तृष्णा, तृष्णा के होने से उपादान, उपादान के होने से भव, भव के होने से जाति—जन्म, जन्म के होने से जरा-मरण है । यही प्रतीत्यसमुत्पाद है[२८] ।

---

[२६] दीघनिकाय महानिदानसुत्त १५.

[२७] मज्झिमनिकाय छक्ककसुत्त १४८.

[२८] संयुत्तनिकाय XII. 35. अंगुत्तरनिकाय ३.

आनन्द ने एक प्रश्न भगवान् बुद्ध से किया कि आप बारबार लोक शून्य है, ऐसा कहते हैं। इसका तात्पर्य क्या है? बुद्ध ने जो उत्तर दिया उसी से बौद्ध दर्शन की अनात्मविषयक मौलिक मान्यता व्यक्त होती है:—

"यस्मा च खो आनन्द सुञ्ञं अत्तेन वा अत्तनियेन वा तस्मा सुञ्ञो लोको ति वुच्चति। किं च आनन्द सुञ्ञं अत्तेन वा अत्तनियेन वा? चक्खुं खो आनन्द सुञ्ञं अत्तेन वा अत्तनियेन वा·······रूपं·······रूपविञ्ञाणं·······"इत्यादि।—संयुत्तनिकाय XXXV.85.

भगवान् बुद्ध के अनात्मवाद का तात्पर्य क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में इतना स्पष्ट करना आवश्यक है कि ऊपर की चर्चा से इतना तो भलीभाँति ध्यान में आता है कि भगवान् बुद्ध को सिर्फ शरीरात्मवाद ही अमान्य है, इतना ही नहीं बल्कि सर्वान्तर्यामी नित्य, ध्रुव, शाश्वत ऐसा आत्मवाद भी अमान्य है। उनके मत में न तो आत्मा शरीर से अत्यन्त भिन्न ही है और न आत्मा शरीर से अभिन्न ही। उनको चार्वाकसम्मत भौतिकवाद भी एकान्त प्रतीत होता है और उपनिषदों का कूटस्थ आत्मवाद भी एकान्त प्रतीत होता है। उनका मार्ग तो मध्यम मार्ग है। प्रतीत्यसमुत्पादवाद है।

वही अपरिवर्तिष्णु आत्मा मर कर पुनर्जन्म लेती है और संसरण करती है ऐसा मानने पर शाश्वतवाद[२९] होता है और यदि ऐसा माना जाए कि माता-पिता के संयोग से चार महाभूतों से आत्मा उत्पन्न होती है और इसी लिए शरीर के नष्ट होते ही आत्मा भी उच्छिन्न, विनष्ट और लुप्त होती है, तो यह उच्छेदवाद है[२९]।

तथागत बुद्ध ने शाश्वतवाद और उच्छेदवाद दोनों को छोड़कर[३०] मध्यम मार्ग का उपदेश दिया है। भगवान बुद्ध के इस अशाश्वतानुच्छेदवाद का स्पष्टीकरण निम्न संवाद से होता है—

---

[२९] दीघनिकाय-ब्रह्मजालसुत्त।

[३०] संयुत्तनिकाय XII. 17.

'क्या भगवन् गौतम ! दुःख स्वकृत है ?'

'काश्यप ! ऐसा नहीं है।'

'क्या दुःख परकृत है ?'

'नहीं।'

'क्या दुःख स्वकृत और परकृत है ?'

नहीं।'

'क्या अस्वकृत और अपरकृत दुःख है ?'

'नहीं।'

'तब क्या है ? आप तो सभी प्रश्नों का उत्तर नकार में देते हैं, ऐसा क्यों ?'

'दुःख स्वकृत है ऐसा कहने का अर्थ होता है कि जिसने किया वही भोग करता है। किन्तु ऐसा कहने पर शाश्वतवाद का अवलंबन होता है। और यदि ऐसा कहूँ कि दुःख परकृत है तो इसका मतलब यह होगा कि किया किसी दूसरे ने और भोग करता है कोई अन्य। ऐसी स्थिति में उच्छेदवाद आ जाता है। अतएव तथागत उच्छेदवाद और शाश्वत-वाद इन दोनों अन्तों को छोड़कर मध्यम मार्ग का—प्रतीत्यसमुत्पाद का उपदेश देते हैं कि अविद्या से संस्कार होता है, संस्कार से विज्ञान······ स्पर्श से दुःख······इत्यादि"—संयुत्तनिकाय XII 17. XII 24

तात्पर्य यह है कि संसार में सुख-दुःख आदि अवस्थाएँ हैं, कर्म है, जन्म है, मरण है, बन्ध है, मुक्ति है—ये सब होते हुए भी इनका कोई स्थिर आधार आत्मा हो, ऐसी बात नहीं है, परन्तु ये अवस्थाएँ पूर्व-पूर्व कारण से उत्तर-उत्तर काल में होती हैं और एक नये कार्य को, एक नई अवस्था को उत्पन्न करके नष्ट हो जाती हैं। इस प्रकार संसार का चक्र चलता रहता है। पूर्व का सर्वथा उच्छेद भी इष्ट नहीं और ध्रौव्य भी इष्ट नहीं। उत्तर पूर्व से सर्वथा असंबद्ध हो, अपूर्व हो, यह बात भी नहीं किन्तु पूर्व के अस्तित्व के कारण ही उत्तर होता है। पूर्व की सारी शक्ति उत्तर में आ जाती है। पूर्व का सब संस्कार उत्तर को मिल जाता

है। अतएव पूर्व अव उत्तर रूप में अस्तित्व में है। उत्तर पूर्व से सर्वथा भिन्न भी नहीं, अभिन्न भी नहीं। किन्तु अव्याकृत है। क्यों कि भिन्न कहने पर उच्छेदवाद होता है और अभिन्न कहने पर शाश्वतवाद होता है। भगवान् बुद्ध को ये दोनों वाद मान्य न थे. अतएव ऐसे प्रश्नों का उन्होंने अव्याकृत[31] कह कर उत्तर दिया है।

इस संसार-चक्र को काटने का उपाय यही है कि पूर्व का निरोध करना। कारण के निरुद्ध हो जाने से कार्य उत्पन्न नहीं होगा। अर्थात् अविद्या के निरोध से······तृष्णा के निरोध से उपादान का निरोध, उपादान के निरोध से भव का निरोध, भव के निरोध से जन्म का निरोध, जन्म के निरोध से मरण का निरोध हो जाता है।

किन्तु यहाँ एक प्रश्न होता है कि मरणानन्तर तथागत बुद्ध का क्या होता है? इस प्रश्न का उत्तर भी अव्याकृत है। वह इसलिए कि यदि यह कहा जाए कि मरणोत्तर तथागत होता है, तो शाश्वतवाद का और यदि यह कहा जाए कि नहीं होता, तो उच्छेदवाद का प्रसंग आता है। अतएव इन दोनों वादों का निषेध करने के लिए भगवान् बुद्ध ने तथागत को मरणोत्तरदशा में अव्याकृत कहा है। जैसे गंगा की बालू का नाप नहीं, जैसे समुद्र के पानी का नाप नहीं, इसी प्रकार मरणोत्तर तथागत भी गंभीर है, अतएव अव्याकृत है। जिस रूप, वेदना, संज्ञा, आदि के कारण तथागत की प्रज्ञापना होती थी, वह रूपादि तो प्रहीण हो गए। अब तथागत की प्रज्ञापना का कोई साधन नहीं बचता, इसलिए वे अव्याकृत हैं[32]।

इस प्रकार जैसे उपनिषदों में आत्मवाद की पराकाष्ठा के समय आत्मा या ब्रह्म को 'नेति-नेति' के द्वारा अवक्तव्य प्रतिपादित किया गया है, उसे सभी विशेषणों से पर बताया जाता है[33] ठीक उसी प्रकार

---

[31] संयुक्तनिकाय XLIV 1, 7 and 8.

[32] संयुत्तनिकाय XLIV.

[33] "अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः।"—माण्डु० ६.७. "स एष नेति नेति इत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यते।"—बृहदा० ४.५.१५. इत्यादि Constru. p. 219.

तथागत बुद्ध ने भी आत्मा के विषय में उपनिषदों से बिल्कुल उलटी राह लेकर भी उसे अव्याकृत माना है। जैसे उपनिषदों में परम तत्त्व को अवक्तव्य मानते हुए भी अनेक प्रकार से आत्मा का वर्णन हुआ है और वह व्यावहारिक माना गया है, उसी प्रकार भगवान् बुद्ध ने भी कहा है, कि लोक-संज्ञा, लोक-निरुक्ति, लोक-व्यवहार, लोक-प्रज्ञप्ति का आश्रय करके कहा जा सकता है कि "मैं पहले था, 'नहीं था' ऐसा नहीं, मैं भविष्य में होऊँगा, 'नहीं होऊँगा' ऐसा नहीं, मैं अब हूँ, 'नहीं हूँ' ऐसा नहीं।" तथागत ऐसी भाषा का व्यवहार करते हैं, किन्तु इसमें फँसते नहीं[३४]।

जैन तत्त्वविचार की प्राचीनता :

इतनी वैदिक और बौद्ध दार्शनिक पूर्वभूमिका के आधार पर जैन-दर्शन की आगम-वर्णित भूमिका के विषय में विचार किया जाए तो जो उचित ही होगा। जैन-आगमों में जो तत्त्व विचार है, वह तत्कालीन दार्शनिक विचार की भूमिका से सर्वथा अछूता रहा होगा, इस बात को अस्वीकार करते हुए भी जैन अनुश्रुति के आधार पर इतना तो कहा जा सकता है कि जैन आगम-वर्णित तत्त्व-विचार का मूल भगवान् महावीर के समय से भी पुराना है। जैन अनुश्रुति के अनुसार भगवान् महावीर ने किसी नये तत्त्व-दर्शन का प्रचार नहीं किया है, किन्तु उनसे २५० वर्ष पहले होने वाले तीर्थंकर पार्श्वनाथ के तत्त्वविचार का ही प्रचार किया है। पार्श्वनाथ-सम्मत आचार में तो भगवान् महावीर ने कुछ परिवर्तन किया है जिसकी साक्षी स्वयं आगम दे रहे हैं, किन्तु पार्श्वनाथ के तत्त्व-ज्ञान से उनका कोई मतभेद जैन अनुश्रुति में बताया गया नहीं है। इससे हम इस नतीजे पर पहुँच सकते हैं कि जैन तत्त्व-विचार के मूल तत्त्व पार्श्वनाथ जितने तो पुराने अवश्य हैं।

जैन अनुश्रुति तो इससे भी आगे जाती है। उसके अनुसार अपने से पहले हुए श्रीकृष्ण के समकालीन तीर्थंकर अरिष्टनेमि की परंपरा को

---

[३४] दीघनिकाय-पोट्ठपादसुत्त ९.

ही पार्श्वनाथ ने ग्रहण किया था और स्वयं अरिष्टनेमि ने प्रागैतिहासिक काल में होने वाले नमिनाथ से। इस प्रकार वह अनुश्रुति हमें ऋषभदेव जो कि भरत चक्रवर्ती के पिता थे, तक पहुँचा देती है। उसके अनुसार तो वर्तमान वेद से लेकर उपनिषद् पर्यन्त संपूर्ण साहित्य का मूल-स्रोत ऋषभदेव-प्रणीत जैन तत्त्व-विचार में ही है।

इस जैन अनुश्रुति के प्रामाण्य को ऐतिहासिक-दृष्टि से सिद्ध करना संभव नहीं है, तो भी अनुश्रुतिप्रतिपादित जैन विचार की प्राचीनता में संदेह को कोई स्थान नहीं है। जैन तत्त्वविचार की स्वतंत्रता इसी से सिद्ध है कि जब उपनिषदों में अन्य दर्शन-शास्त्र के वीज मिलते हैं, तब जैन तत्त्वविचार के बीज नहीं मिलते। इतना ही नहीं किन्तु भगवान् महावीर-प्रतिपादित आगमों में जो कर्म-विचार की व्यवस्था है, मार्गणा और गुणस्थान सम्बन्धी जो विचार है, जीवों की गति और आगति का जो विचार है, लोक की व्यवस्था और रचना का जो विचार है, जड़ परमाणु पुद्गलों की वर्गणा और पुद्गल स्कन्ध का जो व्यवस्थित विचार है, षड्द्रव्य और नवतत्त्व का जो व्यवस्थित निरूपण है, उसको देखते हुए यह कहा जा सकता है कि जैन तत्त्वविचार-धारा भगवान महावीर से पूर्व की कई पीढ़ियों के परिश्रम का फल है और इस धारा का उपनिषद्-प्रतिपादित अनेक मतों से पार्थक्य और स्वातंत्र्य स्वयंसिद्ध है।

भगवान् महावीर की देन : अनेकान्तवाद

प्राचीन तत्त्व व्यवस्था में भगवान् महावीर ने क्या नया अर्पण किया, इसे जानने के लिए आगमों से बढ़कर हमारे पास कोई साधन नहीं है। जीव और अजीव के भेदोपभेदों के विषय में, मोक्ष-लक्षी आध्यात्मिक उत्क्रान्तिक्रम के सोपानरूप गुणस्थान के विषय में, चार प्रकार के ध्यान के विषय में या कर्म-शास्त्र के सूक्ष्म भेदोपभेदों के विपय में या लोक रचना के विपय में या परमाणुओं की विविध वर्गणाओं के विपय में भगवान् महावीर ने कोई नया मार्ग दिखाया हो, यह तो आगमों को देखने से प्रतीत नहीं होना। किन्तु तत्कालीन दार्शनिक क्षेत्र में तत्त्व के स्वरूप के विषय में जो नये-नये प्रश्न उठते रहते थे, उनका जो स्पष्टी-

करण भगवान् महावीर ने तत्कालीन अन्य दार्शनिकों के विचार के प्रकाश में किया है, वही उनकी दार्शनिक क्षेत्र में देन समझनी चाहिए। जीव का जन्म मरण होता है, यह बात नई नहीं थी। परमाणु के नाना कार्य बाह्य जगत में होते हैं और नष्ट होते हैं, यह भी स्वीकृत था। किन्तु जीव और परमाणु का कैसा स्वरूप माना जाए, जिससे उन भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के घटित होते रहने पर भी जीव और परमाणु का उन अवस्थाओं के साथ सम्बन्ध बना रहे। यह और ऐसे अन्य प्रश्न तत्कालीन दार्शनिकों के द्वारा उठाए गए थे और उन्होंने अपना-अपना स्पष्टीकरण भी किया था। इन नये प्रश्नों का भगवान् महावीर ने जो स्पष्टीकरण किया है, वही उनकी दार्शनिक क्षेत्र में नई देन है। अतएव आगमों के आधार पर भगवान् महावीर की उस देन पर विचार किया जाए तो बाद के जैन दार्शनिक विकास की मूल-भित्ति क्या थी, यह सरलता से स्पष्ट हो सकेगी।

ईसा के बाद होने वाले जैनदार्शनिकों ने जैनतत्त्वविचार को अनेकान्तवाद के नाम से प्रतिपादित किया है और भगवान् महावीर को उस वाद का उपदेशक बताया है।[३५] उन आचार्यों का उक्त कथन कहाँ तक ठीक है और प्राचीन आगमों में अनेकान्तवाद के विषय में क्या कहा गया है, उसका दिग्दर्शन कराया जाए, तो यह सहज ही में मालूम हो जाएगा कि भगवान् महावीर ने समकालीन दार्शनिकों में अपनी विचार-धारा किस ओर बहाई और बाद में होने वाले जैन आचार्यों ने विचार-धारा को लेकर उसमें क्रमशः कैसा विकास किया।

चित्र-विचित्र पक्षयुक्त पुंस्कोकिल का स्वप्न :

भगवान महावीर को केवलज्ञान होने के पहले जिन दश महास्वप्नों का दर्शन हुआ था, उनका उल्लेख भगवती सूत्र में आया है।[३६] उनमें तीसरा स्वप्न इस प्रकार है—

---

[३५] लघीयस्त्रय का० ५०.

[३६] भगवती शतक १६ उद्देशक ६.

एगं च णं महं चित्त-विचित्त-पक्खगं पुंसकोइलगं सुविणे पासित्ता णं पडिबुद्धे
अर्थात्—एक बड़े चित्र-विचित्र पांखवाले पुंस्कोकिल को स्वप्न में देखकर वे प्रतिबुद्ध हुए। इस महास्वप्न का फल बताते हुए कहा गया है कि—

"जण्णं समणे भगवं महावीरे एगं महं चित्त-विचित्तं जाव पडिबुद्धे तण्णं समणे भगवं महावीरे विचित्तं ससमयपरसमइयं दुवालसंगं गणिपिडगं आघवेति पन्नवेति परूवेति........।"

अर्थात् उस स्वप्न का फल यह है कि भगवान् महावीर विचित्र ऐसे स्व-पर सिद्धान्त को बताने वाले द्वादशांग का उपदेश देंगे।

प्रस्तुत में चित्र-विचित्र शब्द खास ध्यान देने योग्य है। बाद के जैन दार्शनिकों ने जो चित्रज्ञान और चित्रपट को लेकर बौद्ध और नैयायिक-वैशेषिक के सामने अनेकान्तवाद को सिद्ध किया है, वह इस चित्रविचित्र शब्द को पढ़ते समय याद आ जाता है। किन्तु प्रस्तुत में उसका सम्बन्ध न भी हो, तब भी पुंस्कोकिल की पांख को चित्रविचित्र कहने का और आगमों को विचित्र विशेषण देने का खास तात्पर्य तो यही मालूम होता है कि उनका उपदेश अनेकरंगी—अनेकान्तवाद माना गया है। विशेषण से सूत्रकार ने यही ध्वनित किया है, ऐसा निश्चय करना तो कठिन है, किन्तु यदि भगवान के दर्शन की विशेषता और प्रस्तुत चित्र-विचित्र विशेषण का कुछ मेल बिठाया जाए, तब यही संभावना की जा सकती है कि वह विशेषण साभिप्राय है और उससे सूत्रकार ने भगवान् के उपदेश की विशेषता अर्थात् अनेकान्तवाद को ध्वनित किया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

विभज्यवाद :

सूत्रकृतांग-सूत्र में भिक्षु कैसी भाषा का प्रयोग करे, इस प्रश्न के प्रसंग में कहा गया है कि विभज्यवाद का प्रयोग[३७] करना चाहिए। विभज्यवाद का मतलब ठीक समझने में हमें जैन टीका ग्रंथों के अतिरिक्त बौद्ध ग्रंथ भी सहायक होते हैं। बौद्ध मज्झिमनिकाय (सुत्त. ९९) में शुभमाणवक के प्रश्न के उत्तर में भगवान् बुद्ध ने कहा कि—"हे माणवक! मैं यहाँ विभज्यवादी हूँ, एकांशवादी नहीं।" उसका प्रश्न था कि मैंने सुन रखा है कि गृहस्थ ही आराधक होता है, प्रव्रजित आराधक नहीं

[३७] "भिक्खू विभज्जवायं च वियागरेज्जा"-सूत्रकृतांग १.१४.२२.

होता। इसमें आपकी क्या संमति है ? इस प्रश्न का एकांशी हाँ में या नहीं में, उत्तर न देकर भगवान् बुद्ध ने कहा, कि गृहस्थ भी यदि मिथ्यात्वी है, तो निर्वाण मार्ग का आराधक नहीं और त्यागी भी यदि मिथ्यात्वी है, तो वह भी आराधक नहीं। किन्तु यदि वे दोनों सम्यक् प्रतिपत्ति सम्पन्न हैं, तभी आराधक होते हैं। अपने ऐसे उत्तर के बल पर वे अपने आपको विभज्यवादी बताते हैं और कहते हैं कि मैं एकांशवादी नहीं हूँ।

यदि वे ऐसा कहते, कि गृहस्थ आराधक नहीं होता, त्यागी आराधक होता है, या ऐसा कहते कि त्यागी आराधक होता है, गृहस्थ आराधक नहीं होता, तब उनका वह उत्तर एकांशवाद[३८] होता। किन्तु प्रस्तुत में उन्होंने त्यागी या गृहस्थ की आराधकता और अनाराधकता में जो अपेक्षा या कारण था, उसे बताकर दोनों को आराधक और अनाराधक बताया है। अर्थात् प्रश्न का उत्तर विभाग करके दिया है। अतएव वे अपने आपको विभज्यवादी कहते हैं।

यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिए कि भगवान् बुद्ध सर्वदा सभी प्रश्नों के उत्तर में विभज्यवादी नहीं थे। किन्तु जिन प्रश्नों का उत्तर विभज्यवाद से ही संभव था, उन कुछ ही प्रश्नों का उत्तर देते समय ही वे विभज्यवाद का अवलम्बन लेते थे[३९]।

उपर्युक्त बौद्ध सूत्र से एकांशवाद और विभज्यवाद का परस्पर विरोध स्पष्ट सूचित हो जाता है। जैन टीकाकार विभज्यवाद का अर्थ स्याद्वाद अर्थात् अनेकान्तवाद करते हैं। एकान्तवाद और अनेकान्तवाद का भी परस्पर विरोध स्पष्ट ही है। ऐसी स्थिति में सूत्रकृतांग गत विभज्यवाद का अर्थ अनेकान्तवाद, नयवाद, अपेक्षावाद या पृथक्करण करके, विभाजन करके किसी तत्त्व के विवेचन का वाद भी लिया जाए तो ठीक ही होगा। अपेक्षाभेद से स्यात्‌शब्दांकित प्रयोग आगम में देखे जाते हैं। एकाधिक भंगों का स्याद्वाद भी आगम में मिलता है।

---

[३८] देखो—दीघनिकाय-३३ संगितिपरियाय सुत्तमें-चार प्रश्नव्याकरण।

[३९] वही।

अतएव आगमकालीन अनेकान्तवाद या विभज्यवाद को स्याद्वाद भी कहा जाए, तो अनुचित नहीं।

भगवान् बुद्ध का विभज्यवाद कुछ मर्यादित क्षेत्र में था। और भगवान् महावीर के विभज्यवाद का क्षेत्र व्यापक था। यही कारण है कि जैनदर्शन आगे जाकर अनेकान्तवाद में परिणत हो गया और बौद्ध दर्शन किसी अंश में विभज्यवाद होते हुए भी एकान्तवाद की ओर अग्रसर हुआ।

भगवान् बुद्ध के विभज्यवाद की तरह भगवान् महावीर का विभज्यवाद भी भगवती-गत प्रश्नोत्तरों से स्पष्ट होता है। गणधर गौतम आदि और भगवान् महावीर के कुछ प्रश्नोत्तर नीचे दिए जाते हैं, जिनसे भगवान् महावीर के विभज्यवाद की तुलना भगवान् बुद्ध के विभज्यवाद से करनी सरल हो सके।

: १ :

गौतम—कोई यदि ऐसा कहे कि—'मैं सर्वप्राण, सर्वभूत, सर्व जीव, सर्वसत्त्व की हिंसा का प्रत्याख्यान करता हूँ' तो क्या उसका वह प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है या दुष्प्रत्याख्यान ?

भगवान् महावीर—स्यात् सुप्रत्याख्यान है और स्यात् दुष्प्रत्याख्यान है।

गौतम—भंते ! इसका क्या कारण ?

भगवान महावीर—जिसको यह भान नहीं, कि ये जीव हैं और ये अजीव, ये त्रस हैं और ये स्थावर, उसका वैसा प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान है। वह मृषावादी है। किन्तु जो यह जानता है कि ये जीव हैं और ये अजीव, ये त्रस हैं और ये स्थावर, उसका वैसा प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है, वह सत्यवादी है।

—भगवती श० ७. उ० २. सू० २७०।

: २ :

जयंती—भंते ! सोना अच्छा है या जागना ?

भगवान महावीर—जयंती, कितनेक जीवों का सोना अच्छा है और कितनेक जीवों का जागना अच्छा है।

जयंती—इसका क्या कारण है ?

भगवान महावीर—जो जीव अधर्मी हैं, अधर्मानुग हैं, अधर्मिष्ठ हैं, अधर्माख्यायी हैं, अधर्मप्रलोकी हैं, अधर्मप्ररञ्जन हैं,अधर्म समाचार हैं, अधार्मिक वृत्ति वाले हैं, वे सोते रहेंगे, यही अच्छा है; क्योंकि जब वे सोते रहेंगे तो अनेक जीवोंको पीड़ा नहीं देंगे। और इस प्रकार स्व, पर और उभय को अधार्मिक क्रिया में नहीं लगावेंगे, अतएव उनका सोना अच्छा है। किन्तु जो जीव धार्मिक हैं,धर्मानुग हैं,यावत् धार्मिक वृत्ति वाले हैं, उनका तो जागना ही अच्छा है। क्योंकि ये अनेक जीवों को सुख देते हैं और स्व, पर और उभय को धार्मिक अनुष्ठान में लगाते हैं। अतएव उनका जागना ही अच्छा है।

जयंती—भन्ते, बलवान् होना अच्छा है या दुर्बल होना ?

भगवान महावीर—जयंती, कुछ जीवों का बलवान् होना अच्छा है और कुछ का दुर्बल होना।

जयंती—इसका क्या कारण ?

भगवान महावीर—जो जीव अधार्मिक हैं यावत् अधार्मिक वृत्ति वाले हैं, उनका दुर्बल होना अच्छा है। क्योंकि वे बलवान् हों, तो अनेक जीवों को दुःख देंगे। किन्तु जो जीव धार्मिक हैं यावत् धार्मिक वृत्ति वाले हैं उनका सबल होना ही अच्छा है, क्योंकि उनके सबल होने से वे अधिक जीवों को सुख पहुँचावेंगे।

इसी प्रकार अलसत्व और दक्षत्व के प्रश्न का भी विभाग करके भगवान् ने उत्तर दिया है।

भगवती १२. २. ४४३।

: ३ :

गौतम—भन्ते, जीव सकम्प हैं या निष्कंप[४०] ?

भगवान महावीर—गौतम, जीव सकम्प भी हैं और निष्कम्प भी।

गौतम—इसका क्या कारण ?

भगवान महावीर—जीव दो प्रकार के हैं–संसारी और मुक्त। मुक्त जीव के दो प्रकार हैं— अनन्तर-सिद्ध और परम्परसिद्ध। परंपर-सिद्ध तो निष्कम्प हैं और अनन्तरसिद्ध सकम्प। संसारी जीवों के भी दो प्रकार हैं—शैलेशी और अशैलेशी। शैलेशी जीव निष्कम्प होते हैं और अशैलेशी सकम्प होते हैं।

—भगवती २५.४।

: ४ :

गौतम—जीव सवीर्य हैं या अवीर्य हैं ?

भगवान महावीर—जीव सवीर्य भी हैं और अवीर्य भी हैं।

गौतम—इसका क्या कारण ?

भगवान महावीर—जीव दो प्रकार के हैं। संसारी और मुक्त। मुक्त तो अवीर्य हैं। संसारी जीव के दो भेद हैं–शैलेशी-प्रतिपन्न और अशैलेशी-प्रतिपन्न। शैलेशी-प्रतिपन्न जीव लब्धिवीर्य की अपेक्षा से सवीर्य हैं, किन्तु करणवीर्य की अपेक्षा से अवीर्य हैं और अशैलेशीप्रतिपन्न जीव लब्धि वीर्य की अपेक्षा से सवीर्य हैं, किन्तु करण-वीर्य की अपेक्षा से सवीर्य भी हैं और अवीर्य भी हैं। जो जीव पराक्रम करते हैं, वे करणवीर्य की अपेक्षा से सवीर्य हैं और अपराक्रमी हैं, वे करणवीर्य की अपेक्षा से अवीर्य हैं।

—भगवती १.८.७२

---

[४०] मूल में सेये–निरेये (सेज–निरेज) है। तुलना करो—"तदेजति तन्नैजति"–ईशावास्योपनिषद् ५।

भगवान बुद्ध के विभज्यवाद की तुलना में और भी कई उदाहरण दिए जा सकते हैं, किन्तु इतने पर्याप्त हैं। इस विभज्यवाद का मूलाधार विभाग करके उत्तर देना है, जो ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट है। असली बात यह है कि दो विरोधी बातों का स्वीकार एक सामान्य में करके उसी एक को विभक्त कर के दोनों विभागों में दो विरोधी धर्मों को संगत बताना, इतना अर्थ इस विभज्यवाद का फलित होता है। किन्तु यहाँ एक बात की ओर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। भगवान् बुद्ध जब किसी का विभाग करके विरोधी धर्मों को घटाते हैं और भगवान् महावीर ने जो उक्त उदाहरणों में विरोधी धर्मों को घटाया है, उस से स्पष्ट है कि वस्तुतः दो विरोधी धर्म एक काल में किसी एक व्यक्ति के नहीं, बल्कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के हैं। विभज्यवाद का यही मूल अर्थ हो सकता है, जो दोनों महापुरुषों के वचनों में एक-रूप से आया है।

किन्तु भगवान् महावीर ने इस विभज्यवाद का क्षेत्र व्यापक बनाया है। उन्होंने विरोधी धर्मों को अर्थात् अनेक अन्तों को एक ही काल में और एक ही व्यक्ति में अपेक्षा भेद से घटाया है। इसी कारण से विभज्यवाद का अर्थ अनेकान्तवाद या स्याद्वाद हुआ और इसी लिए भगवान् महावीर का दर्शन आगे चलकर अनेकान्तवाद के नाम से प्रतिष्ठित हुआ।

तिर्यक्सामान्य की अपेक्षा से जो विशेष व्यक्तियाँ हों, उन्हीं में विरोधी धर्म का स्वीकार करना, यह विभज्यवाद का मूलाधार है, जब कि तिर्यग् और ऊर्ध्वता दोनों प्रकार के सामान्यों के पर्यायों में विरोधी धर्मों का स्वीकार करना यह अनेकान्तवाद का मूलाधार है। अनेकान्तवाद विभज्यवाद का विकसित रूप है। अतएव जैन दार्शनिकों ने अपने वाद को जो अनेकान्तवाद के नाम से ही विशेष रूप से प्रख्यापित किया है, वह सर्वथा उचित ही हुआ है।

अनेकान्तवाद :

भगवान् महावीर ने जो अनेकान्तवाद की प्ररूपणा की है, उसके मूल में तत्कालीन दार्शनिकों में से भगवान् बुद्ध के निषेधात्मक दृष्टिकोण

का महत्त्वपूर्ण स्थान है। स्याद्वाद के भंगों की रचना में संजयवेलट्ठीपुत्त के[41] विक्षेपवाद से भी सहयोग लिया—यह संभव है। किन्तु भगवान् बुद्ध ने तत्कालीन नानावादों से अलिप्त रहने के लिए जो रुख अंगीकार किया था, उसी में अनेकान्तवाद का बीज है, ऐसा प्रतीत होता है। जीव और जगत् तथा ईश्वर के नित्यत्व एवं अनित्यत्व के विषय में जो प्रश्न-होते थे, उनको बुद्ध ने अव्याकृत बता दिया। इसी प्रकार जीव और शरीर के विषय में भेदाभेद के प्रश्न को भी उन्होंने अव्याकृत कहा है। जब कि भगवान् महावीर ने उन्हीं प्रश्नों का व्याकरण अपनी दृष्टि से किया है। अर्थात् उन्हीं प्रश्नों को अनेकान्तवाद के आश्रय से सुलझाया है। उन प्रश्नों के स्पष्टीकरण में से जो दृष्टि उनको सिद्ध हुई, उसी का सार्वत्रिक विस्तार करके अनेकान्तवाद को सर्ववस्तु-व्यापी उन्होंने बना दिया है। यह स्पष्ट है कि भगवान् बुद्ध दो विरोधी वादों को देखकर उनसे बचने के लिए अपना तीसरा मार्ग उनके अस्वीकार में ही सीमित करते हैं, तब भगवान् महावीर उन दोनों विरोधी वादों का समन्वय करके उनके स्वीकार में ही अपने नये मार्ग अनेकान्तवाद की प्रतिष्ठा करते हैं। अतएव अनेकान्तवाद की चर्चा का प्रारम्भ बुद्ध के अव्याकृत प्रश्नों से किया जाए, तो उचित ही होगा।

भगवान् बुद्ध के अव्याकृत प्रश्न :

भगवान् बुद्ध ने निम्न-लिखित प्रश्नों को अव्याकृत कहा है—[42]

१. लोक शाश्वत है ?

२. लोक अशाश्वत है ?

३. लोक अन्तवान् है ?

४. लोक अनन्त है ?

५. जीव और शरीर एक हैं ?

६. जीव और शरीर भिन्न हैं ?

७. मरने के बाद तथागत होते हैं ?

---

[41] दीघनिकाय-सामञ्ञफलसुत्त।

[42] मज्झिमनिकाय चूलमालुंक्यसुत्त ६३।

८. मरने के बाद तथागत नहीं होते ?

९. मरने के बाद तथागत होते भी हैं, और नहीं भी होते ?

१०. मरने के बाद तथागत न—होते हैं, और न—नहीं होते हैं ?

इन प्रश्नों का संक्षेप तीन ही प्रश्न में हैं—१. लोक की नित्यता अनित्यता और सान्तता-निरन्तता का प्रश्न, २. जीव-शरीर के भेदाभेद का प्रश्न और ३. तथागत की मरणोत्तर स्थिति-अस्थिति अर्थात् जीव की नित्यता-अनित्यता का प्रश्न[४३]। ये ही प्रश्न भगवान् बुद्ध के जमाने के महान् प्रश्न थे और इन्हीं के विषय में भगवान् बुद्ध ने एक तरह से अपना मत देते हुए भी वस्तुतः विधायक रूप से कुछ नहीं कहा। यदि वे लोक या जीव को नित्य कहते, तो उनको उपनिषद्-मान्य शाश्वतवाद को स्वीकार करना पड़ता है और यदि वे अनित्य पक्ष को स्वीकार करते तब चार्वाक जैसे भौतिकवादी द्वारा संमत उच्छेदवाद को स्वीकार करना पड़ता। इतना तो स्पष्ट है कि उनको शाश्वतवाद में भी दोष प्रतीत हुआ था और उच्छेदवाद को भी वे अच्छा नहीं समझते थे। इतना होते हुए भी अपने नये वाद को कुछ नाम देना उन्होंने पसंद नहीं किया और इतना ही कह कर रह गए, कि ये दोनों वाद ठीक नहीं। अतएव ऐसे प्रश्नों को अव्याकृत, स्थापित, प्रतिक्षिप्त बता दिया और कह दिया कि लोक अशाश्वत हो या शाश्वत, जन्म है ही, मरण है ही। मैं तो इन्हीं जन्म-मरण के विघात को बताता हूँ। यही मेरा व्याकृत है। और इसी से तुम्हारा भला होने वाला है। शेष लोकादि की शाश्वतता आदि के प्रश्न अव्याकृत हैं, उन प्रश्नों का मैंने कुछ उत्तर नहीं दिया, ऐसा ही समझो[४४]।

इतनी चर्चा से स्पष्ट है कि भगवान बुद्ध ने अपने मन्तव्य को विधि रूप से न रख कर अशाश्वतानुच्छेदवाद को ही स्वीकार किया है। अर्थात् उपनिषद्मान्य नेति नेति की तरह वस्तुस्वरूप का निषेध-परक व्याख्यान

---

[४३] इस प्रश्न को ईश्वर के स्वतन्त्र अस्तित्व या नास्तित्व का प्रश्न भी कहा जा सकता है।

[४४] मज्झिमनिकाय चूलमालुंक्य सुत्त ६३.

करने का प्रयत्न किया है। ऐसा करने का कारण स्पष्ट यही है, कि तत्काल में प्रचलित वादों के दोषों की ओर उनकी दृष्टि गई और इस लिए उनमें से किसी वाद का अनुयायी होना उन्होंने पसंद नहीं किया। इस प्रकार उन्होंने एक प्रकार से अनेकान्तवाद का रास्ता साफ किया। भगवान् महावीर ने तत्तद्वादों के दोष और गुण दोनों की ओर दृष्टि दी। प्रत्येक वाद का गुण-दर्शन तो उस वाद के स्थापक ने प्रथम से कराया ही था, उन विरोधीवादों में दोप-दर्शन भगवान् बुद्ध ने किया। तव भगवान् महावीर के सामने उन वादों के गुण और दोष दोनों आ गए। दोनों पर समान भाव से दृष्टि देने पर अनेकान्तवाद स्वतः फलित हो जाता है। भगवान् महावीर ने तत्कालीनवादों के गुण-दोषों की परीक्षा करके जितनी जिस वाद में सच्चाई थी, उसे उतनी ही मात्रा में स्वीकार करके सभी वादों का समन्वय करने का प्रयत्न किया। यही भगवान् महावीर का अनेकान्तवाद या विकसित विभज्यवाद है। भगवान् बुद्ध जिन प्रश्नों का उत्तर विधि रूप से देना नहीं चाहते थे, उन सभी प्रश्नों का उत्तर देने में अनेकान्तवाद का आश्रय करके भगवान् महावीर समर्थ हुए। उन्होंने प्रत्येक वाद के पीछे रही हुई दृष्टि को समझने का प्रयत्न किया, प्रत्येक वाद की मर्यादा क्या है, अमुक वाद का उत्थान होने में मूलतः क्या अपेक्षा होनी चाहिए, इस बात की खोज की ओर नयवाद के रूप में उस खोज को दार्शनिकों के सामने रखा। यही नयवाद अनेकान्तवाद का मूलाधार वन गया।

अव मूल जैनागमों के आधार पर ही भगवान् के अनेकान्तवाद का दिग्दर्शन कराना उपयुक्त होगा।

पहले उन प्रश्नों को लिया जाता है, जिनको कि भगवान् बुद्ध ने अव्याकृत वताया है। ऐसा करने से यह स्पष्ट होगा, कि जहाँ बुद्ध किसी एक वाद में पड़ जाने के भय से निषेधात्मक उत्तर देते हैं वहाँ भगवान् महावीर अनेकान्तवाद का आश्रय करके किस प्रकार विधि रूप उत्तर देकर अपना अपूर्व मार्ग प्रस्थापित करते हैं—

लोक की नित्यानित्यता और सान्तानन्तता :

उपर्युक्त बौद्ध अव्याकृत प्रश्नों में प्रथम चार लोक की नित्यानित्यता और सान्तता-अनन्तता के विषय में हैं। उन प्रश्नों के विषय में भगवान् महावीर का जो स्पष्टीकरण है, वह भगवती में स्कन्दक[४५] परिव्राजक के अधिकार में उपलब्ध है। उस अधिकार से और[४६] अन्य अधिकारों से यह सुविदित है कि भगवान् ने अपने अनुयायियों को लोक के संबंध में होने वाले उन प्रश्नों के विषय में अपना स्पष्ट मन्तव्य बता दिया था, जो अपूर्व था। अतएव उनके अनुयायी अन्य तीर्थंकरों से इसी विषय में प्रश्न करके उन्हें चुप किया करते थे। इस विषय में भगवान् महावीर के शब्द ये हैं—

"एवं खलु मए खंदया ! चउव्विहे लोए पन्नत्ते, तं जहा—दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ।

दव्वओ णं एगे लोए सअंते १।

खेत्तओ णं लोए असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ आयामविक्खंभेणं असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ परिक्खेवेणं पन्नत्ता, अत्थि पुण सअंते २।

कालओ णं लोए ण कयावि न आसी, न कयावि न भवति, न कयावि न भविस्सति, भविंसु य भवति य भविस्सइ य, धुवे णितिए सासते अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे, णत्थि पुण से अन्ते ३।

भावओ णं लोए अणंता वण्णपज्जवा गंधपज्जवा रसपज्जवा फासपज्जवा अणंता संठाणपज्जवा अणंता गरुयलहुयपज्जवा अणंता अगरुयलहुयपज्जवा, नत्थि पुण से अन्ते ४।

से त्तं खंदगा ! दव्वओ लोए सअंते, खेत्तओ लोए सअंते, कालतो लोए अणंते भावओ लोए अणंते।" भग० २.१.९०

इसका सार यह है कि लोक द्रव्य की अपेक्षा से सान्त है, क्योंकि यह संख्या में एक है। किन्तु भाव अर्थात् पर्यायों की अपेक्षा से लोक अनन्त है, क्योंकि लोकद्रव्य के पर्याय अनन्त हैं। काल की दृष्टि से लोक

---

[४५] शतक २ उद्देशक १.

[४६] शतक ९ उद्देशक ६। सूत्रकृतांग १.१.४६—"अन्तवं निइए लोए इइ धीरो ति पासई।"

अनन्त है अर्थात् शाश्वत है, क्योंकि ऐसा कोई काल नहीं जिसमें लोक का अस्तित्व न हो। किन्तु क्षेत्र की दृष्टि से लोक सान्त है क्योंकि सकल क्षेत्र में से कुछ ही में लोक है[४७] अन्यत्र नहीं।

इस उद्धरण में मुख्यत: सान्त और अनन्त शब्दों को लेकर अनेकान्तवाद की स्थापना की गई है। भगवान् बुद्ध ने लोक की— सान्तता और अनन्तता दोनों को अव्याकृत कोटि में रखा है। तब भगवान् महावीर ने लोक को सान्त और अनन्त अपेक्षा-भेद से बताया है।

अब लोक की शाश्वतता-अशाश्वतता के विषय में जहाँ भगवान् बुद्ध ने अव्याकृत कहा वहाँ भगवान् महावीर का अनेकान्तवादी मन्तव्य क्या है, उसे उन्हीं के शब्दों में सुनिए—

"सासए लोए जमाली, जन्न कयावि णासी, णो कयावि ण भवति, ण कयावि ण भविस्सइ भुविं च भवइ य, भविस्सइ, य, धुवे णितिए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे।

असासए लोए जमाली, जओ ओसप्पिणी भवित्ता उस्सप्पिणी भवइ, उस्सप्पिणी भवित्ता ओसप्पिणी भवइ।" **भग० ९.६.३८७।**

जमाली अपने आपको अर्हन् समझता था, किन्तु जब लोक की शाश्वतता-अशाश्वतता के विषय में गौतम गणधर ने उस से प्रश्न पूछा तब वह उत्तर न दे सका, तिस पर भगवान् महावीर ने उपर्युक्त समाधान यह कह करके किया, कि यह तो एक सामान्य प्रश्न है। इसका उत्तर तो मेरे छद्मस्थ शिष्य भी दे सकते हैं।

जमाली, लोक शाश्वत है और अशाश्वत भी। त्रिकाल में ऐसा एक भी समय नहीं, जब लोक किसी न किसी रूप में न हो अतएव वह शाश्वत है। किन्तु वह अशाश्वत भी है, क्योंकि लोक हमेशा एक रूप तो रहता नहीं। उसमें अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के कारण अवनति और

---

[४७] **लोक का अभिप्राय है, पंचास्तिकाय। पंचास्तिकाय संपूर्ण आकाश क्षेत्र में नहीं किन्तु जैसा ऊपर बताया गया है, असंख्यात-कोटाकोटी योजन की परिधि में हैं।**

उन्नति और उत्सर्पिणी भी देखी जाती है एक रूप में—सर्वथा शाश्वत में परिवर्तन नहीं होता अतएव उसे अशाश्वत भी मानना चाहिए।

लोक क्या है :

प्रस्तुत में लोक से भगवान् महावीर का क्या अभिप्राय है, यह भी जानना जरूरी है। उसके लिए नीचे के प्रश्नोत्तर पर्याप्त हैं।

"किमियं भंते, लोएत्ति पवुच्चइ ?"

"गोयमा, पंचत्थिकाया, एस णं एवतिए लोएत्ति पवुच्चइ। तं जहा धम्मत्थिकाए अहम्मत्थिकाए जाव (आगासत्थिकाए) पोग्गलत्थिकाए।"

भग० १३.४.४८१।

अर्थात् पाँच अस्तिकाय ही लोक है। पाँच अस्तिकाय ये हैं—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय।

जीव-शरीर का भेदाभेद :

जीव और शरीर का भेद है, या अभेद इस प्रश्न को भी भगवान् बुद्ध ने अव्याकृत कोटि में रखा है। इस विषय में भगवान् महावीर के मन्तव्य को निम्न संवाद से जाना जा सकता है—

"आया भन्ते, काये अन्ने काये !"

"गोयमा, आयावि काये अन्नेवि काये।"

"रूवि भन्ते, काये अरूवि काये ?"

"गोयमा, रूवि वि काये अरूवि वि काये।"

"एवं एक्केक्के पुच्छा।

"गोयमा, सच्चित्ते वि काये अच्चित्ते वि काये"। भग० १३.७.४९५।

उपर्युक्त संवाद से स्पष्ट है कि भगवान् महावीर ने गौतम के प्रश्न के उत्तर में आत्मा को शरीर से अभिन्न भी कहा है और उससे भिन्न भी कहा है। ऐसा कहने पर और दो प्रश्न उपस्थित होते हैं, कि यदि शरीर आत्मा से अभिन्न है, तो आत्मा की तरह वह अरूपी भी होना चाहिए और अचेतन भी। इन प्रश्नों का उत्तर भी स्पष्ट रूप से दिया गया है कि काय अर्थात् शरीर रूपी भी है और अरूपी भी। शरीर सचेतन भी है और अचेतन भी है।

जब शरीर को आत्मा से पृथक् माना जाता है, तब वह रूपी और अचेतन हैं। और जब शरीर को आत्मा से अभिन्न माना जाता है, तब शरीर अरूपी और सचेतन है।

भगवान् बुद्ध के मत से यदि शरीर को आत्मा से भिन्न माना जाए तब ब्रह्मचर्यवास संभव नहीं। और यदि अभिन्न माना जाए तब भी—ब्रह्मचर्यवास संभव नहीं। अतएव इन दोनों अन्तों को छोड़कर भगवान् ने मध्यममार्ग का उपदेश दिया और शरीर के भेदाभेद के प्रश्न को अव्याकृत बताया—

"तं जीवं तं सरीरं ति भिक्खु, दिट्ठिया सति ब्रह्मचरियवासो न होति। अञ्ञं जीवं अञ्ञं सरीरं ति वा भिक्खु, दिट्ठिया सति ब्रह्मचरियवासो न होति। एते ते भिक्खु, उभो अन्ते अनुपगम्म मज्झेन तथागतो धम्मं देसेति—" संयुत्त XII 135

किन्तु भगवान् महावीर ने इस विषय में मध्यममार्ग—अनेकान्तवाद का आश्रय लेकर उपर्युक्त दोनों विरोधी वादों का समन्वय किया। यदि आत्मा शरीर से अत्यन्त भिन्न माना जाए तब कायकृत कर्मों का फल उसे नहीं मिलना चाहिए। अत्यन्तभेद मानने पर इस प्रकार अकृतागम दोष की आपत्ति है। और यदि अत्यन्त अभिन्न माना जाए तब शरीर का दाह हो जाने पर आत्मा भी नष्ट होगा, जिस से परलोक संभव नहीं रहेगा। इस प्रकार कृत-प्रणाश दोष की आपत्ति होगी। अतएव इन्हीं दोनों दोषों को देखकर भगवान् बुद्ध ने कह दिया कि भेद पक्ष और अभेद-पक्ष ये दोनों ठीक नहीं हैं। जब कि भगवान् महावीर ने दोनों विरोधी वादों का समन्वय किया, और भेद और अभेद दोनों पक्षों को स्वीकार किया। एकान्त भेद और अभेद मानने पर जो दोष होते हैं, वे उभयवाद मानने पर नहीं होते। जीव और शरीर का भेद इसलिए मानना चाहिए कि शरीर का नाश हो जाने पर भी आत्मा दूसरे जन्म में मौजूद रहती है, या सिद्धावस्था में अशरीरी आत्मा भी होती है। अभेद इसलिए मानना चाहिए कि संसारावस्था में शरीर और आत्मा का क्षीर-नीरवत् या अग्निलोह-पिण्डवत् तादात्म्य होता है इसीलिए काय से किसी वस्तु का स्पर्श होने पर आत्मा में संवेदन होता है और कायिक कर्म का विपाक आत्मा में होता है।

भगवती सूत्र में जीव के परिणाम दश गिनाए हैं यथा—

गति-परिणाम, इन्द्रिय-परिणाम, कषाय-परिणाम, लेश्या-परिणाम, योग-परिणाम, उपयोग-परिणाम, ज्ञान-परिणाम, चारित्र-परिणाम और वेद-परिणाम। —भग० १४. ४. ५१४।

जीव और काय का यदि अभेद न माना जाए तो इन परिणामों को जीव के परिणामरूप से नहीं गिनाया जा सकता। इसी प्रकार भगवती में (१२.५.४५१) जो जीव के परिणाम रूप से वर्ण, गन्ध एवं स्पर्श का निर्देश है, वह भी जीव और शरीर के अभेद को मान कर ही घटाया जा सकता है।

अन्यत्र गौतम के प्रश्न के उत्तर में निश्चयपूर्वक भगवान् ने कहा है कि—

"गोयमा, अहमेयं जाणामि अहमेयं पासामि अहमेयं बुज्झामि····जं णं तहागयस्स जीवस्स सरूविस्स सकम्मस्स सरागस्स सवेदगस्स समोहस्स सलेसस्स ससरीरस्स ताओ सरीराओ अविप्पमुक्कस्स एवं पन्नयति—तं जहा कालत्ते वा जाव सुक्किलत्ते वा, सुब्भिगंधत्ते वा तित्ते वा जाव महुरत्ते वा, कक्खडत्ते वा जाव लुक्खत्ते वा।" भग० १७.२.।

अन्यत्र जीव के कृष्णवर्ण पर्याय का भी निर्देश है—भग० २५.४। ये सभी निर्देश जीव-शरीर के अभेद की मान्यता पर निर्भर हैं।

इसी प्रकार आचारांग में आत्मा के विषय में जो ऐसे शब्दों का प्रयोग है—

"सव्वे सरा नियट्टन्ति तक्का जत्थ न विज्जति, मई तत्थ न गाहिया। ओए अप्पइट्ठाणस्स खेयन्ने। से न दीहे न हस्से न वट्टे न तंसे न चउरंसे न परिमंडले न किण्हे न नीले न इत्थी न पुरिसे न अन्नहा परिन्ने सन्ने उवमा न विज्जए अरूवी सत्ता अपयस्स पयं नत्थि।" आचा० सू० १७०।

वह भी संगत नहीं हो सकता, यदि आत्मा शरीर से भिन्न न माना जाए, शरीर भिन्न आत्मा को लक्ष्य करके स्पष्ट रूप से भगवान् ने कहा है, कि उसमें वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श नहीं होते—

"गोयमा! अहं एयं जाणामि, जाव जं णं तहागयस्स जीवस्स अरूविस्स अकम्मस्स अवेदस्स अलेसस्स असरीरस्स ताओ सरीराओ विप्पमुक्कस्स नो एयं पन्नायति-तं जहा कालत्ते वा जाव लुक्खत्ते वा।" भगवती० १७.२.।

चार्वाक शरीर को ही आत्मा मानता था और औपनिषद ऋषि-गण आत्मा को शरीर से अत्यन्त भिन्न मानते थे। भगवान् बुद्ध को इन दोनों मतों में दोष तो नजर आया, किन्तु वे विधि रूप से समन्वय न कर सके। जब कि भगवान् महावीर ने इन दोनों मतों का समन्वय उपर्युक्त प्रकार से भेद और अभेद दोनों पक्षों का स्वीकार कर के किया।

जीव की नित्यानित्यता :

मृत्यु के बाद तथागत होते हैं कि नहीं इस प्रश्न को भगवान् बुद्ध ने अव्याकृत कोटि में रखा है, क्योंकि ऐसा प्रश्न और उसका उत्तर सार्थक नहीं, आदि ब्रह्मचर्य के लिए नहीं, निर्वेद, निरोध, अभिज्ञा, संबोध और निर्वाण के लिए भी नहीं[८८]।

आत्मा के विषय में चिन्तन करना यह भगवान् बुद्ध के मत से अयोग्य है। जिन प्रश्नों को भगवान् बुद्ध ने 'अयोनिसो मनसिकार'—विचार का अयोग्य ढंग—कहा है, वे ये हैं—"मैं भूतकाल में था कि नहीं था? मैं भूतकाल में कैसा था? मैं भूतकाल में क्या होकर फिर क्या हुआ? मैं भविष्यत् काल में होऊँगा कि नहीं? मैं भविष्यत् काल में क्या होऊँगा? मैं भविष्यत् काल में कैसे होऊँगा? मैं भविष्यत् काल में क्या होकर, क्या होऊँगा? मैं हूँ कि नहीं? मैं क्या हूँ? मैं कैसे हूँ? यह सत्त्व कहाँ से आया? यह कहाँ जाएगा?"

भगवान् बुद्ध का कहना है, कि 'अयोनिसो मनसिकार' से नये आस्रव उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न आस्रव वृद्धिगत होते हैं। अतएव इन प्रश्नों के विचार में लगना साधक के लिए अनुचित है[८९]।

इन प्रश्नों के विचार का फल बताते हुए भगवान् बुद्ध ने कहा है कि 'अयोनिसो मनसिकार' के कारण इन छह दृष्टिओं में से कोई एक दृष्टि उत्पन्न होती है। उसमें फँसकर अज्ञानी पृथग्जन जरा-मरणादि से मुक्त नहीं होता—

---

[८८] संयुत्तनिकाय XVI 12; XXII 86; मज्झिमनिकाय चूलमालुंक्यसुत्त ६३.

[८९] मज्झिमनिकाय—सव्वासवसुत्त. २.

१. मेरी आत्मा है।

२. मेरी आत्मा नहीं है।

३. मैं आत्मा को आत्मा समझता हूँ।

४. मैं अनात्मा को आत्मा समझता हूँ।

५. यह जो मेरी आत्मा है, वह पुण्य और पाप कर्म के विपाक की भोक्ता है।

६. यह मेरी आत्मा नित्य है, ध्रुव है, शाश्वत है, अविपरिणाम-धर्मा है, जैसी है वैसी सदैव रहेगी[५०]।

अतएव उनका उपदेश है कि इन प्रश्नों को छोड़कर दुःख, दुःखसमुदय, दुःखनिरोध और दुःखनिरोध का मार्ग इन चार आर्यसत्यों के विषय में ही मन को लगाना चाहिए। उसी से आस्रव-निरोध होकर निर्वाण-लाभ हो सकता है।

भगवान् बुद्ध के इन उपदेशों के विपरीत ही भगवान् महावीर का उपदेश है। इस बात की प्रतीति प्रथम अंग आचारांग के प्रथम वाक्य से ही हो जाती है—

"इहमेगेसिं नो सन्ना भवइ तं जहा—पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, दाहिणाओ वा....अन्नयरीयाओ वा दिसाओ वा अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि। एवमेगेसिं नो नायं भवइ--अत्थि मे आया उववाइए, नत्थि मे आया उववाइए, के अहं आसी, के वा इओ चुओ इह पेच्चा भविस्सामि ?

"से जं पुण जाणेज्जा सहसम्मुइयाए परवागरणेणं अन्नेसिं वा अन्तिए सोच्चा तं जहा पुरत्थिमाओ...एवमेगेसिं नायं भवइ—अत्थि मे आया उववाइए जो इमाओ दिसाओ अणुदिसाओ वा अणुसंचरइ सव्वाओ दिसाओ अणुदिसाओ सोहं-से आयावाई, लोगावाई, कम्मावाई, किरियावाई।"

भगवान् महावीर के मत से जब तक अपनी या दूसरे की बुद्धि से यह पता न लग जाय कि मैं या मेरा जीव एक गति से दूसरी गति को प्राप्त होता है, जीव कहाँ से आया, कौन था और कहाँ जायगा ?—तब तक कोई जीव आत्मवादी नहीं हो सकता, लोकवादी नहीं हो सकता।

---

[५०] मज्झिमनिकाय–सब्बासवसुत्त. २.

कर्म और क्रियावादी नहीं हो सकता। अतएव आत्मा के विषय में विचार करना, यही संवर का और मोक्ष का भी कारण है। जीव की गति और आगति के ज्ञान से मोक्षलाभ होता है। इस बात को भगवान् महावीर ने स्पष्ट रूप से कहा है—

"इह आगइं गइं परिन्नाय अच्चेइ जाइमरणस्स वडुमगं विक्खायरए।" आचा० १.५.६.

यदि तथागत की मरणोत्तर स्थिति-अस्थिति के प्रश्न को ईश्वर जैसे किसी अतिमानव के पृथक् अस्तित्व और नास्तित्व का प्रश्न समझा जाए तो भगवान् महावीर का इस विषय मे मन्तव्य क्या है, यह भी जानना आवश्यक है। वैदिक दर्शनों की तरह शाश्वत सर्वज्ञ ईश्वर को जो कि संसारी कभी नहीं होता, जैन धर्म में कोई स्थान नहीं। भगवान् महावीर के अनुसार सामान्य जीव ही कर्मो का नाश करके शुद्ध स्वरूप को प्राप्त होता है, जो सिद्ध कहलाता है। और एक वार शुद्ध होने के वाद वह फिर कभी अशुद्ध नहीं होता। यदि भगवान् बुद्ध तथागत की मरणोत्तर स्थिति को स्वीकार करते तब ब्रह्मवाद या शाश्वतवाद की आपत्ति का भय था और यदि वे ऐसा कहते कि तथागत मरण के वाद नहीं रहता, तब भौतिकवादियों के उच्छेदवाद का प्रसंग आता। अतएव इस प्रश्न को भगवान् बुद्ध ने अव्याकृत कोटि में रखा। परन्तु भगवान् ने अनेकान्तवाद का आश्रय करके उत्तर दिया है कि तथागत या अर्हत् मरणोत्तर भी है, क्योंकि[७१] जीव द्रव्य तो नष्ट होता नहीं, वह सिद्ध स्वरूप वनता है। किन्तु मनुष्य रूप जो कर्मकृत है वह नष्ट हो जाता है। अतएव सिद्धावस्था में अर्हत् या तथागत अपने पूर्वरूप में नहीं भी होते हैं। नाना जीवों में आकार-प्रकार का जो कर्मकृत भेद संसारावस्था में होता है, वह सिद्धावस्था में नहीं, क्योंकि वहाँ कर्म भी नहीं—

"कम्मओ णं भंते जीवे नो अकम्मओ विभत्तिभावं परिणमइ, कम्मओ णं जए णो अकम्मओ विभत्तिभावं परिणमइ ?"

"हंता गोयमा !" भगवती १२.५.४५२।

---

[७१] तुलना—"अत्थि सिद्धी असिद्धी वा एवं सन्नं निवेसए।" सूत्रकृतांग २.५.२५.

इस प्रकार हम देखते हैं कि जिन प्रश्नों को भगवान् बुद्ध ने निरर्थक बताया है, उन्हीं प्रश्नों से भगवान् महावीर ने आध्यात्मिक जीवन का प्रारंभ माना है। अतएव उन प्रश्नों को भगवान् महावीर ने भगवान् बुद्ध की तरह अव्याकृत कोटि में न रखकर व्याकृत ही किया है। इतनी सामान्य चर्चा के बाद अब आत्मा की नित्यता-अनित्यता के प्रस्तुत प्रश्न पर विचार किया जाता है—

भगवान् बुद्ध का कहना है कि तथागत मरणानन्तर होता है या नहीं—ऐसा प्रश्न अन्यतीथिकों को अज्ञान के कारण होता है। उन्हें रूपादि[५२] का अज्ञान है अतएव वे ऐसा प्रश्न करते हैं। वे रूपादि को आत्मा समझते हैं, या आत्मा को रूपादियुक्त समझते हैं, या आत्मा में रूपादि को समझते हैं, या रूप में आत्मा को समझते हैं, जब कि तथागत वैसा नहीं समझते[५३]। अतएव तथागत को वैसे प्रश्न भी नहीं उठते और दूसरों के ऐसे प्रश्न को वे अव्याकृत बताते हैं। मरणानन्तर रूप वेदना आदि प्रहीण हो जाता है। अतएव अब प्रज्ञापना के साधन रूपादि के न होने से तथागत के लिए 'है' या 'नहीं है' ऐसा व्यवहार किया नहीं जा सकता। अतएव मरणानन्तर तथागत 'है' या 'नहीं है' आदि प्रश्नों को मैं अव्याकृत बताता हूँ।[५४]

हम पहिले बतला आए हैं कि, इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् बुद्ध को शाश्वतवाद या उच्छेदवाद में पड़ जाने का डर था, इसलिए उन्होंने इस प्रश्न को अव्याकृत कोटि में रखा है। जब कि भगवान् महावीर ने दोनों वादों का समन्वय स्पष्ट रूप से किया है। अतएव उन्हें इस प्रश्न को अव्याकृत कहने की आवश्यकता ही नहीं। उन्होंने जो व्याकरण किया है, उसकी चर्चा नीचे की जाती है।

भगवान् महावीर ने जीव को अपेक्षा भेद से शाश्वत और अशाश्वत कहा है। इस की स्पष्टता के लिए निम्न संवाद पर्याप्त है—

"जीवा णं भन्ते किं सासया असासया ?"

---

[५२] **संयुत्तनिकाय** XXXIII. 1.

[५३] **वही** XLIV. 8.

[५४] **वही** XLIV. 1.

"गोयमा, जीवा सिय सासया सिय असासया। गोयमा, दव्वट्ठयाए सासया भावट्ठयाए असासया।"–भगवती ७.२.२७३.।

स्पष्ट है कि द्रव्यार्थिक अर्थात् द्रव्य की अपेक्षा से जीव नित्य है और भाव अर्थात् पर्याय की दृष्टि से जीव अनित्य है, यह मन्तव्य भगवान् महावीर का है। इसमें शाश्वतवाद और उच्छेदवाद दोनों के समन्वय का प्रयत्न है। चेतन—जीव द्रव्य का विच्छेद कभी नहीं होता इस दृष्टि से जीव को नित्य मान करके शाश्वतवाद को प्रश्रय दिया है और जीव की नाना अवस्थाएँ जो स्पष्ट रूप से विच्छिन्न होती हुई देखी जाती हैं, उनकी अपेक्षा से उच्छेदवाद को भी प्रश्रय दिया। उन्होंने इस बात को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि ये अवस्थाएँ अस्थिर हैं इसीलिए उनका परिवर्तन होता है, किन्तु चेतन द्रव्य शाश्वत स्थिर हैं। जीवगत बालत्व-पाण्डित्यादि अस्थिर धर्मों का परिवर्तन होगा, जब कि जीवद्रव्य तो—शाश्वत ही रहेगा।

से नूणं भंते अथिरे पलोट्टइ, नो थिरे पलोट्टइ, अथिरे भज्जइ नो थिरे भज्जइ, सासए बालए बालियत्तं असासयं, सासए पंडिए पंडियत्तं असासयं ?"

"हंता गोयमा, अथिरे पलोट्टइ जाव पंडियत्तं असासयं।"

भगवती– १.९.८०।

द्रव्यार्थिक नय का दूसरा नाम अव्युच्छित्ति नय है और भावार्थिकनय का दूसरा नाम व्युच्छित्तिनय है। इससे भी यही फलित होता है है कि द्रव्य अविच्छिन्न ध्रुव शाश्वत होता है और पर्याय का विच्छेद-नाश होता है अतएव वह अध्रुव अनित्य **अशाश्वत है। जीव और उसके** पर्याय का अर्थात् द्रव्य और पर्याय का परस्पर अभेद और भेद भी इष्ट है। इसीलिए जीव द्रव्य को जैसे शाश्वत और अशाश्वत बताया, इसी प्रकार जीव के नारक, वैमानिक आदि विभिन्न पर्यायों को भी शाश्वत और अशाश्वत बताया है। जैसे जीव को द्रव्य की अपेक्षा से अर्थात् जीव द्रव्य की अपेक्षा से नित्य कहा है वैसे ही नारक को भी जीव द्रव्य की अपेक्षा से नित्य कहा है। और जैसे जीव द्रव्य को नारकादि पर्याय की अपेक्षा से अनित्य कहा है वैसे ही नारक जीव को भी नारकत्वरूप पर्याय की अपेक्षा से अनित्य कहा है—

"नेरइया णं भंते किं सासया असासया ?"
"गोयमा, सिय सासया सिय असासया।"
"से केणट्ठेणं भंते एवं वुच्चइ ?"
"गोयमा, अव्वोच्छित्तिणयट्ठयाए सासया, वोच्छित्तिणयट्ठयाए असासया।........एवं जाव वेमाणिया।" भगवती ७.३.२७९।

जमाली के साथ हुए प्रश्नोत्तरों में भगवान् ने जीव की शाश्वतता के मन्तव्य का जो स्पष्टीकरण किया है, उस से नित्यता से उनका क्या मतलव है व अनित्यता से क्या मतलव है—यह विलकुल स्पष्ट हो जाता है—

"सासए जीवे जमाली, जं न कयाइ णासी, णो कयावि न भवति, ण कयावि ण भविस्सइ, भुविं च भवइ य भविस्सइ य, धुवे णितिए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे। असासए जीवे जमाली, जन्नं नेरइए भवित्ता तिरिक्खजोणिए भवइ तिरिक्खजोणिए भवित्ता मणुस्से भवइ मणुस्से भवित्ता देवे भवइ।"
भगवती ९.६.३८७। १.४.४२।

तीनों काल में ऐसा कोई समय नहीं जब कि जीव न हो। इसीलिए जीव शाश्वत, ध्रुव एवं नित्य कहा जाता है। किन्तु जीव नारक मिट कर तिर्यंच होता है और तिर्यंच मिट कर मनुष्य होता है—इस प्रकार जीव क्रमशः नाना अवस्थाओं को प्राप्त करता है। अतएव उन अवस्थाओं की अपेक्षा से जीव अनित्य अशाश्वत अध्रुव है। अर्थात् अवस्थाओं के नाना होते रहने पर भी जीवत्व कभी लुप्त नहीं होता, पर जीव की अवस्थाएँ लुप्त होती रहती हैं। इसीलिए जीव शाश्वत और अशाश्वत है।

इस व्याकरण में औपनिषद ऋषिसम्मत आत्मा की नित्यता और भौतिकवादिसम्मत आत्मा की अनित्यता के समन्वय का सफल प्रयत्न है। अर्थात् भगवान् बुद्ध के अशाश्वतानुच्छेदवाद के स्थान में शाश्वतोच्छेदवाद की स्पष्टरूप से प्रतिष्ठा की गई है।

जीव की सान्तता-अनन्तता :

जैसे लोक की सान्तता और निरन्तता के प्रश्न को भगवान् बुद्ध ने अव्याकृत बनाया है, वैसे जीव की सान्तता और निरन्तता के प्रश्न के

विषय में उनका मन्तव्य स्पष्ट नहीं है। यदि काल की अपेक्षा से सान्तता-निरन्तता विचारणीय हो, तो तब तो उनका अव्याकृत मत पूर्वोक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है। परन्तु द्रव्य की दृष्टि से या देश की—क्षेत्र की दृष्टि से जीव की सान्तता—निरन्तता के विषय में उनके विचार जानने का कोई साधन नहीं है। जब कि भगवान् महावीर ने जीव की सान्तता-निरन्तता का भी विचार स्पष्ट रूप से किया है, क्योंकि उनके मत से जीव एक स्वतन्त्र तत्त्व रूप से सिद्ध है। इसी से कालकृत नित्यानित्यता की तरह द्रव्य-क्षेत्र-भाव की अपेक्षा से उसकी सान्तता-अनन्तता भी उन को अभिमत है। स्कंदक परिव्राजक का मनोगत प्रश्न जीव की सान्तता-अनन्तता के विषय में था, उसका निराकरण भगवान् महावीर ने इन शब्दों में किया है—

"जे वि य खंदया, जाव सअन्ते जीवे अणंते जीवे तस्सवि य णं एयमट्ठे—एवं खलु जाव दव्वओ णं एगे जीवे सअंते, खेत्तओ णं जीवे असंखेज्जपएसिए असंखेज्ज-पएसोगाढे अत्थि पुण से अंते, कालओ णं जीवे न कयावि न आसि जाव निच्चे नत्थि पुण से अंते, भावओ णं जीवे अणंता णाणपज्जवा अणंता दंसणपज्जवा अणंता चरित्तपज्जवा अणंता अगुरुलहुयपज्जवा नत्थि पुण से अंते।" भगवती २.१.९०।

सारांश यह है कि एक जीव व्यक्ति—

द्रव्य से सान्त।
क्षेत्र से सान्त।
काल से अनन्त और
भाव से अनन्त है।

इस प्रकार जीव सान्त भी है और अनन्त भी है, यह भगवान् महावीर का मन्तव्य है। इसमें काल की दृष्टि से और पर्यायों की अपेक्षा से उसका कोई अन्त नहीं। किन्तु वह द्रव्य और क्षेत्र की अपेक्षा से सान्त है। यह कह करके भगवान् महावीर ने आत्मा के "अणोरणीयान् महतो महीयान्" इस औपनिषद मत का निराकरण किया है। क्षेत्र की दृष्टि से आत्मा की व्यापकता यह भगवान् का मन्तव्य नहीं। और एक आत्मद्रव्य ही सब कुछ है, यह भी भगवान् महावीर को मान्य नहीं।

किन्तु आत्मद्रव्य और उसका क्षेत्र भी मर्यादित है इस वात को स्वीकार कर के उन्होंने उसे सांत कहते हुए भी काल की दृष्टि से अनन्त भी कहा है। और एक दूसरी दृष्टि से भी उन्होंने उसे अनन्त कहा है—जीव के ज्ञान-पर्यायों का कोई अन्त नहीं, उसके दर्शन और चरित्र पर्यायों का भी कोई अन्त नहीं। क्योंकि प्रत्येक क्षण में इन पर्यायों का नया-नया आविर्भाव होता रहता है और पूर्व पर्याय नष्ट होते रहते हैं। इस भाव—पर्याय दृष्टि से भी जीव अनन्त है।

भगवान् बुद्ध का अनेकान्तवाद :

इस प्रकार हम देखते हैं कि भगवान् बुद्ध के सभी अव्याकृत प्रश्नों का व्याकरण भगवान् महावीर ने स्पष्टरूप से विधिमार्ग को स्वीकार कर के किया है और अनेकान्तवाद की प्रतिष्ठा की है। इसका मूल आधार यही है कि एक ही व्यक्ति में अपेक्षा के भेद से अनेक संभवित विरोधी धर्मों की घटना करना। मनुष्य स्वभाव समन्वयशील तो है ही किन्तु सदा सर्वदा कई कारणों से उस स्वभाव का आविर्भाव ठीक रूप से हो नहीं पाता। इसीलिए समन्वय के स्थान में दार्शनिकों में विवाद देखा जाता है। और जहाँ दूसरों को स्पष्ट रूप से समन्वय की संभावना दीखती है, वहाँ भी अपने-अपने पूर्वग्रहों के कारण दार्शनिकों को विरोध की गंध आती है। भगवान् बुद्ध को उक्त प्रश्नों का उत्तर अव्याकृत देना पड़ा उनका कारण यही है कि उनको आध्यात्मिक उन्नति में इन जटिल प्रश्नों की चर्चा निरर्थक प्रतीत हुई। अतएव इन प्रश्नों को सुलझाने का उन्होंने कोई व्यवस्थित प्रयत्न नहीं किया। किन्तु इसका मतलव यह कभी नहीं कि उनके स्वभाव में समन्वय का तत्त्व विलकुल नहीं था। उनकी समन्वय-शीलता सिंह सेनापति के साथ हुए संवाद से स्पष्ट है। भगवान् बुद्ध को अनात्मवादी होने के कारण कुछ लोग अक्रियावादी कहते थे। अतएव सिंह सेनापति ने भगवान् बुद्ध से पूछा कि आपको कुछ, लोग अक्रियावादी कहते हैं, तो क्या यह ठीक है? इसके उत्तर में उन्होंने जो कुछ कहा उसी में उनकी समन्वयशीलता और अनेकान्तवादिता स्पष्ट होती है। उत्तर में उन्होंने कहा कि सच है, मैं अकुशल संस्कार

की अक्रिया का उपदेश देता हूँ इसलिए मैं अक्रियावादी हूँ और कुशल संस्कार की क्रिया मुझे पसंद है और मैं उसका उपदेश देता हूँ इसीलिए मैं क्रियावादी भी हूँ[५५]। इसी समन्वय प्रकृति का प्रदर्शन अन्यत्र दार्शनिक क्षेत्र में भी यदि भगवान् बुद्ध ने किया होता तो उनकी प्रतिभा और प्रज्ञा ने दार्शनिकों के सामने एक नया मार्ग उपस्थित किया होता। किन्तु यह कार्य भगवान् महावीर की शान्त और स्थिर प्रकृति से ही होने वाला था इसलिए भगवान् बुद्ध ने आर्य चतुःसत्य के उपदेश में ही कृतकृत्यता का अनुभव किया। तब भगवान् महावीर ने जो बुद्ध से न हो सका, उसे कर के दिखाया और वे अनेकान्तवाद के प्रज्ञापक हुए।

अब तक मुख्य रूप से भगवान् बुद्ध के अव्याकृत प्रश्नों को लेकर जैनागमाश्रित अनेकान्तवाद की चर्चा की गई है। आगे अन्य प्रश्नों के सम्बन्ध में अनेकान्तवाद के विस्तार की चर्चा करना इष्ट है। परंतु उस चर्चा के प्रारंभ करने के पहले पूर्वोक्त[५६] 'दुःख स्वकृत है या नहीं' इत्यादि प्रश्न का समाधान महावीर ने क्या दिया है, उसे देख लेना उचित है। भगवान् बुद्ध ने तो अपनी प्रकृति के अनुसार उन सभी प्रश्नों का उत्तर निषेधात्मक दिया है, क्योंकि ऐसा न कहते तो उनको उच्छेदवाद और शाश्वतवाद की आपत्ति का भय था। किन्तु भगवान् का मार्ग तो शाश्वतवाद और उच्छेदवाद के समन्वय का मार्ग है अतएव उन प्रश्नों का समाधान विधिरूप से करने में उनको कोई भय नहीं था। उनसे प्रश्न किया गया कि क्या कर्म का कर्ता स्वयं है, अन्य है या उभय है? इसके उत्तर में भगवान् महावीर ने कहा कि कर्म का कर्त्ता आत्मा स्वयं है, पर नहीं है और न स्वपरोभय[५७]। जिसने कर्म किया है, वही उसका भोक्ता है यह मानने में ऐकान्तिक शाश्वतवाद की आपत्ति भगवान् महावीर के मत में नहीं आती; क्यों कि जिस अवस्था में किया था, उससे दूसरी ही अवस्था में कर्म का फल भोगा जाता है। तथा भोक्तृत्व

[५५] विनयपिटक महावग्ग VI. 31. और अंगुत्तरनिकाय Part IV. p. 179.

[५६] पृ० ७.

[५७] भगवती १.६.५२.

अवस्था से कर्मकर्तृत्व अवस्था का भेद होने पर भी ऐकान्तिक उच्छेद-वाद की आपत्ति इसलिए नहीं आती कि भेद होते हुए भी जीवद्रव्य दोनों अवस्था में एक ही मौजूद है।

द्रव्य-विचार :

द्रव्य और पर्याय का भेदाभेद—भगवती में द्रव्य के विचार प्रसंग में कहा है कि द्रव्य दो प्रकार का है[७८]—

१. जीव द्रव्य

२. अजीव द्रव्य।

अजीव द्रव्य के भेद-प्रभेद इस प्रकार हैं—
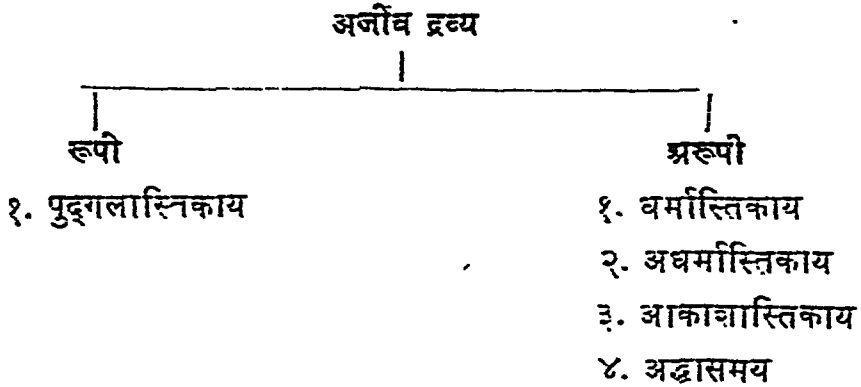
सब मिलाकर छः द्रव्य होते हैं। १ धर्मास्तिकाय, २ अधर्मास्तिकाय, ३ आकाशास्तिकाय, ४ जीवास्तिकाय, ५ पुद्गलास्तिकाय और ६ काल (अद्धासमय)।

इनमें से पाँच द्रव्य अस्तिकाय कहे जाते हैं[७९]। क्यों कि इनमें प्रदेशों के समूह के कारण अवयवी द्रव्य की कल्पना संभव है।

पर्याय-विचार में पर्यायों के भी दो भेद बताए हैं[८०]—

१ जीव-पर्याय और

२ अजीव-पर्याय

---

[७८] भगवती २५.२.; २५.४.

[७९] भगवती २.१०.११७। स्थानांग सू० ४४१.

[८०] भगवती २५.५.। प्रज्ञापना पद ५.

पर्याय अर्थात् विशेष समझना चाहिए।

सामान्य-द्रव्य दो प्रकार का है—तिर्यग् और ऊर्ध्वता। जब कालकृत नाना अवस्थाओं में किसी द्रव्य विशेष का एकत्व या अन्वय या अविच्छेद या ध्रुवत्व विवक्षित हो, तब उस एक अन्वित अविच्छिन्न ध्रुव या शाश्वत अंश को ऊर्ध्वता सामान्यरूप द्रव्य कहा जाता है। एक ही काल में स्थित नाना देश में वर्तमान नाना द्रव्यों में या द्रव्यविशेषों में जो समानता अनुभूत होती है वही तिर्यग्सामान्य द्रव्य है।

जब यह कहा जाता है, कि जीव भी द्रव्य है, धर्मास्तिकाय भी द्रव्य है, अधर्मास्तिकाय भी द्रव्य है इत्यादि; या यह कहा जाता है कि द्रव्य दो प्रकार का है—जीव और अजीव। या यों कहा जाता है कि द्रव्य छह प्रकार का है—धर्मास्तिकाय आदि; तब इन सभी वाक्यों में द्रव्य का अर्थ तिर्यग्सामान्य है। और जब यह कहा जाता है, कि जीव दो प्रकार का है[६१] संसारी और सिद्ध; संसारी जीव के पाँच भेद[६२] हैं—एकेन्द्रियादि; पुद्गल चार प्रकार का है—स्कंध, स्कंधदेश, स्कंधप्रदेश और परमाणु इत्यादि, तब इन वाक्यों में जीव और पुद्गल शब्द तिर्यग्सामान्यरूप द्रव्य के बोधक हैं।

परन्तु जब यह कहा जाता है, कि जीव द्रव्यार्थिक से शाश्वत है और भावार्थिक से अशाश्वत है[६३]—तब जीव द्रव्य का मतलब ऊर्ध्वता-सामान्य से है। इसी प्रकार जब यह कहा जाता है कि अव्युच्छित्तिनय की अपेक्षा से, नारक[६४] शाश्वत है, तब अव्युच्छित्तिनयका विषय जीव भी ऊर्ध्वतासामान्य ही अभिप्रेत है। इसी प्रकार एक जीव की जब गति आगति का विचार होता है अर्थात् जीव मरकर कहाँ जाता है[६५] या जन्म के समय वह कहाँ से आता है इत्यादि विचार-प्रसंग में सामान्य जीव

---

[६१] भगवती १.१.१७. १.८.७२.

[६२] प्रज्ञापनापद १. स्थानांग सू० ४५८.

[६३] भगवती ७.२.२७३.

[६४] भगवती ७.३.२७९.

[६५] भगवती शतक. २४.

शब्द या जीव विशेष नारकादि शब्द भी ऊर्ध्वता सामान्य रूप जीव द्रव्य के ही बोधक हैं।

जब यह कहा जाता है कि पुद्गल तीन प्रकार का है[६६]—प्रयोग-परिणत, मिश्रपरिणत और विस्रसापरिणत; तब पुद्गल शब्द का अर्थ तिर्यग्सामान्य रूप द्रव्य है। किन्तु जब यह कहा जाता है कि पुद्गल अतीत, वर्तमान और अनागत तीनों कालों में शाश्वत है,[६७] तब पुद्गल शब्द से ऊर्ध्वता सामान्य रूप द्रव्य विवक्षित है। इसी प्रकार जब एक ही परमाणु पुद्गल के विषय में यह कहा जाता है कि वह द्रव्यार्थिक दृष्टि से शाश्वत है,[६८] तब वहाँ परमाणु पुद्गलद्रव्य शब्द से ऊर्ध्वता सामान्य द्रव्य अभिप्रेत है।

पर्याय-विचार :

जैसे सामान्य दो प्रकार का है, वैसे पर्याय भी दो प्रकार का है। तिर्यग्द्रव्य या तिर्यग्सामान्य के आश्रय से जो विशेष विवक्षित हों, वे तिर्यक् पर्याय हैं और ऊर्ध्वता सामान्य रूप ध्रुव शाश्वत द्रव्य के आश्रय से जो पर्याय विवक्षित हों, वे ऊर्ध्वतापर्याय हैं। नाना देश में स्वतन्त्र पृथक् पृथक् जो द्रव्य विशेष या व्यक्तियाँ हैं, वे तिर्यग्द्रव्य की पर्यायें हैं. उन्हें विशेष भी कहा जाता है। और नाना काल में एक ही शाश्वत द्रव्य की—ऊर्ध्वतासामान्य की जो नाना अवस्थाएँ हैं, जो नाना विशेष हैं, वे ऊर्ध्वता सामान्य रूप द्रव्य के पर्याय हैं उन्हें परिणाम भी कहा जाता है। 'पर्याय' एवं 'विशेष' शब्द के द्वारा उक्त दोनों प्रकार की पर्यायों का बोध आगमों में कराया गया है। किन्तु परिणाम शब्द का प्रयोग केवल ऊर्ध्वतासामान्यरूप द्रव्य के पर्यायों के अर्थ में ही किया गया है।

गौतम ने जब भगवान् से पूछा कि जीवपर्याय कितने हैं—संख्यात, असंख्यात, या अनन्त? तब भगवान् ने उत्तर दिया कि जीवपर्याय अनन्त हैं। ऐसा कहने का कारण बताते हुए उन्होंने कहा है कि असंख्यात नारक हैं, असंख्यात असुर कुमार हैं, यावत् असंख्यात स्तनित

[६६] भगवती ८.१.
[६७] भगवती १.४.४२.
[६८] भगवती १४.४.५१२.

कुमार हैं, असंख्यात पृथ्वीकाय हैं यावत् असंख्यात वायुकाय हैं, अनन्त वनस्पतिकाय हैं, असंख्यात द्वीन्द्रिय हैं यावत् असंख्यात मनुष्य हैं, असंख्यात वानव्यंतर हैं यावत् अनन्त सिद्ध हैं। इसीलिए जीवपर्याय अनन्त हैं। यह कथन प्रज्ञापना के **विशेष** पद में तथा भगवती में (२५.५) है। भगवती में (२५.२) जहाँ द्रव्य के भेदों की चर्चा है, वहाँ उन भेदों को प्रज्ञापना-गत पर्यायभेदों के समान समझ लेने को कहा है। तथा जीव और अजीव के पर्यायों की ही चर्चा करने वाले समूचे उस प्रज्ञापना के पद का नाम **विशेषपद** दिया गया है। इस से यही फलित होता है कि प्रस्तुत चर्चा में पर्याय शब्द का अर्थ विशेष है अर्थात् तिर्यक् सामान्य की अपेक्षा से जो पर्याय हैं अर्थात् विशेष विशेष व्यक्तियाँ हैं, वे ही पर्याय हैं। सारांश यह है कि समस्त जीव गिने जाएँ तो वे अनन्त होते हैं अतएव जीवपर्याय अनन्त कहे गए हैं। स्पष्ट है कि ये पर्याय तिर्यग्सामान्य की दृष्टि से गिनाए गए हैं।

प्रस्तुत में पर्याय शब्द तिर्यग्सामान्य के विशेष का वाचक है। यह बात अजीव पर्यायों की गिनती से भी स्पष्ट होती है। अजीव पर्यायों की गणना निम्नानुसार है—(प्रज्ञापना पद ५)

अजीव पर्याय

किन्तु जीवविशेषों में अर्थात् नारक, देव, मनुष्य, तिर्यंच और सिद्धों में जब पर्याय का विचार होता है, तब विचार का आधार बिलकुल बदल जाता है। यदि उन विशेषों की असंख्यात या अनन्त संख्या के अनुसार उनके असंख्यात या अनन्त पर्याय कहे जाएँ तो यह तिर्यग्सामान्य की दृष्टि से पर्यायों का कथन समझना चाहिए परंतु भगवान् ने उन जीवविशेषों के पर्याय के प्रश्न में सर्वत्र अनन्त पर्याय ही बताए हैं।[६९] नारक जीव व्यक्तिशः असंख्यात ही हैं, अनन्त नहीं, तो फिर उनके अनन्त पर्याय कैसे? नारकादि सभी जीवविशेषों के अनन्त पर्याय ही भगवान् ने बताए हैं; तो इस पर से यह समझना चाहिए कि प्रस्तुत प्रसंग में पर्यायों की गिनती का आधार बदल गया है। जीव-सामान्य के अनन्तपर्यायों का कथन तिर्यग्सामान्य के पर्याय की दृष्टि से किया गया है, जब कि जीवविशेष नारकादि के अनन्त पर्याय का कथन **ऊर्ध्वतासामान्य** को लेकर किया गया है, यह मानना पड़ता है। किसी एक नारक के अनन्तपर्याय घटित हो सकते हैं, इस बात का स्पष्टीकरण यों किया गया है—

"एक नारक दूसरे नारक से द्रव्य की दृष्टि से तुल्य है, प्रदेशों की अपेक्षा से भी तुल्य, है, अवगाहना की अपेक्षा से स्यात् चतुःस्थान से हीन, स्यात् तुल्य, स्यात् चतुःस्थान से अधिक है; स्थिति की अपेक्षा से अवगाहना के समान है, किन्तु श्याम वर्ण पर्याय की अपेक्षा से स्यात् षट्स्थानसे हीन, स्यात् तुल्य, स्यात् षट्स्थान से अधिक है। इसी प्रकार शेष वर्णपर्याय, दोनों गंध पर्याय, पांचों रस पर्याय, आठों स्पर्श पर्याय, मतिज्ञान और अज्ञान पर्याय, श्रुतज्ञान और अज्ञानपर्याय, अवधि और विभंगपर्याय, चक्षुर्दर्शनपर्याय, अचक्षुर्दर्शनपर्याय, अवधिदर्शनपर्याय—इन सभी पर्यायों की अपेक्षा से स्यात् षट्स्थान पतित हीन है, स्यात् तुल्य है, स्यात् षट्स्थान पतित अधिक है। इसीलिए नारक के अनन्त पर्याय कहे जाते हैं।" प्रज्ञापना पद ५।

कहने का तात्पर्य यह है कि एक नारक जीव द्रव्य की दृष्टि से दूसरे के समान है। दोनों के आत्म प्रदेश भी असंख्यात होने से समान

---

[६९] प्रज्ञापना-पद ५.

है, अतएव उस दृष्टि से भी दोनों में कोई विशेषता नहीं। एक नारक का शरीर दूसरे नारक से छोटा भी हो सकता है और बड़ा भी हो सकता है, और समान भी हो सकता है। यदि शरीर में असमानता हो, तो उसके प्रकार असंख्यात हो सकते हैं, क्यों कि अवगाहना सर्व जघन्य हो तो अंगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण होगी। क्रमशः एक-एक भाग की वृद्धि से उत्कृष्ट ५०० धनुष प्रमाण तक पहुँचती है। उतने में असंख्यात प्रकार होंगे। इसलिए अवगाहना की दृष्टि से नारक के असंख्यात प्रकार हो सकते हैं। यही बात आयु के विषय में भी कही जा सकती है। किन्तु नारक के जो अनन्त पर्याय कहे जाते हैं, उस का कारण तो दूसरा ही है। वर्ण, गंध, रस, स्पर्श ये वस्तुतः पुद्गल के गुण हैं किन्तु संसारी अवस्था में शरीररूप पुद्गल का आत्मा से अभेद माना जाता है। अतएव यदि वर्णादि को भी नारक के पर्याय मानकर सोचा जाए, तथा मतिज्ञानादि जो कि आत्मा के गुण हैं, उनकी दृष्टि से सोचा जाए तब नारक के अनन्तपर्याय सिद्ध होते हैं। इसका कारण यह है कि किसी भी गुण के अनन्त भेद माने गए हैं। जैसे कोई एक गुण श्याम हो दूसरा द्विगुण श्याम हो, तीसरा त्रिगुण श्याम हो; यावत् अनन्तवाँ अनन्त गुणश्याम हो। इसी प्रकार शेष वर्ण और गंधादि के विषय में भी घटाया जा सकता है। इसी प्रकार आत्मा के ज्ञानादि गुण की तरतमता की मात्राओं का विचार कर के भी अनन्तप्रकारता की उपपत्ति की जाती है। अब प्रश्न यह है कि नारक जीव तो असंख्यात ही हैं, तब उनमें वर्णादि को लेकर एककाल में अनन्त प्रकार कैसे घटाए जाएँ। इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिए कालभेद को बीच में लाना पड़ता है। अर्थात् काल भेद से नारकों में ये अनन्त प्रकार घट सकते हैं। कालभेद ही तो ऊर्ध्वता-सामान्याश्रित पर्यायों के विचार में मुख्य आधार है। एक जीव कालभेद से जिन नाना पर्यायों को धारण करता है, उन्हें ऊर्ध्वता-सामान्याश्रित पर्याय समझना चाहिए।

जीव और अजीव के जो ऊर्ध्वता-सामान्याश्रित पर्याय होते हैं,

उन्हें परिणाम कहा जाता है। ऐसे परिणामों का जिक्र भगवती में तथा प्रज्ञापना के परिणामपद में किया गया है[७०]—

परिणाम

१. जीव-परिणाम	२. अजीव-परिणाम
१. गतिपरिणाम ४	१. बंधनपरिणाम २
२. इन्द्रियपरिणाम ५	२. गतिपरिणाम २
३. कषायपरिणाम ४	३. संस्थानपरिणाम ५
४. लेश्यापरिणाम ६	४. भेदपरिणाम ५
५. योगपरिणाम ३	५. वर्णपरिणाम ५
६. उपयोगपरिणाम २	६. गंधपरिणाम ३
७. ज्ञानपरिणाम ५+३	७. रसपरिणाम ५
८. दर्शनपरिणाम ३	८. स्पर्शपरिणाम ८
९. चारित्रपरिणाम ५	९. अगुरुलघुपरिणाम १
१०. वेदपरिणाम ३	१०. शब्दपरिणाम २

जीव और अजीव के उपर्युक्त परिणामों के प्रकार एक जीव में या एक अजीव में क्रमशः या अक्रमशः यथायोग्य होते हैं। जैसे किसी एक विवक्षित जीव में मनुष्य गति पंचेन्द्रियत्व अनन्तानुबन्धी कषाय कृष्णलेश्या काययोग, साकारोपयोगमत्यज्ञान, मिथ्यादर्शन, अविरति और नपुंसकवेद ये सभी परिणाम युगपत् हैं। किन्तु कुछ परिणाम क्रमभावी हैं। जब जीव मनुष्य होता है, तब नारक नहीं। किन्तु बाद में कर्मानुसार वही जीव मरकर नारक परिणामरूप गति को प्राप्त करता है। इसी प्रकार वह कभी देव या तिर्यंच भी होता है। कभी एकेन्द्रिय और कभी द्वीन्द्रिय। इस प्रकार ये परिणाम एक जीव में क्रमशः ही हैं।

वस्तुतः परिणाम मात्र क्रमभावी ही होते हैं। ऐसा संभव है कि अनेक परिणामों का काल एक हो, किन्तु कोई भी परिणाम द्रव्य में

---

[७०] भगवती १४.४. प्रज्ञापना-पद १३.

सदा नहीं रहते। द्रव्य परिणामों का स्वीकार और त्याग करता है। वस्तुतः यों कहना चाहिए कि द्रव्य, फिर भले ही वह जीव हो या अजीव स्व-स्व परिणामों में कालभेद से परिणत होता रहता है। इसीलिए वे द्रव्य के पर्याय या परिणाम कहे जाते हैं।

विशेष भी पर्याय हैं और परिणाम भी पर्याय हैं, क्यों कि विशेष भी स्थायी नहीं और परिणाम भी स्थायी नहीं। तिर्यग्सामान्य जीवद्रव्य स्थायी है, किन्तु एक काल में वर्तमान पाँच मनुष्य जिन्हें हम जीवद्रव्य के विशेष कहते हैं स्थायी नहीं हैं। इसी प्रकार एक ही जीव के क्रमिक नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देवरूप परिणाम भी स्थायी नहीं। अतएव परिणाम और विशेष दोनों अस्थिरता के कारण वस्तुतः पर्याय ही हैं। यदि दैशिक विस्तार की ओर हमारा ध्यान हो, तो नाना द्रव्यों के एक कालीन नाना पर्यायों की ओर हमारा ध्यान जाएगा पर काल-विस्तार की ओर हम ध्यान दें तो एक द्रव्य के या अनेक द्रव्यों के क्रमवर्ती नाना पर्यायों की ओर हमारा ध्यान जाएगा। दोनों परि-स्थितियों में हम द्रव्यों के किसी ऐसे रूप को देखते हैं, जो रूप स्थायी नहीं होता। अतएव उन अस्थायी दृश्यमान रूपों को पर्याय ही कहना उचित है। इसीलिए आगम में विशेषों को तथा परिणामों को पर्याय कहा गया है। हम जिन्हें काल दृष्टि से परिणाम कहते हैं, वस्तुतः वे ही देश की दृष्टि से विशेष हैं।

भगवान् बुद्ध ने पर्यायों को प्राधान्य देकर द्रव्य जैसी त्रैकालिक स्थिर वस्तु का निषेध किया। इसीलिए वे ज्ञानरूप पर्याय का अस्तित्व स्वीकार करते हैं, पर ज्ञानपर्यायविशिष्ट आत्मद्रव्य को नहीं मानते। इसी प्रकार रूप मानते हुए भी वे रूपवत् स्थायीद्रव्य नहीं मानते। इसके विपरीत उपनिषदों में कूटस्थ ब्रह्मवाद का आश्रय लेकर उसके दृश्यमान विविध पर्याय या परिणामों को मायिक या अविद्या का विलास कहा है।

इन दोनों विरोधी वादों का समन्वय द्रव्य और पर्याय दोनों की पारमार्थिक सत्ता का समर्थन करने वाले भगवान् महावीर के वाद में है। उपनिषदों में प्राचीन सांख्यों के अनुसार प्रकृति परिणामवाद है,

किन्तु आत्मा तो कूटस्थ ही माना गया है। इसके विपरीत भगवान् महावीर ने आत्मा और जड़ दोनों में परिणमन-शीलता का स्वीकार करके परिणामवाद को सर्वव्यापी करार दिया है।

द्रव्य-पर्याय का भेदाभेद :

द्रव्य और पर्याय का भेद है या अभेद—इस प्रश्न को लेकर भगवान् महावीर के जो विचार हैं उनकी विवेचना करना यहाँ पर अब प्राप्त है—

भगवती-सूत्र में पार्श्व-शिष्यों और महावीर-शिष्यों में हुए एक विवाद का जिक्र है। पार्श्वशिष्यों का कहना था कि अपने प्रतिपक्षी सामायिक और उसका अर्थ नहीं जानते। तब प्रति-पक्षी श्रमणों ने उन्हें समझाया कि—

"आया णे अज्जो, सामाइए, आया णें अज्जो, सामाइयस्स अट्ठे।"

भगवती १.९.७७

अर्थात् आत्मा ही सामायिक है और आत्मा ही सामायिक का अर्थ है।

आत्मा द्रव्य है और सामायिक उसका पर्याय। उक्त वाक्य से यह फलित होता है कि भगवान् महावीर ने द्रव्य और पर्याय के अभेद का समर्थन किया था, किन्तु उनका अभेद समर्थन आपेक्षिक है। अर्थात् द्रव्य-दृष्टि की प्रधानता से द्रव्य और पर्याय में अभेद है, यह उनका मत होना चाहिए, क्यों कि अन्यत्र उन्होंने पर्याय और द्रव्य के भेद का भी समर्थन किया है। और स्पष्ट किया है कि अस्थिर पर्याय के नाश होने पर भी द्रव्य स्थिर रहता है[७१]। यदि द्रव्य और पर्याय का ऐकान्तिक अभेद इष्ट होता तो वे पर्याय के नाश के साथ तदभिन्न द्रव्य का भी नाश प्रतिपादित करते। अतएव इस दूसरे प्रसंग में पर्याय-दृष्टि की प्रधानता से द्रव्य और पर्याय के भेद का समर्थन और प्रथम प्रसंग में द्रव्य-दृष्टि

---

[७१] **"से नूणं भंते अथिरे पलोट्टइ नो थिरे पलोट्टइ अथिरे भज्जइ, नो थिरे भज्जइ, सासए बाले बालियत्तं असासयं, सासए पंडिए पंडियत्तं असासयं ? हंता गोयमा ! अथिरे पलोट्टइ जाव पंडियत्तं असासयं।"** भगवती—१.९.८०.

के प्राधान्य से द्रव्य और पर्याय के अभेद का समर्थन किया है। इस प्रकार अनेकान्तवाद की प्रतिष्ठा इस विषय में भी की है, यह ही मानना चाहिए।

आत्म-द्रव्य और उसके ज्ञान-परिणाम को भी भगवान् महावीर ने द्रव्य-दृष्टि से अभिन्न बताया है जिसका पता आचारांग और भगवती के वाक्यों से चलता है—

"जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया। जेण विजाणइ से आया।"
आचारांग—१.५.५.

"आया भंते, नाणे अन्नाणे ?" गोयमा, आया सिय नाणे सिय अन्नाणे; नाणे पुण नियमं आया।" **भगवती—१२.१०.४६८**

ज्ञान तो आत्मा का एक परिणाम है, जो सदा बदलता रहता है। इससे ज्ञान का आत्मा से भेद भी माना गया है। क्यों कि एकान्त अभेद होता तो ज्ञान विशेष के नाश के साथ आत्मा का नाश भी मानना प्राप्त होता। इसलिए पर्याय-दृष्टि से आत्मा और ज्ञान का भेद भी है। इस बात का स्पष्टीकरण भगवतीगत आत्मा के आठ भेदों से हो जाता है। उसके अनुसार परिणामों के भेद से आत्मा का भेद मानकर, आत्मा के आठभेद माने गये हैं—

"कइविहा णं भंते आया पण्णत्ता ?" गोयमा, अट्ठविहा आया पण्णत्ता। तं जहा दवियाया, कसायाया, योगाया, उवयोगाया, णाणाया दंसणाया, चरित्ताया, वीरियाया॥"

भगवती—१२.१०.४६७

इन आठ प्रकारों में द्रव्यात्मा को छोड़ कर बाकी के सात आत्म-भेद कपाय, योग, उपयोग, ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्य रूप पर्यायों को लेकर किए गए हैं। इस विवेचन में द्रव्य और पर्यायों को भिन्न माना गया है, अन्यथा उक्त सूत्र के अनन्तर प्रत्येक जीव में उपर्युक्त आठ आत्माओं के अस्तित्त्व के विपय में आने वाले प्रश्नोत्तर संगत नहीं हो सकते। 'प्रश्न—जिस को द्रव्यात्मा है, क्या उसको कषायात्मा आदि हैं या

नहीं ? या जिसको कषायात्मा हैं, उसको द्रव्यात्मा आदि हैं या नहीं। उत्तर—द्रव्यात्मा के होने पर यथायोग्य कषायात्मा आदि होते भी हैं और नहीं भी होते, किन्तु कषायात्मा आदि के होने पर द्रव्यात्मा अवश्य होती है। इसलिए यही मानना पड़ता है कि उक्त चर्चा द्रव्य और पर्याय के भेद को ही सूचित करती है।

प्रस्तुत द्रव्य-पर्याय के भेदाभेद का अनेकान्तवाद भी भगवान् महावीर ने स्पष्ट किया है, यह अन्यत्र आगम-वाक्यों से भी स्पष्ट हो जाता है।[७२]

जीव और अजीव की एकानेकता :

एक ही वस्तु में एकता और अनेकता का समन्वय भी भगवान् महावीर के उपदेश से फलित होता है। सोमिल ब्राह्मण ने भगवान् महावीर से उनकी एकता-अनेकता का प्रश्न किया था। उस का जो उत्तर भगवान् महावीर ने दिया है, उससे इस विषय में उन की अनेकान्त-वादिता स्पष्ट हो जाती है—

"सोमिला दव्वट्ठयाए एगे अहं, नाणदंसणट्ठयाए दुविहे अहं, पएसट्ठयाए अक्खए वि अहं, अव्वए वि अहं, अवट्ठिए वि अहं, उवयोगट्ठयाए अणेग-भूयभावभविए वि अहं।" भगवती १८.१०

अर्थात् सोमिल, द्रव्यदृष्टि से मैं एक हूँ। ज्ञान और दर्शन रूप दो पर्यायों के प्राधान्य से मैं दो हूँ। कभी न्यूनाधिक नहीं होने वाले प्रदेशों की दृष्टि से मैं अक्षय हूँ, अव्यय हूँ एवं अवस्थित हूँ। तीनों काल में बदलते रहने वाले उपयोग स्वभाव की दृष्टि से मैं अनेक हूँ।

इसी प्रकार अजीव द्रव्यों में भी एकता-अनेकता के अनेकान्त को भगवान ने स्वीकार किया है। इस बात की प्रतीति प्रज्ञापना के अल्प-बहुत्व पद से होती है, जहाँ कि छहों द्रव्यों में पारस्परिक न्यूनता, तुल्यता और अधिकता का विचार किया है। उस प्रसंग में निम्न वाक्य आया है—

"गोयमा, सव्वत्थोवे एगे धम्मत्थिकाए दव्वट्ठयाए, से चेव पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणे।······सव्वत्थोवे पोग्गलत्थिकाए दव्वट्ठयाए, से चेव पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणे।" प्रज्ञापनापद—३. सू० ५६।

---

[७२] भगवती १६.

धर्मास्तिकाय को द्रव्यदृष्टि से एक होने के कारण सर्वस्तोक कहा और उसी एक धर्मास्तिकाय को अपने ही से असंख्यात गुण भी कहा, क्योंकि द्रव्यदृष्टि के प्राधान्य से एक होते हुए भी प्रदेश के प्राधान्य से धर्मास्तिकाय असंख्यात भी है। यही बात अधर्मास्तिकाय को भी लागू की गई है। अर्थात् वह भी द्रव्यदृष्टि से एक और प्रदेशदृष्टि से असंख्यात है। आकाश द्रव्यदृष्टि से एक होते हुए भी अनन्त है, क्योंकि उसके प्रदेश अनंत हैं। संख्या में पुद्गल द्रव्य अल्प हैं, जब कि उनके प्रदेश असंख्यातगुण हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जीव और अजीव दोनों में अपेक्षा भेद से एकत्व और अनेकत्व का समन्वय करने का स्पष्ट प्रयत्न भगवान् महावीर ने किया है।

इस अनेकान्त में ब्रह्म-तत्त्व की ऐकान्तिक निरंशता और एकता तथा बौद्धों के समुदायवाद की ऐकान्तिक सांशता और अनेकता का समन्वय किया गया है, परन्तु उस जमाने में एक लोकायत मत ऐसा भी था जो सबको एक मानता था, जब कि दूसरा लोकायत मत सबको पृथक् मानता था[७३]। इन दोनों लोकायतों का समन्वय भी प्रस्तुत एकता-अनेकता के अनेकान्तवाद में हो, तो कोई आश्चर्य नहीं। भगवान् बुद्ध ने उन दोनों लोकायतों का अस्वीकार किया है, तब भगवान् महावीर ने दोनों का समन्वय किया हो, तो यह स्वाभाविक है।

परमाणु की नित्यानित्यता :

सामान्यतया दार्शनिकों में परमाणु शब्द का अर्थ रूपरसादियुक्त परम अपकृष्ट द्रव्य—जैसे पृथ्वीपरमाणु आदि लिया जाता है, जो कि जड़—अजीव द्रव्य है। परन्तु परमाणु शब्द का अंतिम सूक्ष्मत्व मात्र अर्थ लेकर जैनागमों में परमाणु के चार भेद भगवान् महावीर ने बताए हैं—

"गोयमा, चउव्विहे परमाणू पन्नत्ते तंजहा—१ दव्वपरमाणू, २ खेत्तपरमाणू ३ कालपरमाणू ४ भावपरमाणू।" भगवती २०.५.

---

[७३] "सब्बं एकत्तंति खो ब्राह्मण ततियं एतं लोकायतं।"......"सब्बं पुथुत्तं ति खो ब्राह्मण चतुत्थं एतं लोकायतं। एते ब्राह्मण उभो अन्ते अनुपगम्म मज्झेन तथागतो धम्मं देसेति। अविज्जापच्चया संखारा......" संयुत्तनिकाय XII. 48.

अर्थात् परमाणु चार प्रकार के हैं

१. द्रव्य-परमाणु
२. क्षेत्र-परमाणु
३. काल-परमाणु
४. भाव-परमाणु

वर्णादिपर्याय की अविवक्षा से सूक्ष्मतम द्रव्य परमाणु कहा जाता है। यही पुद्गल परमाणु है जिसे अन्य दार्शनिकोंने भी परमाणु कहा है,आकाश द्रव्य का सूक्ष्मतम प्रदेश क्षेत्रपरमाणु है। सूक्ष्मतम समय कालपरमाणु है। जब द्रव्य परमाणु में रूपादिपर्याय प्रधानतया विवक्षित हों, तब वह भावपरमाणु है।

द्रव्य परमाणु अच्छेद्य, अभेद्य, अदाह्य और अग्राह्य है। क्षेत्र-परमाणु अनर्ध, अमध्य, अप्रदेश और अविभाग है। कालपरमाणु अवर्ण, अगंध, अरस और अस्पर्श है। भावपरमाणु वर्ण, गंध, रस और स्पर्श-युक्त है।[७८]

दूसरे दार्शनिकों ने द्रव्यपरमाणु को एकान्त नित्य माना है, तब भगवान् महावीर ने उसे स्पष्ट रूप से नित्यानित्य बताया है—

"परमाणुपोग्गले णं भंते किं सासए असासए ?"
"गोयमा, सिय सासए सिए असासए"।
"से केणट्ठेणं ?"
"गोयमा, दव्वट्ठयाए सासए वन्नपज्जवेहिं जाव फासपज्जवेहिं असासए।"

भगवती—१४.४.५१२,

अर्थात् परमाणु पुद्गल द्रव्यदृष्टि से शाश्वत है और वही वर्ण, रस, गंध और स्पर्श पर्यायों की अपेक्षा से अशाश्वत है।

अन्यत्र द्रव्यदृष्टि से परमाणु की शाश्वतता का प्रतिपादन इन शब्दों में किया है—

"एस णं भंते, पोग्गले तीतमणंतं सासयं समयं भुवीति वत्तव्वं सिया ?"
"हंता गोयमा, एस णं पोग्गले⋯⋯सिया।"

---

[७८] भगवती २०.५.

"एस णं भंते, पोग्गले पडुप्पन्नं सासयं समयं भवतीति वत्तव्वं सिया ?"
"हंता गोयमा !"
"एस णं भंते ! पोग्गले अणागयमणंतं सासयं समयं भविस्सतीति वत्तव्वं सिया ?" "हंता गोयमा !" भगवती. १४. ४. ५१०

तात्पर्य इतना ही है कि तीनों काल में ऐसा कोई समय नहीं जब पुद्गल का सातत्य न हो। इस प्रकार पुद्गल द्रव्य की नित्यता का द्रव्यदृष्टि से प्रतिपादन कर के उसकी अनित्यता कैसे है इसका भी प्रतिपादन भगवान् महावीर ने किया है—

"एस णं भंते पोग्गले तीतमणंतं सासयं समयं लुक्खी, समयं अलुक्खी, समयं लुक्खी वा अलुक्खी वा ? पुव्विं च णं कारणेणं अणेगवन्नं अणेगरूवं परिणामं परिणमति, अह से परिणामे निज्जन्ने भवति तओ पच्छा एगवन्ने एगरूवे सिया ?"
"हंता गोयमा !······एगरूवे सिया।" भगवती १४.४.५१०.

अर्थात् ऐसा संभव है कि अतीत काल में किसी एक समय में जो पुद्गल परमाणु रूक्ष हो, वही अन्य समय में अरूक्ष हो। पुद्गल स्कंध भी ऐसा हो सकता है। इसके अलावा वह एक देश से रूक्ष और दूसरे देश से अरूक्ष भी एक ही समय में हो सकता है। यह भी संभव है कि स्वभाव से या अन्य के प्रयोग के द्वारा किसी पुद्गल में अनेकवर्ण-परिणाम हो जाएँ और वैसा परिणाम नष्ट होकर बाद में एकवर्ण-परिणाम भी उसमें हो जाए। इस प्रकार पर्यायों के परिवर्तन के कारण पुद्गल की अनित्यता भी सिद्ध होती है और अनित्यता के होते हुए भी उसकी नित्यता में कोई बाधा नहीं आती। इस बात को भी तीनों काल में पुद्गल की सत्ता बता कर भगवान् महावीर ने स्पष्ट किया है— भगवती १४.४,५१०।

अस्ति-नास्ति का अनेकान्त :

'सर्वं अस्ति' यह एक अन्त है, 'सर्वं नास्ति' यह दूसरा अन्त है। भगवान् बुद्ध ने इन दोनों अन्तों का अस्वीकार कर के मध्यममार्ग का अवलंबन करके प्रतीत्यसमुत्पाद का उपदेश दिया है, कि अविद्या होने से संस्कार है इत्यादि—

"सब्बं अत्थीति खो ब्राह्मण अयं एको अन्तो।......सब्बं नत्थीति खो ब्राह्मण अयं दुतियो अन्तो। एते ते ब्राह्मण उभो अन्ते अनुपगम्म मज्झेन तथागतो धम्मं देसेति-अविज्जापच्चया संखारा......" संयुत्तनिकाय XII 47

अन्यत्र भगवान् बुद्ध ने उक्त दोनों अन्तों को लोकायत बताया है—वही XII 48.

इस विषय में प्रथम तो यह बताना आवश्यक है कि भगवान् महावीर ने सर्वं अस्ति' का आग्रह नहीं रखा है किन्तु जो 'अस्ति' है उसे ही उन्होंने 'अस्ति' कहा है और जो नास्ति है उसे ही 'नास्ति' कहा है। 'सर्व नास्ति' का सिद्धान्त उनको मान्य नहीं। इस बात का स्पष्टीकरण गौतम गणधर ने भगवान् महावीर के उपदेशानुसार अन्य तीर्थिकों के प्रश्नों के उत्तर देते समय किया है—

"नो खलु वयं देवाणुप्पिया, अत्थिभावं नत्थित्ति वदामो, नत्थिभावं अत्थित्ति वदामो। अम्हे णं देवाणुप्पिया! सव्वं अत्थिभावं अत्थीति वदामो, सव्वं नत्थिभावं नत्थीति वदामो।" भगवती ७.१०.३०४.

भगवान् महावीर ने अस्तित्व और नास्तित्व दोनों का परिणमन स्वीकार किया है। इतना ही नहीं, किन्तु अपनी आत्मा में अस्तित्व और नास्तित्व दोनों के स्वीकारपूर्वक दोनों के परिणमन को भी स्वीकार किया है। इस से अस्ति और नास्ति के अनेकान्तवाद की सूचना उन्होंने की है यह स्पष्ट है।

"से नूणं भंते, अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमइ, नत्थित्तं नत्थित्ते परिणमइ?"
"हंता गोयमा!......परिणमइ।"
"जण्णं भंते, अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमइ नत्थित्तं नत्थित्ते परिणमइ तं किं पयोगसा वीससा?"
"गोयमा! पयोगसा वि तं वीससावि तं।"
"जहा ते भंते, अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमइ तहा ते नत्थित्तं नत्थित्ते परिणमइ? जहा ते नत्थित्तं नत्थित्ते परिणमइ तहा ते अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमइ?"
"हंता गोयमा! जहा मे अत्थित्तं......" भगवती १.३.३३.

जो वस्तु स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से 'अस्ति' है वही परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से 'नास्ति' है। जिस रूप से वह 'अस्ति' है, उसी रूप से 'नास्ति' नहीं किन्तु 'अस्ति' ही है। और जिस रूप से वह 'नास्ति' है उस रूप से 'अस्ति' नहीं, किन्तु 'नास्ति' ही है।

किसी वस्तु को सर्वथा 'अस्ति' माना नहीं जा सकता। क्यों कि ऐसा मानने पर ब्रह्मवाद या सर्वैक्य का सिद्धान्त फलित होता है और शाश्वतवाद भी आ जाता है। इसी प्रकार सभी को सर्वथा 'नास्ति' मानने पर सर्वशून्यवाद या उच्छेदवाद का प्रसंग प्राप्त होता है। भगवान् बुद्ध ने अपनी प्रकृति के अनुसार इन दोनों वादों को अस्वीकार करके मध्य मार्ग से प्रतीत्यसमुत्पाद वाद का अवलम्वन किया है। जब कि अनेकान्त वाद का अवलम्बन कर के भगवान् महावीर ने दोनों वादों का समन्वय किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनागमों मे अस्ति-नास्ति, नित्यानित्य, भेदाभेद, एकानेक तथा सान्त-अनन्त इन विरोधी धर्म-युगलों को अनेकान्तवाद के आश्रय से एक ही वस्तु में घटाया गया है। भगवान् ने इन नाना वादों में अनेकान्तवाद की जो प्रतिष्ठा की है, उसी का आश्रयण करके बाद के दार्शनिकों ने तार्किक ढंग से दर्शनान्तरों के खण्डनपूर्वक इन्हीं वादों का समर्थन किया है। दार्शनिक चर्चा के विकास के साथ ही साथ जैसे-जैसे प्रश्नों की विविधता बढ़ती गई, वैसे वैसे अनेकान्तवाद का क्षेत्र भी विस्तृत होता गया। परन्तु अनेकान्तवाद के मूल प्रश्नों में कोई अंतर नहीं पड़ा। यदि आगमों में द्रव्य और पर्याय के तथा जीव और शरीर के भेदाभेद का अनेकान्तवाद है, तो दार्शनिक विकास के युग में सामान्य और विशेष, द्रव्य और गुण, द्रव्य और कर्म, द्रव्य और जाति इत्यादि अनेक विषयों में भेदाभेद की चर्चा और समर्थन हुआ है। यद्यपि भेदाभेद का क्षेत्र विकसित और विस्तृत प्रतीत होता है, तथापि सब का मूल द्रव्य और पर्याय के भेदाभेद में ही है, इस बात को भूलना न चाहिए। इसी प्रकार नित्यानित्य, एकानेक, अस्ति-नास्ति, सान्त-अनन्त इन धर्म-युगलों का भी समन्वय क्षेत्र भी कितना ही विस्तृत व विकसित क्यों न हुआ हो, फिर भी उक्त धर्म-युगलों को लेकर आगम में चर्चा हुई है, वही मूलाधार है और उसी के ऊपर आगे के सारे अनेकान्तवाद का महावृक्ष प्रतिष्ठित है, इसे निश्चयपूर्वक स्वीकार करना चाहिए।

स्याद्वाद और सप्तभंगी :

विभज्यवाद और अनेकान्तवाद के विषय में इतना जान लेने के बाद ही स्याद्वाद की चर्चा उपयुक्त है। अनेकान्तवाद और विभज्यवाद में दो विरोधी धर्मो का स्वीकार समान भाव से हुआ है। इसी आधार पर विभज्यवाद और अनेकान्तवाद पर्याय शब्द मान लिए गए हैं। परन्तु दो विरोधी धर्मों का स्वीकार किसी न किसी अपेक्षा विशेष से ही हो सकता है—इस भाव को सूचित करने के लिए वाक्यों में 'स्यात्' शब्द के प्रयोग की प्रथा हुई। इसी कारण अनेकान्तवाद स्याद्वाद के नाम से भी प्रसिद्ध हुआ। अब ऐतिहासिक दृष्टि से देखना यह है कि आगमों में स्यात् शब्द का प्रयोग हुआ है कि नहीं अर्थात् स्याद्वाद का बीज आगमों में है या नहीं।

प्रोफेसर उपाध्ये के मत से 'स्याद्वाद' ऐसा शब्द भी आगम में है। उन्होंने सूत्रकृतांग की एक गाथा में से उस शब्द को फलित किया है। परन्तु टीकाकार को उस गाथा में 'स्याद्वाद' शब्द की गंध तक नहीं आई है। प्रस्तुत गाथा इस प्रकार है[७५]—

"नो छायए नो वि य लूसएज्जा माणं न सेवेज्ज पगासणं च।
न यावि पन्ने परिहास कुज्जा न यासियावाय वियागरेज्जा।"

सूत्रकृ० १.१४.१९।

गाथा-गत 'न यासियावाय' इस अंश का टीकाकार ने 'न चाशीर्वादं' ऐसा संस्कृत प्रतिरूप किया है, किन्तु प्रो० उपाध्ये के मत से वह 'न चास्याद्वादं' होना चाहिए। उनका कहना है कि आचार्य हेमचन्द्र के नियमों के अनुसार 'आशिष्' शब्द का प्राकृतरूप 'आसी' होना चाहिए। स्वयं हेमचन्द्र ने 'आसीया'[७६] ऐसा एक दूसरा रूप भी दिया है। आचार्य हेमचन्द्र ने स्याद्वाद के लिए प्रकृतरूप 'सियावाओ' दिया है[७७]। प्रो० उपाध्ये का कहना है कि यदि इस 'सियावाओ' शब्द पर ध्यान दिया

---

[७५] ओरिएन्टल कोन्फरंस—नवम अधिवेशन की प्रोसिडींग्स पृ० ६७१.

[७६] प्राकृतव्या० ८.२.१७४.

[७७] वही ८.२.१०७.

जाए, तो उक्त गाथा में अस्याद्वादवचन के प्रयोग का ही निषेध मानना ठीक होगा क्योंकि यदि टीकाकार के अनुसार आशीर्वाद वचन के प्रयोग का निषेध माना जाए तो कथानकों में 'धर्मलाभ' रूप आशीर्वचन का प्रयोग जो मिलता है, वह असंगत सिद्ध होगा।

आगमों में 'स्याद्वाद' शब्द के अस्तित्व के विषय में टीकाकार और प्रो० उपाध्ये में मतभेद हो सकता है, किन्तु 'स्यात्' शब्द के अस्तित्व में तो विवाद को कोई स्थान नहीं। भगवती-सूत्र में जहाँ कहीं एक वस्तु में नाना धर्मो का समन्वय किया गया है, वहाँ सर्वत्र तो 'स्यात्' शब्द का प्रयोग नहीं देखा जाता, किन्तु कई ऐसे भी स्थान हैं, जहाँ 'स्यात्' शब्द का प्रयोग अवश्य किया गया है। उनमें से कई स्थानों का उद्धरण पूर्व में की गई अनेकान्तवाद तथा विभज्यवाद की चर्चा में वाचकों के लिए सुलभ है। उन स्थानों के अतिरिक्त भी भगवती में कई ऐसे स्थान हैं, जहाँ 'स्यात्' शब्द, प्रयुक्त हुआ है[७८]। इसलिए 'स्यात्' शब्द के प्रयोग के कारण जैनागमों में स्याद्वाद का अस्तित्व सिद्ध ही मानना चाहिए। तो भी यह देखना आवश्यक है कि आगम-काल में स्याद्वाद का रूप क्या रहा है और स्याद्वाद के भंगों की भूमिका क्या है?

भंगों का इतिहास :

अनेकान्तवाद की चर्चा के प्रसंग में यह स्पष्ट होगया है कि भगवान् महावीर ने परस्पर विरोधी धर्मों का स्वीकार एक ही धर्मी में किया और इस प्रकार उनकी समन्वय की भावना में से अनेकान्तवाद का जन्म हुआ है। किसी भी विषय में प्रथम अस्ति—विधिपक्ष होता है। तब कोई दूसरा उस पक्ष का नास्ति—निषेध पक्ष लेकर खण्डन करता है। अतएव समन्वेता के सामने जब तक दोनों विरोधी पक्षों की उपस्थिति न हो, तब तक समन्वय का प्रश्न उठता ही नहीं। इस प्रकार अनेकान्तवाद या स्याद्वाद की जड़ में सर्वप्रथम—अस्ति और नास्ति पक्ष का होना आवश्यक है। अतएव स्याद्वाद के भंगों में सर्व प्रथम इन

---

[७८] भगवती १.७.६२, २.१.८६, ५.७.२१२, ६.४.२३८, ७.२.२७०, ७.२.२७३ ७.३.२७६, १२.१०.४६८, १२.१०.४६९, १४.४.५१२, १४.४.५१३. इत्यादि।

को स्थान मिले यह स्वाभाविक ही है। भंगों के साहित्यिक इतिहास की ओर ध्यान दें, तो हमें सर्व प्रथम ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में भंगों का कुछ आभास मिलता है। उक्त सूक्त के ऋषि के सामने दो मत थे। कोई जगत् के आदि कारण को सत् कहते थे, तो दूसरे असत्। इस प्रकार ऋषि के सामने जब समन्वय की सामग्री उपस्थित हुई, तब उन्होंने कह दिया वह सत् भी नहीं असत् भी नहीं। उन का यह निषेध-मुख उत्तर भी एक पक्ष में परिणत हो गया। इस प्रकार, सत्, असत् और अनुभय ये तीन पक्ष तो ऋग्वेद जितने पुराने सिद्ध होते हैं।

उपनिषदों में आत्मा या ब्रह्म को ही परम-तत्त्व मान करके आन्तर-बाह्य सभी वस्तुओं को उसी का प्रपञ्च मानने की प्रवृत्ति हुई, तब यह स्वाभाविक है कि अनेक विरोधों की भूमि ब्रह्म या आत्मा ही बने। इसका परिणाम यह हुआ कि उस आत्मा, ब्रह्म या ब्रह्मरूप विश्व को ऋषियों ने अनेक विरोधी धर्मों से अलंकृत किया। पर जब उन विरोधों के तार्किक समन्वय में भी उन्हें सम्पूर्ण संतोष लाभ न हुआ तब उसे वचनागोचर—अवक्तव्य-**अव्यपदेश्य** बता कर व अनुभवगम्य कह कर उन्होंने वर्णन करना छोड़ दिया। यदि उक्त प्रक्रिया को ध्यान में रखा जाए तो "**तदेजति तन्नैजति**" (ईशा० ५), "**अणोरणीयान् महतो महीयान्**" (कठो० १.२.२०. श्वेता० ३.२०) "**संयुक्तमेतत् क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः। अनीशश्चात्मा**" (श्वेता० १.८), "**सदसद्वरेण्यम्**" (मुण्डको० २.२.१) इत्यादि उपनिषद्वाक्यों में दो **विरोधी** धर्मों का स्वीकार किसी एक ही धर्मी में अपेक्षा भेद से किया गया है, यह स्पष्ट हो जाता है।

विधि और निषेध दोनों पक्षों का विधिमुख से समन्वय उन वाक्यों में हुआ है। ऋग्वेद के ऋषि ने दोनों विरोधी पक्षों को अस्वीकृत करके निषेधमुख से तीसरे अनुभय पक्ष को उपस्थित किया है। जब कि उपनिषदों के ऋषियों ने दोनों विरोधी धर्मों के स्वीकार के द्वारा उभयपक्ष का समन्वय कर के उक्त वाक्यों में विधि-मुख से चौथे उभयभंग का आविष्कार किया।

किन्तु परम-तत्त्व को इन धर्मों का आधार मानने पर उन्हें जब विरोध की गंध आने लगी, तब फिर अन्त में उन्होंने दो मार्ग लिए। जिन धर्मों को दूसरे लोग स्वीकार करते थे, उनका निषेध कर देना यह प्रथम मार्ग है। यानि ऋग्वेद के ऋषि की तरह अनुभय पक्ष का अवलम्बन करके निषेध-मुख से उत्तर दे देना कि वह न सत् है न असत्—"न सन्न-चासत्" (श्वेता० ४.१८)। जब इसी निषेध को "स एष नेति नेति" (बृहदा० ४.५.१५) की अंतिम मर्यादा तक पहुँचाया गया, तब इसी में से फलित हो गया कि वह अवक्तव्य है—यही दूसरा मार्ग है। "यतो वाचो निवर्तन्ते" (तैत्तिरी० २.४.) 'यद्वाचानभ्युदितम्" (केन० १.४.) "नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो:" (कठो० २.६.१२) अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः।' (माण्डूक्यो० ७)

आदि-आदि उपनिषद्वाक्यों में इसी अवक्तव्यभंग की चर्चा है।

इतनी चर्चा से स्पष्ट है कि जब दो विरोधी धर्म उपस्थित होते हैं, तब उसके उत्तर में तीसरा पक्ष निम्न तीन तरह से हो सकता है।

१. उभय विरोधी पक्षों को स्वीकार करने वाला (उभय)।

२. उभय पक्ष का निषेध करने वाला (अनुभय)।

३. अवक्तव्य।

इन में से तीसरा प्रकार जैसा कि पहले बताया गया, दूसरे का विकसित रूप ही है। अतएव अनुभय और अवक्तव्य को एक ही भंग समझना चाहिए। अनुभय का तात्पर्य यह है, कि वस्तु उभयरूप से वाच्य नहीं अर्थात् वह सत् रूप से व्याकरणीय नहीं और असद्रूप से भी व्याकरणीय नहीं। अतएव अनुभय का दूसरा पर्याय अवक्तव्य हो जाता है।

इस अवक्तव्य में और वस्तु की सर्वथा अवक्तव्यता के पक्ष को व्यक्त करने वाले अवक्तव्य में जो सूक्ष्म भेद है, उसे ध्यान में रखना आवश्यक है। प्रथम को यदि सापेक्ष अवक्तव्य कहा जाए तो दूसरे को निरपेक्ष अवक्तव्य कहा जा सकता है। जब हम किसी वस्तु के दो या अधिक धर्मों को मन में रख कर तदर्थ शब्द की खोज करते हैं, तब प्रत्येक धर्म के

वाचक भिन्न-भिन्न शब्द तो मिल जाते हैं, किन्तु उन शब्दों के क्रमिक प्रयोग से विवक्षित सभी धर्मों का वोध युगपत् नहीं हो पाता। अतएव वस्तु को हम अवक्तव्य कह देते हैं। यह हुई सापेक्ष अवक्तव्यता। दूसरे निरपेक्ष अवक्तव्य से यह प्रतिपादित किया जाता है कि वस्तु का पारमार्थिक रूप ही ऐसा है, जो शब्द का गोचर नहीं। अतएव उस का वर्णन शब्द से हो ही नहीं सकता।

स्यांद्वाद के भंगों में जो अवक्तव्य भंग है, वह सापेक्ष अवक्तव्य है। और वक्तंव्यत्व-अवक्तव्यत्व ऐसे दो विरोधी धर्मों को लेकर जैनाचार्यों ने स्वतन्त्र सप्तभंगी की जो योजना की है, वह निरपेक्ष अवक्तव्य को लक्षित कर के की है; ऐसा प्रतीत होता है। अतएव अवक्तव्य शब्द का प्रयोग संकुचित और विस्तृत ऐसे दो अर्थ में होता है, यह मानना चाहिए। विधि और निषेध उभय रूप से वस्तु की अवाच्यता जव अभिप्रेत हो, तव अवक्तव्य संकुचित या सापेक्ष अवक्तव्य है। और जब सभी प्रकारों का निषेध करना हो, तव विस्तृत और निरपेक्ष अवक्तव्य अभिप्रेत है।

दार्शनिक इतिहास में उक्त सापेक्ष अवक्तव्यत्व नया नहीं है। ऋग्वेद के ऋषि ने जगत् के आदि कारण को सद्रूप से और असद्रूप से अवाच्य माना, क्योंकि उन के सामने दो ही पक्ष थे। जब कि माण्डूक्य ने चतुर्थपाद आत्मा को अन्तःप्रज्ञ (विधि), वहिष्प्रज्ञ (निषेध) और उभयप्रज्ञ (उभय) इन तीनों रूप से अवाच्य माना, क्योंकि उनके सामने आत्मा के उक्त तीनों प्रकार थे। किन्तु माध्यमिक दर्शन के अग्र दूत नागार्जुनने वस्तु को चतुष्कोटिविनिर्मुक्त कह कर अवाच्य माना, क्योंकि उनके सामने विधि, निषेध, उभय और अनुभय ये चार पक्ष थे। इस प्रकार सापेक्ष अवक्तव्यता दार्शनिक इतिहास में प्रसिद्ध ही है। इसी प्रकार निरपेक्ष अवक्तव्यता भी उपनिषदों में प्रसिद्ध ही है। जब हम **'यतो वाचो निवर्तन्ते'** जैसे वाक्य सुनते हैं तथा जैन आगम में जब **'सव्वे सरा नियट्टन्ति,** जैसे वाक्य सुनते हैं, तव वहाँ निरपेक्ष अवक्तव्यता का ही प्रतिपादन हुआ है, यह स्पष्ट हो जाता है।

इतनी चर्चा से यह स्पष्ट है कि अनुभय और सापेक्ष अवक्तव्यता का तात्पर्यार्थ एक मानने पर यही मानना पड़ता है कि जब विधि और निषेध दो विरोधी पक्षों की उपस्थिति होती है, तब उसके उत्तर में तीसरा पक्ष या तो उभय होगा या अवक्तव्य होगा। अतएव उपनिषदों के समय तक ये चार पक्ष स्थिर हो चुके थे, यह मानना उचित है—

१. सत् (विधि)
२. असत् (निषेध)
३. सदसत् (उभय)
४. अवक्तव्य (अनुभय)

इन्हीं चार पक्षों की परम्परा वौद्ध त्रिपिटक से भी सिद्ध होती है। भगवान् बुद्ध ने जिन प्रश्नों के विषय में व्याकरण करना अनुचित समझा है, उन प्रश्नों को अव्याकृत कहा जाता है। वे अव्याकृत प्रश्न भी यही सिद्ध करते हैं, कि भगवान् बुद्ध के समय पर्यन्त एक ही विषय में चार विरोधी पक्ष उपस्थित करने की शैली दार्शनिकों में प्रचलित थी। इतना ही नहीं, वल्कि उन चारों पक्षों का रूप भी ठीक वैसा ही है, जैसा कि उपनिषदों में पाया जाता है। इस से यह सहज सिद्ध है कि उक्त चारों पक्षों का रूप तब तक में वैसा ही स्थिर हुआ था, जो कि निम्न-लिखित अव्याकृत प्रश्नों को देखने से स्पष्ट होता है—

१. होति तथागतो परंमरणाति ?
२. न होति तथागतो परंमरणाति ?
३. होति च न होति च तथागतो परंमरणाति ?
४. नेव होति न नहोति तथागतो परंमरणाति ?[७१]

इन अव्याकृत प्रश्नों के अतिरिक्त भी अन्य प्रश्न त्रिपिटक में ऐसे हैं, जो उक्त चार पक्षों को ही सिद्ध करते हैं—

१. सयंकत दुक्खंति ?
२. परंकतं दुक्खंति ?
३. सयंकतं परंकतं च दुक्खंति ?
४. असयंकारं अपरंकारं दुक्खंति ?

—संयुत्तनि० XII. 17.

---

[७१] संयुत्तनिकाय XL IV.

त्रिपिटक-गत संजयवेलट्टिपुत्तके मत-वर्णन को देखने से भी यह सिद्ध होता है कि तब तक में वही चार पक्ष स्थिर थे। संजय विक्षेपवादी था, अतएव निम्नलिखित किसी विषय में अपना निश्चित मत प्रकट न करता था[८०]।

१. १. परलोक है ?
   २. परलोक नहीं है ?
   ३. परलोक है और नहीं है ?
   ४. परलोक है ऐसा नहीं, नहीं है ऐसा नहीं ?

२. १. औपपातिक हैं ?
   २. औपपातिक नहीं हैं ?
   ३. औपपातिक हैं और नहीं हैं ?
   ४. औपपातिक न हैं, न नहीं हैं ?

३. १. सुकृत दुष्कृत कर्म का फल है ?
   २. सुकृत दुष्कृत कर्म का फल नहीं है ?
   ३. सुकृत दुष्कृत कर्म का फल है और नहीं है ?
   ४. सुकृत दुष्कृत कर्म का फल न है, न नहीं है ?

४. १. मरणानन्तर तथागत है ?
   २. मरणानन्तर तथागत नहीं है ?
   ३. मरणानन्तर तथागत है और नहीं है ?
   ४. मरणानन्तर तथागत न है और न नहीं है ?

जैन आगमों में भी ऐसे कई पदार्थों का वर्णन मिलता है, जिनमें विधि-निषेध-उभय और अनुभय के आधार पर चार विकल्प किए गए हैं। यथा—

---

[८०] दीघनिकाय—सामञ्ञफलसुत्त.

१. १. आत्मारम्भ
   २. परारम्भ
   ३. तदुभयारम्भ
   ४. अनारम्भ — भगवती १.१.१७

२. १. गुरु
   २. लघु
   ३. गुरु-लघु
   ४. अगुरुलघु — भगवती १.९.७४

३. १. सत्य
   २. मृषा
   ३. सत्य-मृषा
   ४. असत्यमृषा — भगवती १३.७.४९३

४. १ आत्मांतकर
   २. परांतकर
   ३. आत्मपरांतकर
   ४. नोआत्मांतकर-परांतकर

स्थानांगसूत्र—२८७,२८९,३२७,३४४,३५५,३६५।

इतनी चर्चा से यह स्पष्ट है, कि विधि, निषेध, उभय और अवक्तव्य (अनुभय) ये चार पक्ष भगवान् महावीर के समयपर्यन्त स्थिर हो चुके थे। इसी से भगवान् महावीर ने इन्हीं पक्षों का समन्वय किया होगा—ऐसी कल्पना होती है। उस अवस्था में स्याद्वाद के मौलिक भंग ये फलित होते हैं—

१. स्यात् सत् (विधि)
२. स्याद् असत् (निषेध)
३. स्याद् सत् स्यादसत् (उभय)
४. स्यादवक्तव्य (अनुभय)

अवक्तव्य का स्थान :

इन चार भंगों में से जो अंतिम भंग अवक्तव्य है, वह दो प्रकार से लब्ध हो सकता है—

१. प्रथम के दो भंग रूप से वाच्यता का निषेध कर के।
२. प्रथम के तीनों भंग रूप से वाच्यता का निषेध कर के।

प्रथम दो भंग रूप से वाच्यता का जब निषेध अभिप्रेत हो, तब स्वाभाविक रूप से अवक्तव्य का स्थान तीसरा पड़ता है। यह स्थिति ऋग्वेद के ऋषि के मन की जान पड़ती है, जब कि उन्होंने सत् और असत् रूप से जगत् के आदि कारण को अवक्तव्य बताया। अतएव यदि स्याद्वाद के भंगों में अवक्तव्य का तीसरा स्थान जैन ग्रन्थों में आता हो, तो वह इतिहास की दृष्टि से संगत ही है। भगवती-सूत्र में[८१] जहाँ स्वयं भगवान् महावीर ने स्याद्वाद के भंगों का विवरण किया है, वहाँ अवक्तव्य भंग का स्थान तीसरा है। यद्यपि वहाँ उसका तीसरा स्थान अन्य दृष्टि से है, जिसका कि विवरण आगे किया जाएगा, तथापि भगवान् महावीर ने जो ऐसा किया वह, किसी प्राचीन परम्परा का ही अनुगमन हो तो आश्चर्य नहीं। इसी परम्परा का अनुगमन करके आचार्य उमास्वाति (तत्त्वार्थ भा० ५.३१),सिद्धसेन (सन्मति० १.३६), जिनभद्र (विशेषा० गा० २२३२) आदि आचार्यों ने अवक्तव्य को तीसरा स्थान दिया है।

जब प्रथम के तीनों भंग रूप से वाच्यता का निषेध करके वस्तु को अवक्तव्य कहा जाता है, तब स्वभावतः अवक्तव्य को भंगों के क्रम में चौथा स्थान मिलना चाहिए। माण्डूक्योपनिषद् में चतुष्पाद आत्मा का वर्णन है। उसमें जो चतुर्थपादरूप आत्मा है, वह ऐसा ही अवक्तव्य है। ऋषि ने कहा है कि—"**नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं**" (माण्डू० ७) इस से स्पष्ट है कि—

१. अन्तःप्रज्ञ
२. बहिष्प्रज्ञ
३. उभयप्रज्ञ

इन तीनों भंगों का निषेध कर के उस आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है और फलित किया है कि "अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यम-

---

[८१] भगवती—१२.१०.४६६.

लक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यम्" (माण्डू० ७) ऐसे आत्मा को ही चतुर्थ पाद समझना चाहिए। कहना न होगा, कि प्रस्तुत में विधि, निषेध एवं उभय इन तीन भंगों से वाच्यता का निषेध करने वाला चतुर्थ अवक्तव्य भंग विवक्षित है। इस स्थिति में स्याद्वाद के भंगों में अवक्तव्य को तीसरा नहीं, किन्तु चौथा स्थान मिलना चाहिए। इस परम्परा का अनुगमन सप्तभंगी में अवक्तव्य को चतुर्थ स्थान देने वाले आचार्य समन्तभद्र (आप्तमी० का० १६) और तदनुयायी जैनाचार्यों के द्वारा हुआ हो, तो आश्चर्य नहीं। आचार्य कुन्दकुन्द ने दोनों मतों का अनुगमन किया है।

स्याद्वाद के भंगों की विशेषता :

स्याद्वाद के भंगों में भगवान् महावीर ने पूर्वोक्त चार भंगों के अतिरिक्त अन्य भंगों की भी योजना की है। इन के विषय में चर्चा करने के पहले उपनिषद् निर्दिष्ट चार पक्ष, त्रिपिटक के चार अव्याकृत प्रश्न, संजय के चार भंग और भगवान् महावीर के स्याद्वाद के भंग इन सभी में परस्पर क्या विशेषता है, उस की चर्चा कर लेना विशेष उपयुक्त है।

उपनिषदों में माण्डूक्य को छोड़कर किसी एक ऋषि ने उक्त चारों पक्षों को स्वीकृत नहीं किया। किसी ने सत् पक्ष को किसी ने असत् पक्ष को, किसी ने उभय पक्ष को तो किसी ने अवक्तव्य पक्ष को स्वीकृत किया है, जब कि माण्डूक्य ने आत्मा के विषय में चारों पक्षों को स्वीकृत किया है।

भगवान् बुद्ध के चारों अव्याकृत प्रश्नों के विषय में तो स्पष्ट ही है कि भगवान् बुद्ध उन प्रश्नों का कोई हाँ या ना में उत्तर ही देना नहीं चाहते थे। अतएव वे प्रश्न अव्याकृत कहलाए। इसके विरुद्ध भगवान् महावीर ने चारों पक्षों का समन्वय कर के सभी पक्षों को अपेक्षा भेद से स्वीकार किया है। संजय के मत में और स्याद्वाद में भेद यह है कि स्याद्वादी प्रत्येक भंग का स्पष्ट रूप से निश्चयपूर्वक स्वीकार करता है, जब कि संजय मात्र भंग-जाल की रचना कर के उन भंगों के विषय में अपना अज्ञान ही प्रकट करता है। संजय का कोई निश्चय ही नहीं। वह भंग-जाल की रचना करके अज्ञानवाद में ही कर्त्तव्य की इतिश्री

समझता है, तब स्याद्वादी भगवान् महावीर प्रत्येक भंग का स्वीकार करना क्यों आवश्यक है, यह बताकर विरोधी भंगों के स्वीकार के लिए नयवाद एवं अपेक्षावाद का समर्थन करते हैं। यह तो संभव है कि स्याद्वाद के भंगों की योजना में संजय के भंग-जाल से भगवान् महावीर ने लाभ उठाया हो, किन्तु उन्होंने अपना स्वातन्त्र्य भी बताया है, यह स्पष्ट ही है। अर्थात् दोनों का दर्शन दो विरोधी दिशा में प्रवाहित हुआ है।

ऋग्वेद से भगवान् बुद्ध पर्यन्त जो विचार-धारा प्रवाहित हुई है, उसका विश्लेषण किया जाए, तो प्रतीत होता है कि प्रथम एक पक्ष उपस्थित हुआ जैसे सत् या असत् का। उसके विरोध में विपक्ष उत्थित हुआ असत् या सत् का। तब किसी ने इन दो विरोधी भावनाओं को समन्वित करने की दृष्टि से कह दिया कि तत्त्व न सत् कहा जा सकता है और न असत्—वह तो अवक्तव्य है। और किसी दूसरे ने दो विरोधी पक्षों को मिलाकर कह दिया कि वह सदसत् है। वस्तुतः विचार-धारा के उपर्युक्त पक्ष, विपक्ष और समन्वय ये तीन क्रमिक सोपान हैं। किन्तु समन्वय-पर्यन्त आ जाने के बाद फिर से समन्वय को ही एक पक्ष बनाकर विचार-धारा आगे चलती है, जिससे समन्वय का भी एक विपक्ष उपस्थित होता है। और फिर नये पक्ष और विपक्ष के समन्वय की आवश्यकता होती है। यही कारण है कि जब वस्तु की अवक्तव्यता में सद् और असत् का समन्वय हुआ, तब वह भी एक एकान्त पक्ष बन गया। संसार की गति-विधि ही कुछ ऐसी है, मनुष्य का मन ही कुछ ऐसा है कि उसे एकान्त सह्य नहीं। अतएव वस्तु की ऐकान्तिक अवक्तव्यता के विरुद्ध भी एक विपक्ष उत्थित हुआ कि वस्तु ऐकान्तिक अवक्तव्य नहीं, उसका वर्णन भी शक्य है। इसी प्रकार समन्वयवादी ने जब वस्तु को सदसत् कहा, तब उसका वह समन्वय भी एक पक्ष बन गया और स्वभावतः उसके विरोध में विपक्ष का उत्थान हुआ। अतएव किसी ने कहा—एक ही वस्तु सदसत् कैसे हो सकती है, उसमें विरोध है। जहाँ विरोध होता है, वहाँ संशय उपस्थित होता है। जिस विषय में संशय हो, वहाँ उसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता। अतएव मानना यह चाहिए कि वस्तु का सम्यग्ज्ञान नहीं। हम उसे ऐसा भी नहीं कह सकते, वैसा भी नहीं कह सकते। इस संशय या अज्ञानवाद

का तात्पर्य वस्तु की अज्ञेयता—अनिर्णेयता एवं अवाच्यता में जान पड़ता है। यदि विरोधी मतों का समन्वय एकान्त दृष्टि से किया जाए, तब तो पक्ष-विपक्ष-समन्वय का चक्र अनिवार्य है। इसी चक्र को भेदने का मार्ग भगवान् महावीर ने बताया है। उन के सामने पक्ष-विपक्ष-समन्वय और समन्वय का भी विपक्ष उपस्थित था। यदि वे ऐसा समन्वय करते जो फिर एक पक्ष का रूप ले ले, तव तो पक्ष-विपक्ष-समन्वय के चक्र की गति नहीं रुकती। इसी से उन्होंने समन्वय का एक नया मार्ग लिया, जिससे वह समन्वय स्वयं आगे जाकर एक नये विपक्ष को अवकाश दे न सके।

उनके समन्वय की विशेषता यह है कि वह समन्वय स्वतन्त्र पक्ष न होकर सभी विरोधी पक्षों का यथायोग्य संमेलन है। उन्होंने प्रत्येक पक्ष के वलाबल की ओर दृष्टि दी है। यदि वे केवल दौर्बल्य की ओर ध्यान दे कर के समन्वय करते, तव सभी पक्षों का सुमेल होकर एकत्र संमेलन न होता, किन्तु ऐसा समन्वय उपस्थित हो जाता, जो किसी एक विपक्ष के उत्थान को अवकाश देता। भगवान् महावीर ऐसे विपक्ष का उत्थान नहीं चाहते थे। अतएव उन्होंने प्रत्येक पक्ष की सच्चाई पर भी ध्यान दिया, और सभी पक्षों को वस्तु के दर्शन में यथायोग्य स्थान दिया। जितने भी अवाधित विरोधी पक्ष थे, उन सभी को सच वताया अर्थात् सम्पूर्ण सत्य का दर्शन तो उन सभी विरोधों के मिलने से ही हो सकता है, पारस्परिक निरास के द्वारा नहीं। इस बात की प्रतीति नयवाद के द्वारा कराई। सभी पक्ष, सभी मत, पूर्ण सत्य को जानने के भिन्न-भिन्न प्रकार हैं। किसी एक प्रकार का इतना प्राधान्य नहीं है कि वही सच हो और दूसरा नहीं। सभी पक्ष अपनी-अपनी दृष्टि से सत्य हैं, और इन्हीं सव दृष्टियों के यथायोग्य संगम से वस्तु के स्वरूप का आभास होता है। यह नयवाद इतना व्यापक है कि इसमें एक ही वस्तु को जानने के सभी संभवित मार्ग पृथक्-पृथक् नय रूप से स्थान प्राप्त कर लेते हैं। वे नय तव कहलाते हैं, जव कि अपनी-अपनी मर्यादा में रहें, अपने पक्ष का स्पष्टीकरण करें और दूसरे पक्ष का मार्ग अवरुद्ध न करें। परन्तु यदि वे ऐसा नहीं करते, तो नय न कहे जाकर दुर्नय वन जाते हैं। इस अवस्था

में विपक्षों का उत्थान सहज है। सारांश यह है कि भगवान् महावीर का समन्वय सर्वव्यापी है अर्थात् सभी पक्षों का सुमेल करने वाला है। अतएव उस के विरुद्ध विपक्ष को कोई स्थान नहीं रह जाता। इस समन्वय में पूर्वपक्षों का लोप होकर एक ही मत नहीं रह जाता। किन्तु पूर्व सभी मत अपने-अपने स्थान पर रह कर वस्तु दर्शन में घड़ी के भिन्न-भिन्न पुर्जे की तरह सहायक होते हैं। इस प्रकार पूर्वोक्त पक्ष-विपक्ष-समन्वय के चक्र में जो दोष था, उसे दूर करके भगवान ने समन्वय का यह नया मार्ग लिया, जिस से फल यह हुआ कि उनका वह समन्वय अंतिम ही रहा।

इस पर से हम देख सकते हैं कि उनका स्याद्वाद न तो अज्ञानवाद है और न संशयवाद। अज्ञानवाद तब होता, जब वे संजय की तरह ऐसा कहते कि वस्तु को मैं न सत् जानता हूँ, तो सत् कैसे कहूँ, और न असत् जानता हूँ, तो असत् कैसे कहूँ इत्यादि। भगवान् महावीर तो स्पष्ट रूप से यही कहते हैं कि वस्तु सत् है, ऐसा मेरा निर्णय है, वह असत् है, ऐसा भी मेरा निर्णय है। वस्तु को हम उसके स्व-द्रव्य-क्षेत्रादि की दृष्टि से सत् समझते हैं और परद्रव्यादि की अपेक्षा से उसे हम असत् समझते हैं। इस में न तो संशय को स्थान है और न अज्ञान को। नय भेद से जब दोनों विरोधी धर्मों का स्वीकार है, तब विरोध भी नहीं।

अतएव शंकराचार्य प्रभृति वेदान्त के आचार्य और धर्मकीर्ति आदि बौद्ध आचार्य और उनके प्राचीन और आधुनिक व्याख्याकार स्याद्वाद में विरोध, संशय और अज्ञान आदि जिन दोषों का उद्‌भावन करते हैं, वे स्याद्वाद में लागू नहीं हो सकते, किन्तु संजय के संशयवाद या अज्ञानवाद में ही लागू होते हैं। अन्य दार्शनिक स्याद्वाद के बारे में सहानुभूतिपूर्वक सोचते तो स्याद्वाद और संशयवाद को वे एक नहीं समझते और संशयवाद के दोषों को स्याद्वाद के सिर नहीं मढ़ते।

जैनाचार्यों ने तो बार-बार इस बात की घोषणा की है कि स्याद्वाद संशयवाद नहीं और ऐसा कोई दर्शन ही नहीं, जो किसी न किसी रूप में स्याद्वाद का स्वीकार न करता हो। सभी दर्शनों ने

स्याद्वाद को अपने-अपने ढंग से स्वीकार तो किया है,[८२] किन्तु उस का नाम लेने पर दोष बताने लग जाते हैं।

स्याद्वाद के भंगों का प्राचीन रूप :

अब हम स्याद्वाद का स्वरूप जैसा आगम में है, उस की विवेचना करते हैं, भगवान् के स्याद्वाद को ठीक समझने के लिए भगवती सूत्र का एक सूत्र अच्छी तरह से मार्गदर्शक हो सकता है। अतएव उसी का सार नीचे दिया जाता है। क्योंकि स्याद्वाद के भंगों की संख्या के विषय में भगवान् का अभिप्राय क्या था, भगवान् के अभिप्रेत भंगों के साथ प्रचलित सप्तभंगी के भंगों का क्या सम्बन्ध है तथा आगमोत्तरकालीन जैन दार्शनिकों ने भंगों की सात ही संख्या का जो आग्रह रखा है, उस का क्या मूल है—यह सब उस सूत्र से मालूम हो जाता है।

गौतम का प्रश्न है कि रत्नप्रभा पृथ्वी आत्मा है या अन्य है ? उसके उत्तर में भगवान् ने कहा—

१. रत्नप्रभा पृथ्वी स्यादात्मा है।
२. रत्नप्रभा पृथ्वी स्यादात्मा नहीं है।
३. रत्नप्रभा पृथ्वी स्यादवक्तव्य है। अर्थात् आत्मा है और आत्मा नहीं है, इस प्रकार से वह वक्तव्य नहीं है।

इन तीन भंगों को सुन कर गौतम ने भगवान् से फिर पूछा कि—आप एक ही पृथ्वी को इतने प्रकार से किस अपेक्षा से कहते हैं ? भगवान् ने उत्तर दिया—

१. आत्मा—स्व के आदेश से आत्मा है।
२. पर के आदेश से आत्मा नहीं है।
३. तदुभय के आदेश से अवक्तव्य है।

रत्नप्रभा की तरह गौतम ने सभी पृथ्वी, सभी देव-लोक और सिद्ध-शिला के विषय में पूछा है और उत्तर भी वैसा ही मिला है।

---

[८२] अनेकान्तव्यवस्था की अंतिम प्रशस्ति पृ० ८७.

उसके बाद उन्होंने परमाणु पुद्गल के विषय में भी पूछा। और वैसा ही उत्तर मिला। किन्तु जब उन्होंने द्विप्रदेशिक स्कन्ध के विषय में पूछा, उसके उत्तर में भंगों का आधिक्य है, सो इस प्रकार—

१. द्विप्रदेशी स्कन्ध स्यादात्मा है।
२. ,, ,, ,, नहीं है।
३. ,, ,, स्यादवक्तव्य है।
४. ,, ,, स्यादात्मा है और आत्मा नहीं है।
५. ,, ,, स्यादात्मा है और अवक्तव्य है।
६. ,, ,, स्यादात्मा नहीं है और अवक्तव्य है।

इन भंगों की योजना के अपेक्षाकारण के विषय में अपने प्रश्न का गौतम को जो उत्तर मिला है, वह इस प्रकार—

१. द्विप्रदेशिक स्कन्ध आत्मा के आदेश से आत्मा है।
२. पर के आदेश से आत्मा नहीं है।
३. तदुभय के आदेश से अवक्तव्य है।
४. देश[८३] आदिष्ट है सद्भावपर्यायों से और देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायों से। अतएव द्विप्रदेशिक स्कन्ध आत्मा है, और आत्मा नहीं है।

५. देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायों से और देश आदिष्ट है तदुभय पर्यायों से। अतएव द्विप्रदेशिक स्कन्ध आत्मा है और अवक्तव्य है।

६. देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायों से और देश आदिष्ट है तदुभय पर्यायों से। अतएव द्विप्रदेशिक स्कन्ध आत्मा नहीं है, और अवक्तव्य है।

इसके बाद गौतम ने त्रिप्रदेशिक स्कन्ध के विषय में वैसा ही प्रश्न पूछा, उसका उत्तर निम्नलिखित भंगों में मिला—

(१) १. त्रिप्रदेशिक स्कन्ध स्यादात्मा है।
(२) २. त्रिप्रदेशिक स्कन्ध स्यादात्मा नहीं है।

---

[८३] एक ही स्कन्ध के भिन्न-भिन्न अंशों में विवक्षा भेद का आश्रय लेने से चौथे से आगे के सभी भंग होते हैं। इन्हीं विकलादेशी भंगों को दिखाने की प्रक्रिया इस वाक्य से प्रारंभ होती है।

(३) ३. त्रिप्रदेशिक स्कन्ध स्यादवक्तव्य है।

(४) ४. त्रिप्रदेशिक स्कन्ध स्यादात्मा है, और आत्मा नहीं है।

५. त्रिप्रदेशिक स्कन्ध स्यादात्मा है, (२) आत्माएँ नहीं हैं।

६. त्रिप्रदेशिक स्कन्ध स्यादात्माएँ (२) हैं, आत्मा नहीं है।

(५) ७ त्रिप्रदेशिक स्कन्ध स्यादात्मा है और अवक्तव्य है।

८. त्रिप्रदेशिक स्कन्ध स्यादात्मा है और (२) अवक्तव्य हैं।

९. त्रिप्रदेशिक स्कन्ध स्याद् (२) आत्माएँ हैं, और अवक्तव्य है।

(६) १०. त्रिप्रदेशिक स्कन्ध स्याद् आत्मा नहीं है और अवक्तव्य है।

११. त्रिप्रदेशिक स्कन्ध स्यादात्मा नहीं है और (२)अवक्तव्य हैं।

१२. त्रिप्रदेशिक स्कन्ध स्याद् (२) आत्माएँ नहीं हैं **और** अवक्तव्य है।

(७) १३. त्रिप्रदेशिक स्कंध स्यादात्मा है,आत्मा नहीं है, और अवक्तव्य है।

गौतम ने जब इन भंगों का योजना की अपेक्षाकारण पूछा, तब भगवान् ने उत्तर दिया कि—

(१) १. त्रिप्रदेशिक स्कन्ध आत्मा के आदेश से आत्मा है।

(२) २. त्रिप्रदेशिक स्कन्ध पर के आदेश से आत्मा नहीं है।

(३) ३. त्रिप्रदेशिक स्कन्ध तदुभय के आदेश से अवक्तव्य है।

(४) ४. देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायों से और देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायों से। अतएव त्रिप्रदेशिक स्कन्ध आत्मा है, और आत्मा नही है।

५. देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायों से और (२) देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायों से। अतएव त्रिप्रदेशिक स्कन्ध आत्मा है और (२ आत्माएँ नहीं हैं।

६. (दा) देश आदिष्ट हैं सद्भावपर्यायों से और देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायों से। अतएव त्रिप्रदेशिक स्कन्ध (दो) आत्माएँ हैं और आत्मा नहीं है।

(५) ७. देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायों से और देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायों से। अतएव त्रिप्रदेशिक स्कन्ध आत्मा है और अवक्तव्य है।

८. देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायों से और (दो) देश आदिष्ट हैं तदुभयपर्यायों से। अतएव त्रिप्रदेशिक स्कन्ध आत्मा है और (दो) अवक्तव्य हैं।

९. (दो) देश आदिष्ट हैं सद्भावपर्यायों से और देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायों से। अतएव त्रिप्रदेशिक स्कन्ध (२) आत्माएँ हैं और अवक्तव्य है।

(६) १०. देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायों से और देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायों से। अतएव त्रिप्रदेशिक स्कन्ध आत्मा नहीं है, और अवक्तव्य है।

११. देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायों से और (दो) देश आदिष्ट हैं तदुभयपर्यायों से। अतएव त्रिप्रदेशिक स्कन्ध आत्मा नहीं है और (दो) अवक्तव्य हैं।

१२. (दो) देश आदिष्ट हैं असद्भावपर्यायों से और देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायों से। अतएव त्रिप्रदेशिक स्कन्ध (दो) आत्माएँ नहीं हैं और अवक्तव्य है।

(७) १३. देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायों से, देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायों से और देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायों से। अतएव त्रिप्रदेशिक स्कन्ध आत्मा है, आत्मा नहीं है और अवक्तव्य है।

इसके बाद गौतम ने चतुष्प्रदेशिक स्कंध के विषय में वही प्रश्न किया है। उत्तर में भगवान् ने १९ भंग किए। जब फिर गौतम ने अपेक्षाकारण के विषय में पूछा, तब उत्तर निम्नलिखित दिया गया—

(१) १. चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध आत्मा के आदेश से आत्मा है।

(२) २. चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध पर के आदेश से आत्मा नहीं है।

(३) ३. चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध तदुभय के आदेश से अवक्तव्य है।

(४) ४. देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायों से और देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायों से। अतएव चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध आत्मा है और आत्मा नहीं है।

५. देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायों से और (अनेक) देश आदिष्ट हैं असद्भावपर्यायों से अतएव चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध आत्मा है और (अनेक)

आत्माएँ नहीं हैं।

६. (अनेक) देश आदिष्ट हैं सद्भावपर्यायों से और देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायों से अतएव चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध (अनेक) आत्माएँ हैं और आत्मा नहीं है।

७. (अनेक-२) देश आदिष्ट हैं सद्भावपर्यायों से और (अनेक-२) देश आदिष्ट हैं असद्भावपर्यायों से। अतएव चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध (अनेक-२) आत्माएँ हैं और (अनेक-२) आत्माएँ नहीं हैं।

(५) ८. देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायों से और देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायों से अतएव चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध आत्मा है और अवक्तव्य है।

९. देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायों से और (अनेक) देश आदिष्ट हैं तदुभयपर्यायों से। अतएव चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध आत्मा है और (अनेक) अवक्तव्य हैं।

१०. (अनेक) देश आदिष्ट हैं सद्भावपर्यायों से और देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायों से। अतएव चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध (अनेक) आत्माएँ हैं और अवक्तव्य हैं।

११. (अनेक–२) देश आदिष्ट हैं और सद्भावपर्यायों से और (अनेक–२) देश आदिष्ट हैं तदुभयपर्यायों से अतएव चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध (अनेक–२) आत्माएँ हैं और (अनेक–२) अवक्तव्य हैं।

(६) १२. देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायों से और देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायों से। अतएव चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध आत्मा नहीं है और अवक्तव्य है।

१३. देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायों से और (अनेक) देश आदिष्ट हैं असद्भावपर्यायों से अतएव चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध आत्मा नहीं है और (अनेक) अवक्तव्य हैं।

१४. (अनेक) देश आदिष्ट हैं असद्भावपर्यायों से और देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायों से। अतएव चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध (अनेक) आत्माएँ नहीं हैं और अवक्तव्य है।

१५. (अनेक–२) देश आदिष्ट हैं असद्भावपर्यायों से और (अनेक–२) देश आदिष्ट हैं तदुभयपर्यायों से। अतएव चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध (अनेक–२) आत्माएँ नहीं हैं और (अनेक २) अवक्तव्य हैं।

(७) १६. देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायों से देश आदिष्ट है असद्भाव-पर्यायों से और देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायों से। अतएव चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध आत्मा है, आत्मा नहीं है और अवक्तव्य है।

१७. देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायों से देश आदिष्ट है असद्भाव-पर्यायों से और (दो) देश आदिष्ट हैं तदुभयपर्यायों से। अतएव चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध आत्मा है, आत्मा नहीं है, और (दो) अवक्तव्य हैं।

१८. देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायों से, (दो) देश आदिष्ट हैं असद्भावपर्यायों से और देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायों से। अतएव चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध आत्मा है. (दो) आत्माएँ नहीं हैं और अवक्तव्य है।

१९. (दो) देश आदिष्ट हैं सद्भावपर्यायों से, देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायों से और देश आदिष्ट है तदुभय पर्यायों से अतएव चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध (दो) आत्माएँ हैं, आत्मा नहीं है, और अवक्तव्य है।

इसके बाद पंच प्रदेशिक स्कन्ध के विषय में वे ही प्रश्न हैं, और भगवान् का अपेक्षाओं के साथ २२ भंगों में उत्तर निम्नलिखित है—

(१) १. पञ्चप्रदेशिक स्कन्ध आत्मा के आदेश से आत्मा है।

(२) २. पञ्चप्रदेशिक स्कन्ध पर के आदेश से आत्मा नहीं है।

(३) ३ पञ्चप्रदेशिक स्कन्ध तदुभय के आदेश से अवक्तव्य है।

(४) ४–६ चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध के समान।

७. देश (अनेक—२ या ३) आदिष्ट हैं सद्भावपर्यायों से और देश (अनेक ३ या २) आदिष्ट हैं असद्भावपर्यायों से अतएव पंचप्रदेशिक स्कन्ध आत्माएँ (२ या ३) हैं और आत्माएँ (३ या २) नहीं हैं।

(५) ८–१०. चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध के समान

११. चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध के समान (अनेक का अर्थ प्रस्तुत ७ वें भंग के समान)

(६) १२–१४. चतुष्प्रदेशिक के समान

१५. चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध के समान (अनेक का अर्थ प्रस्तुत सातवें भंग के समान)

(७) १६. देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायों से, देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायों से और देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायों से। अतएव पंचप्रदेशिक स्कन्ध आत्मा है, आत्मा नहीं है और अवक्तव्य है।

१७. देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायों से, देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायों से और (अनेक) देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायों से। अतएव पंचप्रदेशिक स्कन्ध आत्मा है, आत्मा नहीं है और (अनेक) अवक्तव्य है।

१८. देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायों से, (अनेक) देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायों से और देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायों से। अतएव पंचप्रदेशिक स्कन्ध आत्मा है, (अनेक) आत्माएँ नहीं हैं और अवक्तव्य हैं।

१९. देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायों से, (अनेक–२) देश आदिष्ट हैं असद्भावपर्यायों से और (अनेक–२) देश आदिष्ट हैं तदुभयपर्यायों से अतएव पंचप्रदेशिक स्कन्ध आत्मा है, (अनेक–२) आत्माएँ नहीं हैं और (अनेक–२) अवक्तव्य हैं।

२०. (अनेक) देश आदिष्ट हैं सद्भावपर्यायों से, देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायों से, और देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायों से। अतएव पंचप्रदेशिक स्कन्ध आत्माएँ (अनेक) हैं, आत्मा नहीं है और अवक्तव्य है।

२१. (अनेक–२) देश आदिष्ट हैं सद्भावपर्यायों से, देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायों से और देश (अनेक–२) आदिष्ट हैं तदुभयपर्यायों

से। अतएव पंचप्रदेशिक स्कंध (अनेक–२) आत्माएँ हैं, आत्मा नहीं है और अवक्तव्य (अनेक–२) हैं।

२२. (अनेक २) देश आदिष्ट हैं सद्भावपर्यायों से, (अनेक २) देश आदिष्ट हैं असद्भावपर्यायों से और देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायों से अतएव पंचप्रदेशिक स्कन्ध (अनेक–२) आत्माएँ हैं, आत्माएँ (अनेक-२) नहीं हैं, और अवक्तव्य है।

इसी प्रकार षट्प्रदेशिक स्कन्ध के २३ भंग होते हैं। उनमें से २२ तो पूर्ववत् ही हैं,[८४] किन्तु २३ वाँ यह है—

२३. (अनेक–२) देश आदिष्ट हैं सद्भावपर्यायों से, (अनेक–२) देश आदिष्ट हैं असद्भावपर्यायों से और (अनेक–२) देश आदिष्ट हैं तदुभयपर्यायों से। अतएव षट्प्रदेशिक स्कन्ध (अनेक) आत्माएँ हैं, आत्माएँ नहीं हैं, और अवक्तव्य हैं।

भगवती–१२.१०.४६९

इस सूत्र के अध्ययन से हम नीचे लिखे परिणामों पर पहुंचते हैं—

१. विधिरूप और निषेधरूप इन्हीं दोनों विरोधी धर्मों का स्वीकार करने में ही स्याद्वाद के भंगों का उत्थान है।

२. दो विरोधी धर्मों के आधार पर विवक्षा-भेद से शेष भंगों की रचना होती है।

३. मौलिक दो भंगों के लिए और शेष सभी भंगों के लिए अपेक्षाकारण अवश्य चाहिए। प्रत्येक भंग के लिए स्वतन्त्र दृष्टि या अपेक्षा का होना आवश्यक है। प्रत्येक भंग का स्वीकार क्यों किया जाता है, इस प्रश्न का स्पष्टीकरण जिससे हो वह अपेक्षा है, आदेश है या दृष्टि है या नय है। ऐसे आदेशों के विषय में भगवान् का मन्तव्य क्या था? उसका विवेचन आगे किया जाएगा।

---

[८४] प्रस्तुत में अनेक का अर्थ यथायोग्य कर लेना चाहिए।

४. इन्हीं अपेक्षाओं की सूचना के लिए प्रत्येक भंग-वाक्य में 'स्यात्' ऐसा पद रखा जाता है। इसी से यह वाद स्याद्वाद कहलाता है। इस और अन्य सूत्र के आधार से इतना निश्चित है कि जिस वाक्य में साक्षात् अपेक्षा का उपादान हो वहाँ 'स्यात्' का प्रयोग नहीं किया गया है। और जहाँ अपेक्षा का साक्षात् उपादान नहीं है, वहाँ स्यात् का प्रयोग किया गया है। अतएव अपेक्षा का द्योतन करने के लिए 'स्यात्' पद का प्रयोग करना चाहिए यह मन्तव्य इस सूत्र से फलित होता है।

५. जैसा पहले बताया है स्याद्वाद के भंगों में से प्रथम के चार भंग की सामग्री अर्थात् चार विरोधी पक्ष तो भगवान् महावीर के सामने थे। उन्हीं पक्षों के आधार पर स्याद्वाद के प्रथम चार भंगों की योजना भगवान् ने की है। किन्तु शेष भंगों की योजना भगवान् की अपनी है, ऐसा प्रतीत होता है। शेष-भंग प्रथम के चारों का विविध रीति से सम्मेलन ही है। भंग-विद्या में कुशल[८५] भगवान् के लिए ऐसी योजना कर देना कोई कठिन बात नहीं कही जा सकती।

६. अवक्तव्य यह भंग तीसरा है। कुछ जैन दार्शनिकों ने इस भंग को चौथा स्थान दिया है। आगम में अवक्तव्य का चौथा स्थान नहीं है। अतएव यह विचारणीय है, कि अवक्तव्य को चौथा स्थान कब से, किस ने और क्यों दिया।

७. स्याद्वाद के भंगों में सभी विरोधी धर्मयुगलों को लेकर सात ही भंग होनें चाहिए, न कम, न अधिक, ऐसी जो जैनदार्शनिकों ने व्यवस्था की है, वह निर्मूल नहीं है। क्योंकि त्रिप्रदेशिक स्कन्ध और उससे अधिक प्रदेशिक स्कन्धों के भंगों की संख्या जो प्रस्तुत सूत्र में दी गई है, उससे यही मालूम होता है कि मूल भंग सात वे ही हैं, जो जैन-दार्शनिकों ने अपने सप्तभंगी के विवेचन में स्वीकृत किये हैं। जो अधिक भंग संख्या सूत्र में निर्दिष्ट है, वह मौलिक भंगों के भेद के कारण नहीं है, किन्तु एकवचन-बहुवचन के भेद की विवक्षा के कारण ही है। यदि वचनभेदकृत संख्यावृद्धि को निकाल दिया जाए तो मौलिक भंग सात

[८५] भंगों की योजना का कौशल देखना हो, तो भगवती सूत्र श० ९ उ० ५ आदि देखना चाहिए।

ही रह जाते हैं। अतएव जो यह कहा जाता है, कि आगम में सप्तभंगी नहीं है, वह भ्रममूलक है।

८. सकलादेश-विकलादेश की कल्पना भी आगमिक सप्तभंगी में विद्यमान है। आगम के अनुसार प्रथम के तीन सकलादेशी भंग हैं, जबकि शेष विकलादेशी। बाद के दार्शनिकों में इस विषय को लेकर भी मतभेद हो गया[८६] है। ऐतिहासिक दृष्टि से गवेषणीय तो यह है, कि यह मत-भेद क्यों और कब हुआ ?

नय, आदेश या दृष्टियाँ :

सप्तभंगी के विषय में इतना जान लेने के बाद अब भगवान् ने किन किन दृष्टियों के आधार पर विरोध परिहार करने का प्रयत्न किया, या एक ही धर्मी में विरोधी अनेक धर्मों का स्वीकार किया, यह जानना आवश्यक है। भगवान् महावीर ने यह देखा, कि जितने भी मत, पक्ष या दर्शन हैं, वे अपना एक विशेष पक्ष स्थापित करते हैं और विपक्ष का निरास करते हैं। भगवान् ने उन सभी तत्कालीन दार्शनिकों की दृष्टियों को समझने का प्रयत्न किया। और उनको प्रतीत हुआ, कि नाना मनुष्यों के वस्तुदर्शन में जो भेद हो जाता है, उसका कारण केवल वस्तु की अनेकरूपता या अनेकान्तात्मकता ही नहीं, बल्कि नाना मनुष्यों के देखने के प्रकार की अनेकता या नानारूपता भी कारण है। इसीलिए उन्होंने सभी मतों को, दर्शनों को वस्तु रूप के दर्शन में योग्य स्थान दिया है। किसी मत विशेष का सर्वथा निरास नहीं किया है। निरास यदि किया है, तो इस अर्थ में कि जो एकान्त आग्रह का विष था, अपने ही पक्ष को, अपने ही मत या दर्शन को सत्य, और दूसरों के मत, दर्शन या पक्ष को मिथ्या मानने का जो कदाग्रह था, उसका निरास कर के उन मतों को एक नया रूप दिया है। प्रत्येक मतवादी कदाग्रही होकर दूसरे के मत को मिथ्या बताते थे, वे समन्वय न कर सकने के कारण एकान्त-वाद में ही फँसते थे। भगवान् महावीर ने उन्हीं के मतों को स्वीकार

---

[८६] अकलंकग्रन्थत्रय टिप्पणी पृ० १४९।

करके उनमें से कदाग्रह का विष निकालकर सभी का समन्वय करके अनेकान्तवादरूपी संजीवनी महौषधि का निर्माण किया है।

कदाग्रह तब ही जा सकता है, जब प्रत्येक मत की सचाई की कसौटी की जाए। मतों में सचाई जिस कारण से आती है, उस कारण की शोध करना और उस मत के समर्थन में उस कारण को बता देना, यही भगवान् महावीर के नयवाद, अपेक्षावाद या आदेशवाद का रहस्य है।

अतएव जैन आगमों के आधार पर उन नयों का, उन आदेशों और उन अपेक्षाओं का संकलन करना आवश्यक है, जिनको लेकर भगवान् महावीर सभी तत्कालीन दर्शनों और पक्षों की सचाई तक पहुँच सके और जिनका आश्रय लेकर बाद के जैनाचार्यों ने अनेकान्तवाद के महाप्रासाद को नये नये दर्शन और पक्षों की भूमिका पर प्रतिष्ठित किया।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव :

एक ही वस्तु के विषय में जो नाना मतों की सृष्टि होती है उसमें द्रष्टा की रुचि और शक्ति, दर्शन का साधन, दृश्य की दैशिक और कालिक स्थिति, द्रष्टा की दैशिक और कालिक स्थिति, दृश्य का स्थूल और सूक्ष्म रूप आदि अनेक कारण हैं। ये ही कारण प्रत्येक द्रष्टा और दृश्य में प्रत्येक क्षण में विशेषाधायक होकर नाना मतों के सर्जन में निमित्त बनते हैं। उन कारणों की व्यक्तिशः गणना करना कठिन है। अतएव तत्कृत विशेषों का परिगणन भी असंभव है। इसी कारण से वस्तुतः सूक्ष्म विशेषताओं के कारण होने वाले नाना मतों का परिगणन भी असंभव है। जब मतों का ही परिगणन असंभव हो, तो उन मतों के उत्थान की कारणभूत दृष्टि या अपेक्षा या नय की परिगणना तो सुतरां असंभव है। इस असंभव को ध्यान में रखकर ही भगवान् महावीर ने सभी प्रकार की अपेक्षाओं का साधारणीकरण करने का प्रयत्न किया है। और मध्यम मार्ग से सभी प्रकार की अपेक्षाओं का वर्गीकरण चार प्रकार में किया है। ये चार प्रकार ये हैं—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। इन्हीं के आधार पर प्रत्येक वस्तु के भी चार प्रकार हो जाते हैं। अर्थात् द्रष्टा के पास चार दृष्टियाँ, अपेक्षाएँ, आदेश हैं; और वह

इन्हीं के आधार पर वस्तुदर्शन करता है। अभिप्राय यह है कि वस्तु का जो कुछ रूप हो, वह उन चार में से किसी एक में अवश्य समाविष्ट हो जाता है और द्रष्टा जिस किसी दृष्टि से वस्तुदर्शन करता है, उस की वह दृष्टि भी इन्हीं चारों में से किसी एक के अन्तर्गत हो जाती है।

भगवान् महावीर ने कई प्रकार के विरोधों का, इन्हीं चार दृष्टियों और वस्तु के चार रूपों के आधार पर, परिहार किया है। जीव की और लोक की सांतता और अनन्तता के विरोध का परिहार इन्हीं चार दृष्टियों से जैसे किया गया है, उसका वर्णन पूर्व में हो चुका है[८७]। इसी प्रकार नित्यानित्यता के विरोध का परिहार भी उन्हीं से हो जाता है, वह भी उसी प्रसंग में स्पष्ट कर दिया गया है। लोक के, परमाणु के और पुद्गल के चार भेद इन्हीं दृष्टियों को लेकर भगवती में किए गए हैं। परमाणु की चरमता और अचरमता के विरोध का परिहार भी इन्हीं दृष्टियों के आधार पर किया गया है[८८]।

कभी कभी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन चार दृष्टियों के स्थान में अधिक दृष्टियाँ भी बताई गई हैं। किन्तु विशेषतः इन चार से ही काम लिया गया है। वस्तुतः चार से अधिक दृष्टियों को बताते समय भाव के अवान्तर भेदों को ही भाव से पृथक् करके स्वतन्त्र स्थान दिया है, ऐसा अधिक अपेक्षा भेदों को देखने से स्पष्ट होता है। अतएव मध्यम-मार्ग से उक्त चार ही दृष्टियाँ मानना न्यायोचित है।

भगवान् महावीर ने धर्मास्तिकायआदि द्रव्यों को जब—द्रव्य,क्षेत्र, काल, भाव और गुण दृष्टि से पांच प्रकार का बताया,[८९] तब भावविशेष गुणदृष्टि को पृथक् स्थान दिया है, यह स्पष्ट है। क्योंकि गुण वस्तुतः भाव अर्थात् पर्याय ही है। इसी प्रकार भगवान् ने जब करण के पांच प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव के भेद से[९०] बताए तब वहाँ भी प्रयोजनवशात्

---

[८७] पृ० ६२ से

[८८] भगवती २.१.९० । ५.८.२२० । ११.१०.४२० । १४.४.५१३ । २०.४ ।

[८९] भगवतीसूत्र २.१० ।

[९०] भगवतीसूत्र १९.९ ।

भावविशेष भव को पृथक् स्थान दिया है, यह स्पष्ट है। इसी प्रकार जब द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव और संस्थान इन छह दृष्टियों से[९१] तुल्यता का विचार किया है, तब वहाँ भी भावविशेष भव और संस्थान को स्वातन्त्र्य दिया गया है। अतएव वस्तुत: मध्यम मार्ग से चार दृष्टियाँ ही प्रधान रूप से भगवान् को अभिमत हैं, यह मानना उपयुक्त है।

द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक :

उक्त चार दृष्टियों का भी संक्षेप दो नयों में, आदेशों में या दृष्टियों में किया गया है। वे हैं—द्रव्यार्थिक[९२] और पर्यायार्थिक अर्थात् भावार्थिक । वस्तुत: देखा जाए, तो काल और देश के भेद से द्रव्यों में विशेषताएँ अवश्य होती हैं। किसी भी विशेषता को काल या देश—क्षेत्र से मुक्त नहीं किया जा सकता। अन्य कारणों के साथ काल और देश भी अवश्य साधारण कारण होते हैं। अतएव काल और क्षेत्र, पर्यायों के कारण होने से, यदि पर्यायों में समाविष्ट कर लिए जाएँ तब तो मूलत· दो ही दृष्टियाँ रह जाती हैं–द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। अतएव आचार्य सिद्धसेन ने यह स्पष्ट बताया है कि भगवान महावीर के प्रवचन में वस्तुत: ये ही मूल दो दृष्टियाँ हैं, और शेष सभी दृष्टियाँ इन्हीं दो की शाखा-प्रशाखाएँ हैं[९३]।

जैन आगमों में सात मूल नयों की[९४] गणना की गई है। उन सातों के मूल में तो ये दो नय हैं ही, किन्तु 'जितने भी वचन मार्ग हो सकते हैं, उतने ही नय हैं', इस[९५] सिद्धसेन के कथन को सत्य मानकर यदि असंख्य नयों की कल्पना की जाए तब भी उन सभी नयों का समावेश इन्हीं दो नयों में हो जाता है यह इन दो दृष्टिओं की व्यापकता है।

इन्हीं दो दृष्टियों के प्राधान्य सें भगवान महावीर ने जो उपदेश दिया था उसका संकलन जैनागमों में मिलता है। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक

---

[९१] भगवतीसूत्र १४.७ :

[९२] भगवती ७,२.२७३। १४.४.५१२। १८.१०।

[९३] सन्मति १.३।

[९४] अनुयोगद्वार सू० १५६। स्थानांग सू० ५५२।

[९५] सन्मति ३.४७।

इन दो दृष्टियोंसे भगवान् महावीरका क्या अभिप्राय था ? यह भी भगवती के वर्णन से स्पष्ट हो जाता है। नारक जीवों की शाश्वतता और अशाश्वतता का प्रतिपादन करते हुए भगवान् ने कहा है[९६] कि अव्युच्छित्तिनयार्थता की अपेक्षा वह शाश्वत है, और व्युच्छित्तिनयार्थता की अपेक्षा से वह अशाश्वत है। इससे स्पष्ट है, कि वस्तु की नित्यता का प्रतिपादन द्रव्यदृष्टि करती है और अनित्यता का प्रतिपादन पर्याय दृष्टि। अर्थात् द्रव्य नित्य है और पर्याय अनित्य। इसी से यह भी फलित हो जाता है कि द्रव्यार्थिक दृष्टि अभेदगामी है और पर्यायार्थिक दृष्टि भेदगामी। क्योंकि नित्य में अभेद होता है और अनित्य में भेद। यह भी स्पष्ट हो जाता है कि द्रव्यदृष्टि एकत्वगामी है और पर्यायदृष्टि अनेकत्वगामी[९७] क्योंकि नित्य एकरूप होता है और अनित्य वैसा नहीं। विच्छेद, कालकृत, देशकृत और वस्तुकृत होता है, और अविच्छेद भी। कालकृत विच्छिन्न को अनित्य, देशकृत विच्छिन्न को भिन्न और वस्तुकृत विच्छिन्न को अनेक कहा जाता है। काल से अविच्छिन्न को नित्य, देश से अविच्छिन्न को अभिन्न और वस्तुकृत अविच्छिन्न को एक कहा जाता है। इस प्रकार द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक का क्षेत्र इतना व्यापक है, कि उसमें सभी दृष्टियों का समावेश सहज रीति से हो जाता है[९८]।

भगवती सूत्र में पर्यायार्थिक के स्थान में भावार्थिक शब्द भी आता है[९९]। जो सूचित करता है कि पर्याय और भाव एकार्थक हैं।

द्रव्यार्थिक-प्रदेशार्थिक :

जिस प्रकार वस्तु को द्रव्य और पर्याय दृष्टि से देखा जाता है, उसी प्रकार द्रव्य और प्रदेश की दृष्टि से भी देखा जा सकता है—ऐसा भगवान् महावीर का मन्तव्य है। पर्याय और प्रदेश में क्या अन्तर है ?

---

[९६] भगवती ७.२.२७९।

[९७] भगवती १८.१० में आत्मा की एकानेकता की घटना बताई है। वहाँ द्रव्य और पर्यायनय का आश्रयण स्पष्ट है।

[९८] भगवती ७.२.२७३।

[९९] भगवती १८.१०। २५.३। २५.४।

यह विचारणीय है। एक ही द्रव्य को नाना अवस्थाओं को या एक ही द्रव्य के देशकाल कृत नानारूपों को पर्याय कहा जाता है। जब कि द्रव्य के घटक अर्थात् अवयव ही प्रदेश कहे जाते हैं। भगवान् महावीर के मतानुसार कुछ द्रव्यों के प्रदेश नियत हैं और कुछ के अनियत। सभी देश और सभी काल में जीव के प्रदेश नियत हैं, कभी वे घटते भी नहीं और बढ़ते भी नहीं, उतने ही रहते हैं। यही बात धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय में भी लागू होती है। किन्तु पुद्गल स्कंध (अवयवी) के प्रदेशों का नियम नहीं। उनमें न्यूनाधिकता होती रहती है। प्रदेश—अंश और द्रव्य—अंशी का परस्पर तादात्म्य होने से एक ही वस्तु द्रव्य और प्रदेशविषयक भिन्न-भिन्न दृष्टि से देखी जा सकती है। इस प्रकार देखने पर विरोधी धर्मों का समन्वय एक ही वस्तु में घट जाता है।

भगवान् महावीर ने अपने आप में द्रव्यदृष्टि, पर्यायदृष्टि, प्रदेश दृष्टि और गुणदृष्टि से नाना विरोधी धर्मों का समन्वय बतलाया है। और कहा है कि मैं एक हूँ द्रव्य दृष्टि से। दो हूँ ज्ञान और दर्शन रूप दो पर्यायों की अपेक्षा से। प्रदेश दृष्टि से तो मैं अक्षय हूँ, अव्यय हूँ, अवस्थित हूँ। जब कि उपयोग की दृष्टि से मैं अस्थिर हूँ, क्योंकि अनेक भूत, वर्तमान और भावी परिणामों की योग्यता रखता हूँ[100]। इससे स्पष्ट है कि प्रस्तुत में उन्होंने पर्यायदृष्टि से भिन्न एक प्रदेश दृष्टि को भी माना है। परन्तु प्रस्तुत स्थल में उन्होंने प्रदेश दृष्टि का उपयोग आत्मा के अक्षय, अव्यय और अवस्थित धर्मों के प्रकाशन में किया है। क्योंकि पुद्गल-प्रदेश की तरह आत्म-प्रदेश व्ययशील, अनवस्थित और क्षयी नहीं। आत्मप्रदेशों में कभी न्यूनाधिकता नहीं होती। इसी दृष्टिबिन्दु को सामने रखकर प्रदेश दृष्टि से आत्मा का अव्यय आदि रूप से उन्होंने वर्णन किया है।

प्रदेशार्थिक दृष्टि का एक दूसरा भी उपयोग है। द्रव्यदृष्टि से एक वस्तु में एकता ही होती है, किन्तु उसी वस्तु की अनेकता प्रदेशार्थिक दृष्टि से बताई जा सकती है। क्योंकि प्रदेशों की संख्या अनेक होती है।

---

[100] भगवती १८.१०।

प्रज्ञापना में द्रव्य-दृष्टि से धर्मास्तिकायको एक बताया है, और उसी को प्रदेशार्थिक दृष्टि से असंख्यातगुण भी बताया गया है। तुल्यता-अतुल्यता का विचार भी प्रदेशार्थिक और द्रव्यार्थिक की सहायता से किया गया है। जो द्रव्य द्रव्यदृष्टि से तुल्य होते हैं वे ही प्रदेशार्थिक दृष्टि से अतुल्य हो जाते हैं। जैसे धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्यदृष्टि से एक एक होने से तुल्य हैं किन्तु प्रदेशार्थिक दृष्टि से धर्म और अधर्म ही असंख्यात प्रदेशी होने से तुल्य हैं जब कि आकाश अनन्तप्रदेशी होने से अतुल्य हो जाता है। इसी प्रकार अन्य द्रव्यों में भी इन द्रव्यप्रदेश दृष्टिओं के अवलम्बन से तुल्यता-अतुल्यतारूप विरोधी धर्मों और विरोधी संख्याओं का समन्वय भी हो जाता है[१०१]।

ओघादेश-विधानादेश

तिर्यग्सामान्य और उसके विशेषों को व्यक्त करने के लिये जैन-शास्त्र में क्रमशः ओघ और विधान शब्द प्रयुक्त हुए हैं। किसी वस्तु का विचार इन दो दृष्टिओं से भी किया जा सकता है। कृतयुग्मादि संख्या का विचार ओघादेश और विधानादेश इन दो दृष्टिओं से भगवान् महावीर ने किया है[१०२]। उसी से हमें यह सूचना मिल जाती है कि इन दो दृष्टिओं का प्रयोग कब करना चाहिए। सामान्यतः यह प्रतीत होता है कि वस्तु की संख्या तथा भेदाभेद के विचार में इन दोनों दृष्टिओं का उपयोग किया जा सकता है।

व्यावहारिक और नैश्चयिक नय

प्राचीन काल से दार्शनिकों में यह संघर्ष चला आता है कि वस्तु का कौन-सा रूप सत्य है—जो इन्द्रियगम्य है वह या इन्द्रियातीत अर्थात् प्रज्ञागम्य है वह? उपनिषदों के कुछ ऋषि प्रज्ञावाद का आश्रयण करके मानते रहे कि आत्माद्वैत ही परम तत्त्व है उसके अतिरिक्त दृश्यमान सब शब्दमात्र है, विकारमात्र है या नाममात्र है[१०३]

[१०१] प्रज्ञापना-पद ३. सूत्र ५४–५६। भगवती. २५.४।

[१०२] भगवती २५.४।

[१०३] Constructive survey of Upanishadic Philosophy p. 227. छान्दोग्योपनिषद् ६.१.४।

उसमें कोई तथ्य नहीं। किन्तु उस समय भी सभी ऋषियों का यह मत नहीं था। चार्वाक या भौतिकवादी तो इन्द्रियगम्य वस्तु को ही परमतत्त्व-रूप से स्थापित करते रहे। इस प्रकार प्रज्ञा या इन्द्रिय के प्राधान्य को लेकर दार्शनिकों में विरोध चल रहा था। इसी विरोध का समन्वय भगवान् महावीर ने व्यावहारिक और नैश्चयिक नयों की परिकल्पना कर के किया है। अपने-अपने क्षेत्र में ये दोनों नय सत्य हैं। व्यावहारिक सभी मिथ्या ही है या नैश्चयिक ही सत्य है, ऐसा भगवान् को मान्य नहीं है। भगवान् का अभिप्राय यह है कि व्यवहार में लोक इन्द्रियों के दर्शन की प्रधानता से वस्तु के स्थूल रूप का निर्णय करते हैं, और अपना निर्बाध व्यवहार चलाते हैं अतएव वह लौकिक नय है। पर स्थूल रूप के अलावा वस्तु का सूक्ष्मरूप भी होता है, जो इन्द्रियगम्य न होकर केवल प्रज्ञागम्य है। यही प्रज्ञामार्ग नैश्चयिक नय है। इन दोनों नयों के द्वारा ही वस्तु का सम्पूर्ण दर्शन होता है।

गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा, कि भन्ते? फाणित—प्रवाही गुड़ में कितने वर्ण गन्ध रस और स्पर्श होते हैं? इसके उत्तर में उन्होंने कहा, कि गौतम! मैं इस प्रश्न का उत्तर दो नयों से देता हूँ—व्यावहारिकनय की अपेक्षा से तो वह मधुर कहा जाता है। पर नैश्चयिक नय से वह पाँच वर्ण, दो गन्ध, पाँच रस और आठ स्पर्शों से युक्त है। भ्रमर के विषय में भी उनका कथन है, कि व्यावहारिक दृष्टि से भ्रमर कृष्ण है, पर नैश्चयिक दृष्टि से उसमें पाँचों वर्ण, दोनों गन्ध, पाँचों रस और आठों स्पर्श होते हैं। इसी प्रकार उन्होंने उक्त प्रसंग में अनेक विषयों को लेकर व्यवहार और निश्चय नय से उनका विश्लेषण किया है।[१०४]

आगे के जैनाचार्यों ने व्यवहार-निश्चय नय का तत्त्वज्ञान के अनेक विषयों में प्रयोग किया है, इतना ही नहीं, बल्कि तत्त्वज्ञान के अतिरिक्त आचार के अनेक विषयों में भी इन नयों का उपयोग कर के विरोध-परिहार किया है।

जब तक उक्त सभी प्रकार के नयों को न समझा जाए तब तक अनेकान्तवाद का समर्थन होना कठिन है। अतएव भगवान् ने अपने

[१०४] भगवती १८.६।

मन्तव्यों के समर्थन में नाना नयों का प्रयोग करके शिष्यों को अनेकान्त-वाद हृदयंगम करा दिया है। ये ही नय अनेकान्तवादरूपी महाप्रासाद की आधार-शिला हैं, यह कहा जाए तो अनुचित न होगा।

नाम-स्थापना-द्रव्य एवं भाव :

जैन सूत्रों की व्याख्या-विधि अनुयोगद्वार-सूत्र में बताई गई है। यह विधि कितनी प्राचीन है, इसके विषय में निश्चित कुछ कहा नहीं जा सकता। किन्तु अनुयोगद्वार के परिशीलनकर्ता को इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि व्याख्या-विधि का अनुयोगद्वारगतरूप स्थिर होने में पर्याप्त समय व्यतीत हुआ होगा। यह विधि स्वयं भगवान् महावीर की देन है या पूर्ववर्ती ? इस विषय में इतना ही निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि पूर्ववर्ती न हो तब भी—उनके समय में उस विधि का एक निश्चित रूप बन गया था। अनुयोग या व्याख्या के द्वारों के वर्णन में नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चार निक्षेपों का वर्णन आता है। यद्यपि नयों की तरह निक्षेप भी अनेक हैं, तथापि अधिकांश में उक्त चार निक्षेपों को ही प्राधान्य दिया गया है—

> "जत्थ य जं जाणेज्जा निक्खेवं निक्खिवे निरवसेसं।
> जत्थ वि य न जाणिज्जा चउक्कं निक्खिवे तत्थ॥" अनुयोगद्वार ८

अतएव इन्हीं चार निक्षेपों का उपदेश भगवान् महावीर ने दिया होगा, यह प्रतीत होता है। अनुयोगद्वार-सूत्र में तो निक्षेपों के विषय में पर्याप्त विवेचन है, किन्तु वह गणधरकृत नहीं समझा जाता। गणधरकृत अंगों में से स्थानांग-सूत्र में 'सर्व' के जो प्रकार गिनाए हैं, वे सूचित करते हैं कि निक्षेपों का उपदेश स्वयं भगवान् महावीर ने दिया होगा—

> "चत्तारि सव्वा पन्नत्ता—नामसव्वए ठवणसव्वए आएससव्वए निरवसेससव्वए"
> स्थानांग २९९

प्रस्तुत सूत्र में सर्व के निक्षेप बताए गए हैं। उनमें नाम और स्थापना निक्षेपों को तो शब्दतः तथा द्रव्य और भाव को अर्थतः बताया है। द्रव्य का अर्थ उपचार या अप्रधान होता है, और आदेश का अर्थ

भी वही है। अतएव 'द्रव्यसर्व' न कह करके 'आदेश सर्व'[१०५] कहा। सर्व शब्द का तात्पर्यार्थ निरवशेष है। भावनिक्षेप तात्पर्यग्राही है। अतएव 'भाव सर्व' कहने के बजाय 'निरवशेष सर्व' कहा गया है।

अतएव निक्षेपों ने भगवान् के मौलिक उपदेशों में स्थान पाया है, यह कहा जा सकता है।

शब्द व्यवहार तो हम करते हैं, क्योंकि इसके बिना हमारा काम चलता नहीं। किन्तु कभी ऐसा हो जाता है कि इन्हीं शब्दों के ठीक अर्थ को—वक्ता के विवक्षित अर्थ को न समझने से बड़ा अनर्थ हो जाता है। इसी अनर्थ का निवारण निक्षेप-विद्या के द्वारा भगवान् **महावीर** ने किया है। निक्षेप का अर्थ है–अर्थनिरूपण पद्धति। भगवान् महावीर ने शब्दों के प्रयोगों को चार प्रकार के अर्थों में विभक्त कर दिया है—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। प्रत्येक शब्द का व्युत्पत्तिसिद्ध एक अर्थ होता है, किन्तु वक्ता सदा उसी व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ की विवक्षा करता ही है, यह बात व्यवहार में देखी नहीं जाती। इन्द्रशब्द का व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ कुछ भी हो, किन्तु यदि उस अर्थ की उपेक्षा करके जिस किसी वस्तु में संकेत किया जाए कि यह इन्द्र है तो वहाँ इन्द्र शब्द का प्रयोग किसी व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ के बोध के लिए नहीं किन्तु नाममात्र का निर्देश करने के लिए हुआ है। अतएव वहाँ इन्द्र शब्द का अर्थ नाम इन्द्र है। यह नाम निक्षेप है।[१०६] इन्द्र की मूर्ति को जो इन्द्र कहा जाता है, वहाँ केवल नाम नहीं, किन्तु वह मूर्ति इन्द्र का प्रतिनिधित्व करती है ऐसा ही भाव वक्ता को विवक्षित है। अतएव वह स्थापना इन्द्र है। यह दूसरा स्थापना निक्षेप है।[१०७] इन दोनों निक्षेपों में शब्द के व्युत्पत्तिसिद्ध

---

[१०५] भद्रबाहु, जिनभद्र और यतिवृषभ के उल्लेखों से यह भी प्रतीत होता है कि निक्षेपों में 'आदेश' यह एक द्रव्य से स्वतन्त्र निक्षेप भी था। यदि सूत्रकार को वही अभिप्रेत हो, तो प्रस्तुत सूत्र में द्रव्य निक्षेप उल्लिखित नहीं है, यह समझना चाहिए। जयधवला पृ० २८३।

[१०६] "यद्वस्तुनोऽभिधानं स्थितमन्यार्थे तदर्थनिरपेक्षं। पर्यायानभिधेयं च नाम यादृच्छिकं च तथा॥" अनु० टी० पृ० ११।

[१०७] "यत्तु तदर्थवियुक्तं तदभिप्रायेण यच्च तत्करणि। लेप्यादिकर्म तत् स्थापनेति क्रियतेल्पकालं च॥" अनु० टी० १२।

अर्थ की उपेक्षा की गई है, यह स्पष्ट है। द्रव्य निक्षेप का विषय द्रव्य होता है अर्थात् भूत और भावि-पर्यायों में जो अनुयायी द्रव्य है उसी की विवक्षा से जो व्यवहार किया जाता है, वह द्रव्य निक्षेप है। जैसे कोई जीव इन्द्र होकर मनुष्य हुआ या मरकर मनुष्य से इन्द्र होगा तब वर्तमान मनुष्य अवस्था को इन्द्र कहना यह द्रव्य इन्द्र है। इन्द्रभावापन्न जो जीव द्रव्य था वही अभी मनुष्यरूप है अतएव उसे मनुष्य न कह करके इन्द्र कहा गया है। या भविष्य में इन्द्रभावापत्ति के योग्य भी यही मनुष्य है, ऐसा समझ कर भी उसे इन्द्र कहना यह द्रव्य निक्षेप है। वचन व्यवहार में जो हम कार्य में कारण का या कारण में कार्य का उपचार करके जो औपचारिक प्रयोग करते हैं, वे सभी द्रव्यान्तर्गत हैं।[१०८]

व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ उस शब्द का भाव निक्षेप है। परमैश्वर्य संपन्न जीव भाव इन्द्र है अर्थात् यथार्थ इन्द्र है।[१०९]

वस्तुतः जुदे-जुदे शब्द व्यवहारों के कारण जो विरोधी अर्थ उपस्थित होते हैं, उन सभी अर्थों की विवक्षा को समझना और अपने इष्ट अर्थ का बोध करना-कराना, इसीके लिए ही भगवान ने निक्षेपों की योजना की है यह स्पष्ट है।

जैनदार्शनिकों ने इस निक्षेपतत्त्व को भी नयों की तरह विकसित किया है। और इन निक्षेपों के सहारे शब्दाद्वैतवाद, आदि विरोधी वादों का समन्वय करने का प्रयत्न भी किया है।

***

---

१०८ "भूतस्य भाविनो वा भावस्य हि कारणं तु यल्लोके। तत् द्रव्यं तत्त्वज्ञैः सचेतनाचेतनं कथितम्॥ अनु० टी० पृ० १४।

१०९ "भावो विवक्षितक्रियाऽनुभूतियुक्तो हि वै समाख्यातः। सर्वज्ञैरिन्द्रादिवदिहेन्दनादिक्रियानुभवात्॥" अनु० टी० पृ० २८।

प्रमाण खण्ड

तीन

ज्ञान-चर्चा की जैनदृष्टि :

जैन आगमों में अद्वैतवादियों की तरह जगत् को वस्तु और अवस्तु—माया में तो विभक्त नहीं किया है, किन्तु संसार की प्रत्येक वस्तु में स्वभाव और विभाव सन्निहित है, यह प्रतिपादित किया है। वस्तु का परानपेक्ष जो रूप है, वह स्वभाव है, जैसे आत्मा का चैतन्य, ज्ञान, सुख आदि, और पुद्गल की जडता। किसी भी काल में आत्मा ज्ञान या चेतना रहित नहीं और पुद्गल में जड़ता भी त्रिकालाबाधित है। वस्तु का जो परसापेक्षरूप है, वह विभाव है, जैसे आत्मा का मनुष्यत्व, देवत्व आदि और पुद्गल का शरीररूप परिणाम। मनुष्य को हम न तो कोरा आत्मा ही कह सकते हैं और न कोरा पुद्गल ही। इसी तरह शरीर भी केवल पुद्गलरूप नहीं कहा जा सकता। आत्मा का मनुष्यरूप होना परसापेक्ष है और पुद्गल का शरीररूप होना भी परसापेक्ष है। अतः आत्मा का मनुष्यरूप और पुद्गल का शरीररूप ये दोनों क्रमश आत्मा और पुद्गल के विभाव हैं।

स्वभाव ही सत्य है और विभाव मिथ्या है, जैनों ने कभी यह प्रतिपादित नहीं किया। क्योंकि उनके मत में त्रिकालाबाधित वस्तु ही सत्य है, ऐसा एकान्त नहीं। प्रत्येक वस्तु चाहे वह अपने स्वभाव में ही स्थित हो, या विभाव में स्थित हो सत्य है। हाँ, तद्विषयक हमारा ज्ञान मिथ्या हो सकता है, लेकिन वह भी तब, जब हम स्वभाव को विभाव समझें या विभाव को स्वभाव। तत् में अतत् का ज्ञान होने पर ही ज्ञान में मिथ्यात्व की संभावना रहती है।

विज्ञानवादी बौद्धों ने प्रत्यक्ष ज्ञान को वस्तुग्राहक और साक्षात्कारात्मक तथा इतर ज्ञानों को अवस्तुग्राहक, भ्रामक, अस्पष्ट और असाक्षात्कारात्मक माना है। जैनागमों में इन्द्रियनिरपेक्ष एवं केवल आत्मसापेक्ष ज्ञान को ही साक्षात्कारात्मक प्रत्यक्ष कहा गया है, और

इन्द्रियसापेक्ष ज्ञानों को असाक्षात्कारात्मक और परोक्ष माना गया है। जैनदृष्टि से प्रत्यक्ष ही वस्तु के स्वभाव और विभाव का साक्षात्कार कर सकता है, और वस्तु का विभाव से पृथक् जो स्वभाव है, उसका स्पष्ट पता लगा सकता है। इन्द्रियसापेक्ष ज्ञान में यह कभी संभव नहीं, कि वह किसी वस्तु का साक्षात्कार कर सके और किसी वस्तु के स्वभाव को विभाव से पृथक् कर उसको स्पष्ट जान सके, लेकिन इसका मतलब जैन मतानुसार यह कभी नहीं, कि इन्द्रियसापेक्ष ज्ञान भ्रम है। विज्ञानवादी बौद्धों ने तो परोक्ष ज्ञानों को अवस्तुग्राहक होने से भ्रम ही कहा है, किन्तु जैनाचार्यों ने वैसा नहीं माना। क्योंकि उनके मत में विभाव भी वस्तु का परिणाम है। अतएव वह भी वस्तु का एक रूप है। अतः उसका ग्राहकज्ञान भ्रम नहीं कहा जा सकता। वह अस्पष्ट हो सकता है, साक्षात्काररूप न भी हो, तब भी वस्तु-स्पर्शी तो है ही।

भगवान् महावीर से लेकर उपाध्याय यशोविजय तक के साहित्य को देखने से यही पता लगता है, कि जैनों की ज्ञान-चर्चा में उपर्युक्त मुख्य सिद्धान्त की कभी उपेक्षा नहीं की गई, बल्कि यों कहना चाहिए कि ज्ञान की जो कुछ चर्चा हुई है, वह उसी मध्यबिन्दु के आसपास ही हुई है। उपर्युक्त सिद्धान्त का प्रतिपादन प्राचीन काल के आगमों से लेकर अब तक के जैन-साहित्य में अविच्छिन्न रूप से होता चला आया है।

आगम में ज्ञानचर्चा के विकास की भूमिकाएँ :

पञ्च ज्ञानचर्चा जैन परंपरा में भगवान् महावीर से भी पहले होती थी, इसका प्रमाण राजप्रश्नीय सूत्र में है। भगवान् महावीर ने अपने मुख से अतीत में होने वाले केशीकुमार श्रमण का वृत्तान्त राजप्रश्नीय में कहा है। शास्त्रकार ने केशीकुमार के मुख से निम्न वाक्य कहलवाया है—

"एवं खु पएसी अम्हं समणाणं निग्गंथाणं पंचविहे नाणे पण्णत्ते-तंजहा आभिणिबोहियनाणे सुयनाणे ओहिणाणे मणपज्जवणाणे केवलणाणे (सू० १६५)

इस वाक्य से स्पष्ट फलित यह होता है कि कम से कम उक्त

आगम के संकलनकर्ता के मत से भगवान् महावीर से पहले भी श्रमणों में पांच ज्ञानों की मान्यता थी। उनकी यह मान्यता निर्मूल भी नहीं। उत्तराध्ययन के २३वें अध्ययन से स्पष्ट है, कि भगवान् महावीर ने आचार-विषयक कुछ संशोधनों के अतिरिक्त पार्श्वनाथ के तत्त्वज्ञान में विशेष संशोधन नहीं किया। यदि भगवान् महावीर ने तत्त्वज्ञान में भी कुछ नयी कल्पनाएँ की होतीं, तो उनका निरूपण भी उत्तराध्ययन में आवश्यक ही होता।

आगमों में पांच ज्ञानों के भेदोपभेदों का जो वर्णन है, कर्मशास्त्र में ज्ञानावरणीय के जो भेदोपभेदों का वर्णन है, जीवमार्गणाओं में पांच ज्ञानों की जो घटना वर्णित है, तथा पूर्वगत में ज्ञानों का स्वतन्त्र निरूपण करने वाला जो ज्ञानप्रवाद-पूर्व है, इन सबसे यही फलित होता है कि पंच-ज्ञान की चर्चा यह भगवान् महावीर ने नयी नहीं शुरू की है, किन्तु पूर्व परंपरा से जो चली आती थी, उसको ही स्वीकार कर उसे आगे बढ़ाया है।

इस ज्ञान-चर्चा के विकासक्रम को आगम के ही आधार पर देखना हो, तो उनकी तीन भूमिकाएँ हमें स्पष्ट दीखती हैं—

१. प्रथम भूमिका तो वह है, जिसमें ज्ञानों को पांच भेदों में ही विभक्त किया गया है।

२. द्वितीय भूमिका में ज्ञानों को प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो भेदों में विभक्त करके पांच ज्ञानों में से मति और श्रुत को परोक्षान्तर्गत और शेष अवधि, मनःपर्यय और केवल को प्रत्यक्ष में अन्तर्गत किया गया है। इस भूमिका में लोकानुसरण करके इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष को अर्थात् इन्द्रियज-मति को प्रत्यक्ष में स्थान नहीं दिया है, किन्तु जैन सिद्धांत के अनुसार जो ज्ञान आत्ममात्रसापेक्ष हैं, उन्हें ही प्रत्यक्ष में स्थान दिया गया है। और जो ज्ञान आत्मा के अतिरिक्त अन्य साधनों की भी अपेक्षा रखते हैं, उनका समावेश परोक्ष में किया गया है। यही कारण है, कि इन्द्रियजन्य ज्ञान जिसे जैनेतर सभी दार्शनिकों ने प्रत्यक्ष कहा है, प्रत्यक्षान्तर्गत नहीं माना गया है।

३. तृतीय भूमिका में इन्द्रियजन्य ज्ञानों को प्रत्यक्ष और परोक्ष उभय में स्थान दिया गया है। इस भूमिका में लोकानुसरण स्पष्ट है।

१. प्रथम भूमिका के अनुसार ज्ञान का वर्णन हमें भगवती-सूत्र में (८८.२.३१७) मिलता है। उसके अनुसार ज्ञानों को निम्न सूचित नकशे के अनुसार विभक्त किया गया है—
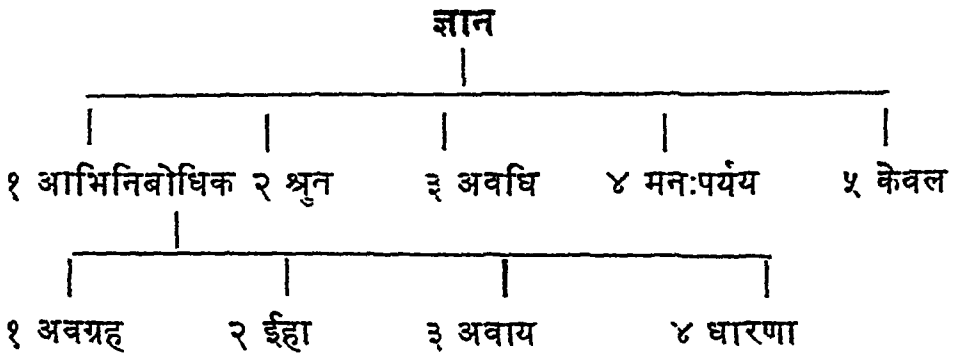
सूत्रकार ने आगे का वर्णन राजप्रश्नीय से पूर्ण कर लेने की सूचना दी है, और राजप्रश्नीय को (सूत्र १६५) देखने पर मालूम होता है, कि उसमें पूर्वोक्त नकशे में सूचित कथन के अलावा अवग्रह के दो भेदों का कथन करके शेष की पूर्ति नन्दीसूत्र से कर लेने की सूचना दी है।

सार यही है कि शेष वर्णन नन्दी के अनुसार होते हुए भी अन्तर यह है कि इस भूमिका में नन्दीसूत्र के प्रारंभ में कथित प्रत्यक्ष और परोक्ष भेदों का जिक्र नहीं है। और दूसरी बात यह भी है कि नन्दी की तरह इसमें आभिनिबोध के श्रुतनि:सृत और अश्रुतनि:सृत ऐसे दो भेदों को भी स्थान नहीं है। इसी से कहा जा सकता है, कि यह वर्णन प्राचीन भूमिका का है।

२. स्थानांग-गत ज्ञान-चर्चा द्वितीयभूमिका की प्रतिनिधि है। उसमें ज्ञान को प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो भेदों में विभक्त करके उन्हीं दो में पंच ज्ञानों की योजना की गई है—

इस नकशे में यह स्पष्ट है कि ज्ञान के मुख्य दो भेद किए गए हैं, पांच नहीं। पांच ज्ञानों को तो उन दो भेद—प्रत्यक्ष और परोक्ष के प्रभेद रूप से गिना है। यह स्पष्ट ही प्राथमिक भूमिका का विकास है।
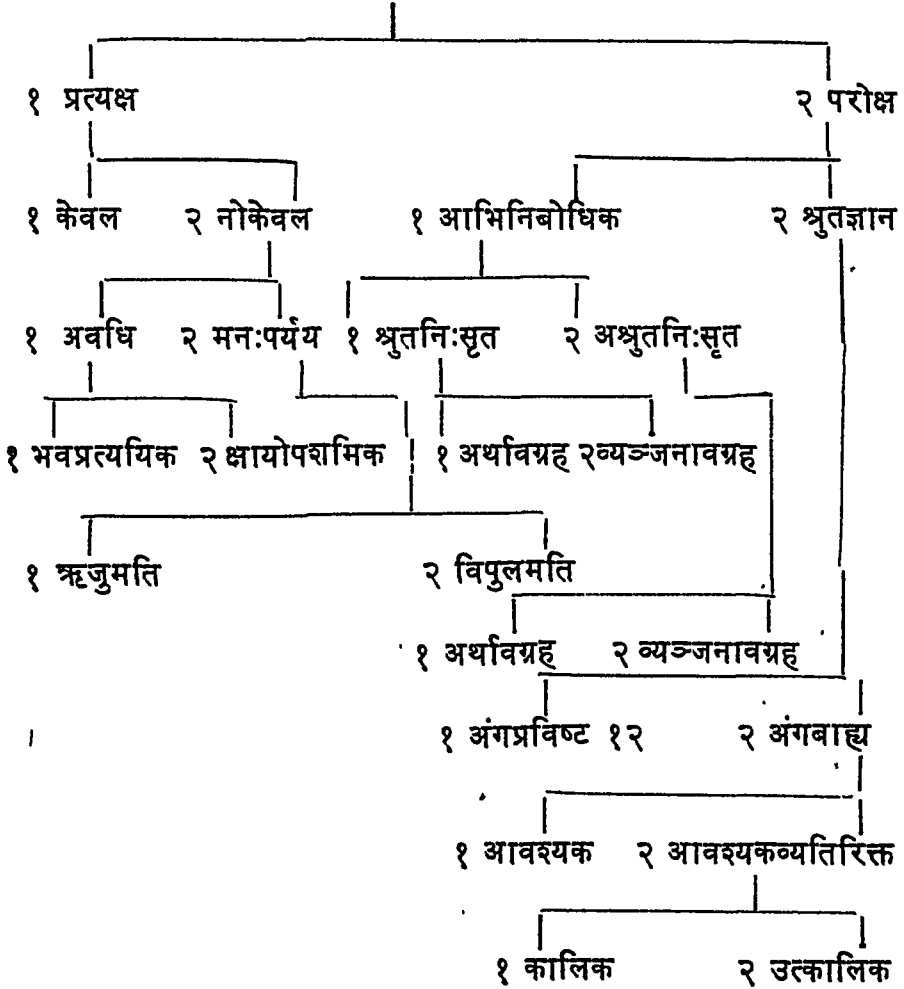
इसी भूमिका के आधार पर उमास्वाति ने भी प्रमाणों को प्रत्यक्ष और परोक्ष में विभक्त करके उन्हीं दो में पंच ज्ञानों का समावेश किया है।

बाद में होने वाले जैनतार्किकों ने प्रत्यक्ष के दो भेद बताए हैं—विकल और सकल[1]। केवल का अर्थ होता है सर्व—सकल और नो केवल का अर्थ होता है, असर्व-विकल। अतएव तार्किकों के उक्त वर्गीकरण का मूल स्थानांग जितना तो पुराना मानना ही चाहिए।

---

[1] प्रमाणन० २.२०।

यहाँ पर एक बात और भी ध्यान देने के योग्य है। स्थानांग में श्रुतनिःसृत के भेदरूप से व्यञ्जनावग्रह और अर्थावग्रह ये दो बताये हैं। वस्तुतः वहाँ इस प्रकार कहना प्राप्त था—
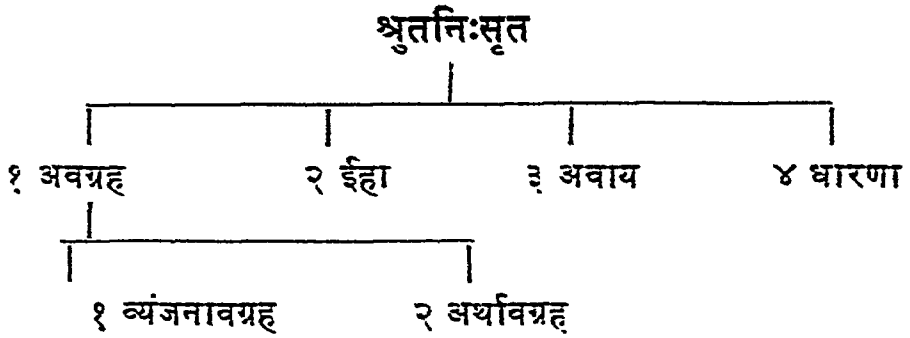
किन्तु स्थानांग में द्वितीय स्थानक का प्रकरण होने से दो-दो बातें गिनाना चाहिए ऐसा समझकर अवग्रह, ईहा आदि चार भेदों को छोड़कर सीधे अवग्रह के दो भेद ही गिनाये गये हैं।

एक दूसरी बात की ओर भी ध्यान देना जरूरी है। अश्रुतनिः—सृत के भेदरूप से भी व्यञ्जनावग्रह और अर्थावग्रह को गिना है, किन्तु वहाँ टीकाकार के मत से यह चाहिए—
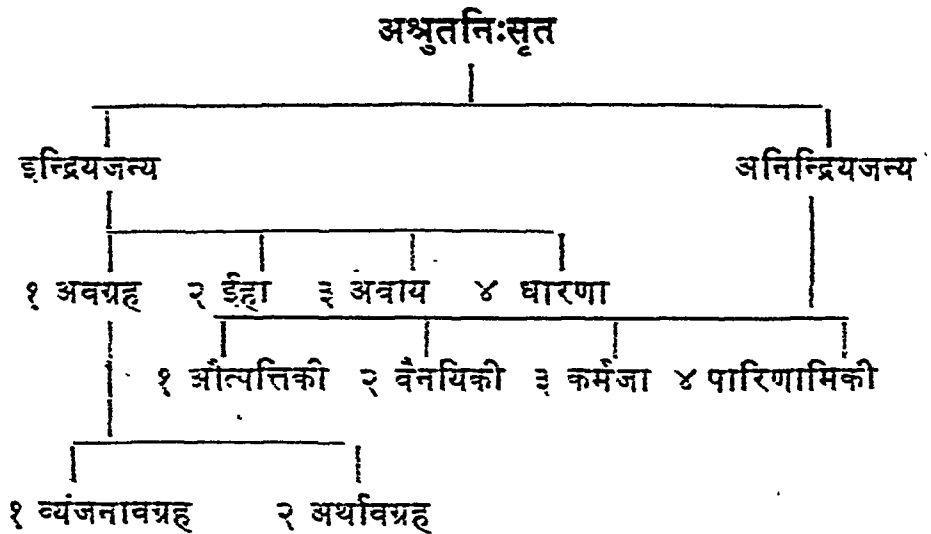
औत्पत्तिकी आदि चार बुद्धियाँ मानस होने से उनमें व्यंजनावग्रह का संभव नहीं। अतएव मूलकार का कथन इन्द्रियजन्य अश्रुतनिः-

सूत की अपेक्षा से द्वितीय स्थानक के अनुकूल हुआ है, यह टीकाकार का स्पष्टीकरण है। किन्तु यहाँ प्रश्न है कि क्या अश्रुतनि:सृत में औत्पत्तिकी आदि के अतिरिक्त इन्द्रियजज्ञानों का समावेश साधार है ? और यह भी प्रश्न है कि आभिनिबोधिक के श्रुतनि:सृत और अश्रुतनि:सृत ये भेद क्या प्राचीन हैं ? यानी क्या ऐसा भेद प्रथम भूमिका के समय होता था ?

नन्दी-सूत्र जो कि मात्र ज्ञान की ही विस्तृत चर्चा करने के लिए बना है, उसमें श्रुतनि:सृतमति के ही अवग्रह आदि चार भेद हैं। और अश्रुतनि:सृत के भेदरूप से चार बुद्धियों को गिना दिया गया है। उसमें इन्द्रियज अश्रुतनि:सृत को कोई स्थान नहीं है। अतएव टीकाकार का स्पष्टीकरण कि अश्रुतनि:सृत के वे दो भेद इन्द्रियज अश्रुतनि:सृत की अपेक्षा से समझना चाहिए, नन्दीसूत्रानुकूल नहीं किन्तु कल्पित है। मतिज्ञान के श्रुतनि:सृत और अश्रुतनि:सृत ऐसे दो भेद भी प्राचीन नहीं। दिगम्बरीयवाङ्मय में मति के ऐसे दो भेद करने की प्रथा नहीं। आवश्यक निर्युक्ति के ज्ञानवर्णन में भी मति के उन दोनों भेदों ने स्थान नहीं पाया है।

आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में भी उन दोनों भेदों का उल्लेख नहीं किया है। यद्यपि स्वयं नन्दीकार ने नन्दी में मति के श्रुतनि:सृत और अश्रुतनि:सृत ये दो भेद तो किए हैं, तथापि मतिज्ञान को पुरानी परम्परा के अनुसार अठाईस भेदवाला ही कहा है[२] उससे भी यही सूचित होता है, कि औत्पत्तिकी आदि बुद्धियों का मति में समाविष्ट करने के लिए ही उन्होंने मति के दो भेद तो किए पर प्राचीन परंपरा में मति में उनका स्थान न होने से[३] नन्दीकार ने उसे २८ भेद-भिन्न ही कहा। अन्यथा उन चार बुद्धियों को मिलाने से तो वह ३२ भेद भिन्न ही हो जाता है।

---

२ "एवं अट्ठावीसइविहस्स आभिणिबोहियनाणस्स" इत्यादि नन्दी० ३५।

३ स्थानांग में ये दो भेद मिलते हैं। किन्तु वह नन्दीप्रभावित हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

३. तृतीय भूमिका नन्दी सूत्र-गत ज्ञानचर्चा में व्यक्त होती है—वह इस प्रकार—
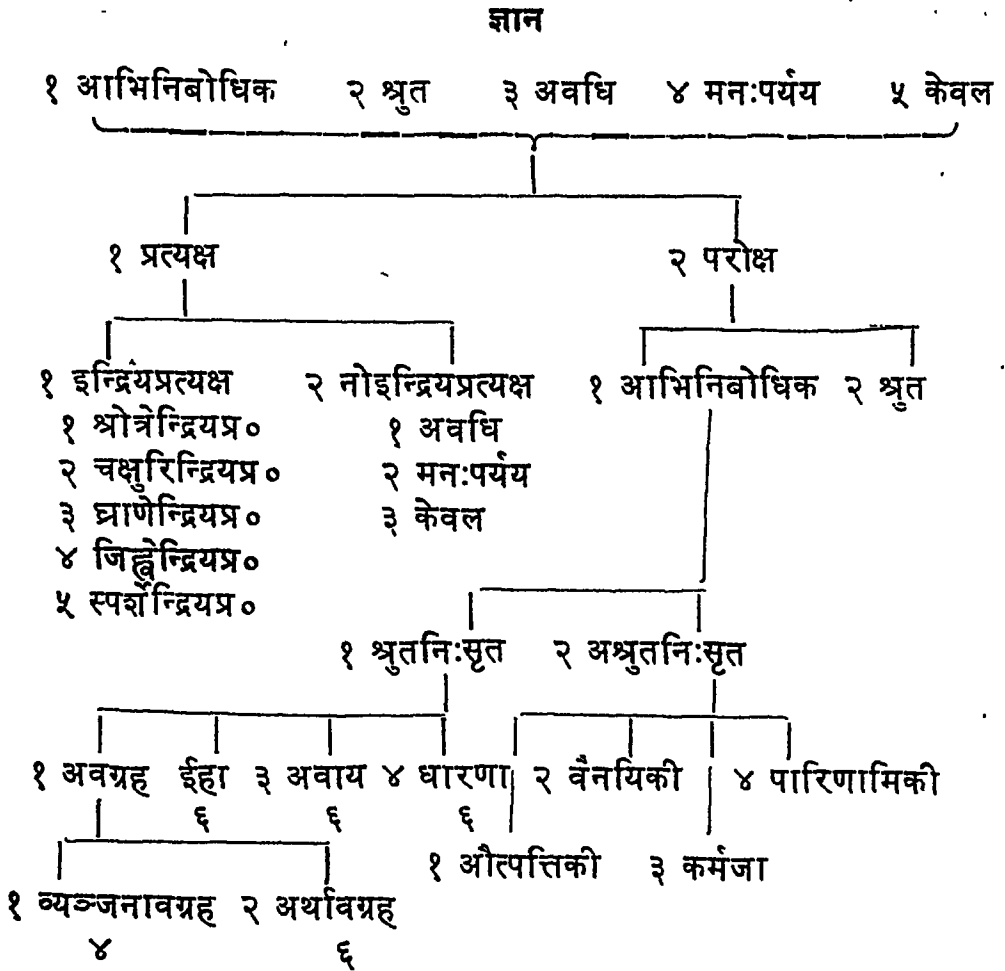
अंकित नकशे को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि सर्वप्रथम इसमें ज्ञानों को पांच भेद में विभक्त करके संक्षेप से उन्हीं को प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो भेदों में विभक्त किया गया है। स्थानांग से विशेषता यह है कि इसमें इन्द्रियजन्य पांच मतिज्ञानों का स्थान प्रत्यक्ष और परोक्ष उभय में है। क्योंकि जैनेतर सभी दर्शनों ने इन्द्रियजन्य ज्ञानों को परोक्ष नहीं, किन्तु प्रत्यक्ष माना है, उनको प्रत्यक्ष में स्थान देकर उस लौकिक मत का समन्वय करना भी नन्दीकार को अभिप्रेत था। आचार्य जिनभद्र ने इस समन्वय को लक्ष्य में रखकर ही स्पष्टीकरण किया है कि

वस्तुतः इन्द्रियज प्रत्यक्ष को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहना चाहिए। अर्थात् लोकव्यवहार के अनुरोध से ही इन्द्रियज मति को प्रत्यक्ष कहा गया है। वस्तुतः वह परोक्ष ही है। क्योंकि प्रत्यक्ष-कोटि में परमार्थतः आत्म-मात्र सापेक्ष ऐसे अवधि, मनःपर्यय और केवल ये तीन ही हैं। अतः इस भूमिका में ज्ञानों का प्रत्यक्ष-परोक्षत्व व्यवहार इस प्रकार स्थिर हुआ—

१. अवधि, मनःपर्यय और केवल पारमार्थिक प्रत्यक्ष हैं।

२. श्रुत परोक्ष ही है।

३. इन्द्रियजन्य मतिज्ञान पारमार्थिक दृष्टि से परोक्ष है और व्यावहारिक दृष्टि से प्रत्यक्ष है।

४. मनोजन्य मतिज्ञान परोक्ष ही है।

आचार्य अकलंक ने तथा तदनुसारी अन्य जैनाचार्यों ने प्रत्यक्ष के सांव्यावहारिक और पारमार्थिक ऐसे जो दो भेद किए हैं सो उनकी नयी सूझ नहीं है। किन्तु उसका मूल नन्दीसूत्र और उसके जिनभद्रकृत स्पष्टीकरण में[४] है।

ज्ञान-चर्चा का प्रमाण-चर्चा से स्वातन्त्र्य

पंच ज्ञानचर्चा के क्रमिक विकास की उक्त तीनों आगमिक भूमिका की एक खास विशेपता यह रही है कि इनमें ज्ञानचर्चा के साथ इतर दर्शनों में प्रसिद्ध प्रमाणचर्चा का कोई सम्बन्ध या समन्वय स्थापित नहीं किया गया है। इन ज्ञानों में ही सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के भेद के द्वारा जैनागमिकों ने वही प्रयोजन सिद्ध किया है जो दूसरों ने प्रमाण और अप्रमाण के विभाग के द्वारा सिद्ध किया है। अर्थात् आगमिकों ने प्रमाण या अप्रमाण ऐसे विशेपण विना दिए ही प्रथम के तीनों में अज्ञान-विपर्यय-मिथ्यात्व की तथा सम्यक्त्व की संभावना मानी है और अन्तिम दो में एकान्त सम्यक्त्व ही बतलाया है। इस प्रकार ज्ञानों को प्रमाण या अप्रमाण न कह करके भी उन विशेपणों का प्रयोजन तो दूसरी तरह से निष्पन्न कर ही दिया है।

---

[४] "एगन्तेण परोक्खं लिंगियमोहाइयं च पच्चक्खं।
इन्दियमणोभवं जं तं संववहारपच्चक्खं।" विशेषा० ९५ और इसकी स्वोपज्ञवृत्ति।

जैन आगमिक आचार्य प्रमाणाप्रमाणचर्चा, जो दूसरे दार्शनिकों से चलती थी, उससे सर्वथा अनभिज्ञ तो थे ही नहीं किन्तु वे उस चर्चा को अपनी मौलिक और स्वतन्त्र ऐसी ज्ञानचर्चा से पृथक् ही रखते थे। जब आगमों में ज्ञान का वर्णन आता है, तब प्रमाणों या अप्रमाणों से उन ज्ञानों का क्या सम्बन्ध है उसे बताने का प्रयत्न नहीं किया है। और जब प्रमाणों की चर्चा आती है तब, किसी प्रमाण को ज्ञान कहते हुए भी आगम प्रसिद्ध पाँच ज्ञानों का समावेश और समन्वय उसमें किस प्रकार है, यह भी नहीं बताया है इससे फलित यही होता है कि आगमिकों ने जैनशास्त्रप्रसिद्ध ज्ञानचर्चा और दर्शनान्तर प्रसिद्ध प्रमाणचर्चा का समन्वय करने का प्रयत्न नहीं किया—दोनों चर्चा का पार्थक्य ही रखा। आगे के वक्तव्य से यह बात स्पष्ट हो जाएगी।

जैन आगमों में प्रमाण-चर्चा :

प्रमाण के भेद—जैन आगमों में प्रमाणचर्चा ज्ञानचर्चा से स्वतन्त्र रूप से आती है। प्रायः यह देखा गया है कि आगमों में प्रमाणचर्चा के प्रसंग में नैयायिकादिसंमत चार प्रमाणों का उल्लेख आता है। कहीं-कहीं तीन प्रमाणों का भी उल्लेख है।

भगवती सूत्र (५.३.१९१–१९२) में गौतम गणधर और भगवान् महावीर के संवाद में गौतम ने भगवान् से पूछा कि जैसे केवल ज्ञानी अंतकर या अंतिम शरीरी को जानते हैं, वैसे ही क्या छद्मस्थ भी जानते हैं? इसके उत्तर में भगवान् ने कहा है कि—

"गोयमा णो तिणट्ठे समट्ठे। सोच्चा जाणति पासति पमाणतो वा। से किं तं सोच्चा? केवलिस्स वा केवलिसावयस्स वा केवलिसावियाए वा केवलिउवासगस्स वा केवलिउवासियाए वा····से तं सोच्चा। से किं तं पमाणं? पमाणे चउव्विहे पण्णत्ते—तं जहा पच्चक्खे अणुमाणे ओवम्मे आगमे जहा अणुओगद्दारे तहा णेयव्वं पमाणं" भगवती सूत्र ५.३.१९१—१९२।

प्रस्तुत में स्पष्ट है, कि पांच ज्ञानों के आधार पर उत्तर न देकर मुख्य रूप से प्रमाण की दृष्टि से उत्तर दिया गया है। 'सोच्चा' पद से श्रुतज्ञान को लिया जाए तो विकल्प से अन्य ज्ञानों को लेकर के उत्तर

दिया जा सकता था। किन्तु ऐसा न करके पर-दर्शन में प्रसिद्ध प्रमाणों का आश्रय लेकर के उत्तर दिया गया है। यह सूचित करता है कि जैनेतरों में प्रसिद्ध प्रमाणों से शास्त्रकार अनभिज्ञ नहीं थे और वे स्वसंमत ज्ञानों की तरह प्रमाणों को भी ज्ञप्ति में स्वतन्त्र साधन मानते थे।

स्थानांगसूत्र में प्रमाण शब्द के स्थान में हेतु शब्द का प्रयोग भी मिलता है। ज्ञप्ति के साधनभूत होने से प्रत्यक्षादि को हेतु शब्द से व्यवहृत करने में औचित्यभंग भी नहीं है।

"अहवा हेऊ चउव्विहे पण्णत्ते, तंजहा पच्चक्खे अणुमाणे ओवम्मे आगमे।" स्थानांगसू० ३३८।

चरक में भी प्रमाणों का निर्देश हेतु शब्द से हुआ है—

"अथ हेतुः—हेतुर्नाम उपलब्धिकारणं तत् प्रत्यक्षमनुमानमैतिह्यमौपम्यमिति। एभिर्हेतुभिर्यदुपलभ्यते तत् तत्त्वमिति।" चरक० विमानस्थान अ० ८ सू० ३३।

उपायहृदय में भी चार प्रमाणों को हेतु कहा गया है—पृ० १४

स्थानांग में ऐतिह्य के स्थान में आगम है, किन्तु चरक में ऐतिह्य को आगम ही कहा है अतएव दोनों में कोई अंतर नहीं—***"ऐतिह्यं नामाप्तोपदेशो वेदादिः" वही सू० ४१।***

अन्यत्र जैननिक्षेप पद्धति के अनुसार प्रमाण के चार भेद भी दिखाए गए हैं।

"चउव्विहे पमाणे पन्नत्ते तं जहा—दव्वप्पमाणे खेत्तप्पमाणे कालप्पमाणे भावप्पमाणे" स्थानांग सू० २५८।

प्रस्तुत सूत्र में प्रमाण शब्द का अतिविस्तृत अर्थ लेकर ही उसके चार भेदों का परिगणन किया गया है। स्पष्ट है कि इसमें दूसरे दार्शनिकों की तरह केवल प्रमेय साधक तीन, चार या छह आदि प्रमाणों का ही समावेश नहीं है, किन्तु व्याकरण कोपादि से सिद्ध प्रमाण शब्द के यावत् अर्थों का समावेश करने का प्रयत्न है। स्थानांग मूल सूत्र में उक्त भेदों की परिगणना के अलावा विशेष कुछ नहीं कहा गया है, किन्तु अन्यत्र उसका विस्तृत वर्णन है जिसके विषय में आगे हम कुछ कहेंगे।

चरक में वादमार्ग पदों में एक स्वतंत्र व्यवसाय पद है।

"अथ व्यवसायः—व्यवसायो नाम निश्चयः" विमानस्थान अ० ८ सू० ४७।

सिद्धसेन से लेकर सभी जैनतार्किकों ने प्रमाण को स्वपर-व्यवसायि माना है। वार्तिककार शान्त्याचार्य ने न्यायावतारगत अवभास शब्द का अर्थ करते हुए कहा है कि—

"अवभासो व्यवसायो न तु ग्रहणमात्रकम्" का० ३।

अकलंकआदि सभी तार्किकों ने प्रमाण लक्षण में 'व्यवसाय' पद को स्थान दिया है और प्रमाण को व्यवसायात्मक[५] माना है। यह कोई आकस्मिक बात नहीं। न्यायसूत्र में प्रत्यक्ष को व्यवसायात्मक कहा है। सांख्यकारिका में भी प्रत्यक्ष को अध्यवसाय रूप कहा है। इसी प्रकार जैन आगमों में भी प्रमाण को व्यवसाय शब्द से व्यवहृत करने की प्रथा का स्पष्ट दर्शन निम्नसूत्र में होता है। प्रस्तुत में तीन प्रकार के व्यवसाय का जो विधान है वह सांख्यादिसंमत[६] तीन प्रमाण मानने की परम्परा-मूलक हो तो आश्चर्य नहीं—

"तिविहे ववसाए पण्णत्ते तं जहा-पच्चक्खे पच्चतिते आणुगामिए।" स्थानांग-सू० १८५।

प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या करते हुए अभयदेव ने लिखा है कि—

"व्यवसायो निश्चयः स च प्रत्यक्षः—अवधिमनःपर्ययकेवलाख्यः, प्रत्ययात् इन्द्रियानिन्द्रियलक्षणात् निमित्ताज्जातः प्रात्ययिकः, साध्यम् अग्न्यादिकम् अनुगच्छति-साध्याभावे न भवति यो धूमादिहेतुः सोऽनुगामी ततो जातम् आनुगामिकम्-अनुमानम्-तद्रूपो व्यवसाय आनुगामिक एवेति। अथवा प्रत्यक्षः स्वयंदर्शनलक्षणः, प्रात्ययिकः-आप्तवचनप्रभवः, तृतीयस्तथैवेति"।

स्पष्ट है कि प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या में अभयदेव ने विकल्प किए हैं। अतएव उनको एक अर्थ का निश्चय नहीं था। वस्तुतः प्रत्यक्ष शब्द से सांव्यवहारिक और पारमार्थिक दोनों प्रत्यक्ष, प्रत्ययित शब्द से अनुमान और आनुगामिक शब्द से आगम, सूत्रकार को अभिप्रेत माने जाएँ तो सिद्धसेनसंमत तीन प्रमाणों का मूल उक्त सूत्र में मिल जाता है। सिद्धसेन

[५] देखो न्याया० टिप्पण पृ० १४८-१५१।

[६] चरक विमानस्थान अध्याय ४। अ० ८. सू० ८४।

ने न्याय-परम्परा सम्मत चार प्रमाणोंके स्थान में सांख्यादिसम्मततीन ही प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम को माना है। आचार्य हरिभद्र को भी ये ही तीन प्रमाण मान्य हैं[७]।

ऐसा प्रतीत होता है कि चरकसंहिता में कई परम्पराएँ मिल गई हैं क्योंकि कहीं तो उसमें चार प्रमाणों का वर्णन है और कहीं तीन का तथा विकल्प से दो का भी स्वीकार पाया जाता है। ऐसा होने का कारण यह है कि चरकसंहिता किसी एक व्यक्ति की रचना न होकर कालक्रम से संशोधन और परिवर्धन होते-होते वर्तमान रूप बना है। यह बात निम्न कोष्ठक से स्पष्ट हो जाती है—

सूत्रस्थान अ० ११.	आप्तोपदेश	प्रत्यक्ष	अनुमान	युक्ति
विमानस्थान अ० ४	,,	,,	,,	×
,, ,, अ० ८	ऐतिह्य (आप्तोपदेश)	,,	,,	औपम्य
,, ,, ,,	×	,,	,,	×
,, ,, ,,	उपदेश	,,	,,	×

यही दशा जैनआगमों की है। उस में भी चार और तीन प्रमाणों की परंपराओं ने स्थान पाया है।

स्थानांग के उक्त सूत्र से भी पांच ज्ञानों से प्रमाणों का पार्थक्य सिद्ध होता ही है। क्योंकि व्यवसाय को पांच ज्ञानों से संबद्ध न कर प्रमाणों से संबद्ध किया है।

फिर भी आगम में ज्ञान और प्रमाण का समन्वय सर्वथा नहीं हुआ है यह नहीं कहा जा सकता। उक्त तीन प्राचीन भूमिकाओं में असमन्वय होते हुए भी अनुयोगद्वार से यह स्पष्ट है, कि बाद में जैनाचार्यों ने ज्ञान और प्रमाण का समन्वय करने का प्रयत्न किया है। किन्तु यह भी ध्यान में रहे कि पंच ज्ञानों का समन्वय स्पष्ट रूप से नहीं है, पर अस्पष्ट रूप से है। इस समन्वय के प्रयत्न का प्रथम दर्शन अनुयोग में होता है। न्यायदर्शनप्रसिद्ध चार प्रमाणों का ज्ञान में समावेश करने का प्रयत्न

---

[७] अनेकान्तज० टी० पृ० १४२, अनेकान्तज० पृ० २१५।

अनुयोग में है ही। किन्तु वह प्रयत्न जैन-दृष्टि को पूर्णतया लक्ष्य में रख कर नहीं हुआ है। अतः वाद के आचार्यों ने इस प्रश्न को फिर से सुलझाने का प्रयत्न किया और वह इसलिए सफल हुआ कि उसमें जैन आगम के मौलिक पंचज्ञानों को आधारभूत मानकर ही जैन-दृष्टि से प्रमाणों का विचार किया गया है।

स्थानांगसूत्र में प्रमाणों के द्रव्यादि चार भेद जो किए गए हैं उनका निर्देश पूर्व में हो चुका है। जैनव्याख्यापद्धति का विस्तार से वर्णन करने वाला ग्रन्थ अनुयोगद्वार सूत्र है। उसको देखने से पता चलता है कि प्रमाण के द्रव्यादि चार भेद करने की प्रथा, जैनों की व्याख्यापद्धतिमूलक है। शब्द के व्याकरण-कोषादि प्रसिद्ध सभी संभवित अर्थों का समावेश करके, व्यापक अर्थ में अनुयोगद्वार के रचयिता ने प्रमाण शब्द प्रयुक्त किया है यह निम्न नकशे से सूचित हो जाता है—

एकान्त - मुद्रामधिशय्य - शय्यां,
नय-व्यवस्था किल या प्रमीला।
तया निमीलन्नयनस्य पुंसः,
स्यात्कार एवाञ्जनिकी शलाका॥

**
**

अनुयोगद्वार (सू० ५९)

- १ उपक्रम
  - १ आनुपूर्वी
  - २ नाम
  - ३ प्रमाण
    - १ द्रव्य
    - २ क्षेत्र
    - ३ काल
    - ४ भाव (सू० १३२)
      - १ गुण
        - १ जीव के
          - १ ज्ञान
            - १ प्रत्यक्ष
            - २ अनुमान
            - ३ औपम्य
            - ४ आगम
          - २ दर्शन
          - ३ चारित्र
        - २ अजीव के (सू० १४७)
      - २ नय
      - ३ संख्या (सू० १४६)
  - ४ वक्तव्यता
  - ५ अर्थाधिकार
  - ६ समवतार (सू० ७०)
- २ निक्षेप
- ३ अनुगम
- ४ नय

२ अनुमान
१ पूर्ववत्
२ शेषवत्
३ दृष्टसाधर्म्यवत्
१ कार्येण
२ कारणेन
३ गुणेन
४ अवयवेन
५ आश्रयेण
१ सामान्यदृष्ट
२ विशेषदृष्ट
१ अतीतकालग्रहण
२ प्रत्युत्पन्नकालग्रहण
३ अनागतकालग्रहण

३ औपम्य
१ साधर्म्योपनीत
२ वैधर्म्योपनीत
१ किञ्चित्साधर्म्योपनीत
२ प्रायःसाधर्म्योपनीत
३ सर्वसाधर्म्योपनीत
१ किञ्चिद्वैधर्म्य
२ प्रायःवैधर्म्य
३ सर्ववैधर्म्य

४ आगम
१ लौकिक
२ लोकोत्तर
वेद, रामायण, महाभारत आदि
आचारांगआदि १२

अनुयोगद्वार के प्रारम्भ में ही ज्ञानों के पांच भेद बताए हैं—१ आभिनिबोधिक, २ श्रुत, ३ अवधि, ४ मनःपर्यय और ५ केवल। ज्ञानप्रमाण के विवेचन के प्रसंग में प्राप्त तो यह था कि अनुयोगद्वार के संकलनकर्ता उन्हीं पांच ज्ञानों को ज्ञानप्रमाण के भेदरूप से बता देते। किन्तु ऐसा न करके उन्होंने नैयायिकों में प्रसिद्ध चार प्रमाणों को ही ज्ञान प्रमाण के भेद रूप से बता दिया है। ऐसा करके उन्होंने सूचित किया है कि दूसरे दार्शनिक जिन प्रत्यक्षादि चार प्रमाणों को मानते हैं वस्तुतः वे ज्ञानात्मक हैं और गुण हैं—आत्मा के गुण हैं।

इस समन्वय से यह भी फलित हो जाता है कि अज्ञानात्मक सन्निकर्ष इन्द्रिय आदि पदार्थ प्रमाण नहीं हो सकते। अतएव हम देखते हैं कि सिद्धसेन से लेकर प्रमाणविवेचक सभी जैन दार्शनिकों ने प्रमाण के लक्षण में ज्ञानपद को अवश्य स्थान दिया है। इतना होते हुए भी जैन संमत पांच ज्ञानों में चार प्रमाण का स्पष्ट समन्वय करने का प्रयत्न अनुयोगद्वार के कर्ता ने नहीं किया है। अर्थात् यहाँ भी प्रमाणचर्चा और पंच ज्ञानचर्चा का पार्थक्य सिद्ध ही है। शास्त्रकार ने यदि प्रमाणों को पंच ज्ञानों में समन्वित करने का प्रयत्न किया होता, तो उनके मत से अनुमान और उपमान प्रमाण किस ज्ञान में समाविष्ट है यह अस्पष्ट नहीं रहता। यह वात नीचे के समीकरण से स्पष्ट होती है—

ज्ञान	प्रमाण
१ (अ) इन्द्रियजमति	प्रत्यक्ष
(ब) मनोजन्यमति	०
२ श्रुत	आगम
३ अवधि	प्रत्यक्ष
४ मनःपर्यय	
५ केवल	
०	अनुमान
०	उपमान

इससे साफ है कि ज्ञानपक्ष में मनोजन्य मति को कौन सा प्रमाण कहा जाए तथा प्रमाण पक्ष में अनुमान और उपमान को कौन सा ज्ञान कहा जाए—यह बात अनुयोगद्वार में अस्पष्ट है। वस्तुतः देखें तो जैन ज्ञान प्रक्रिया के अनुसार मनोजन्यमति जो कि परोक्ष ज्ञान है वह अनुयोग के प्रमाण वर्णन में कहीं समावेश नहीं पाता।

न्यायादिशास्त्र के अनुसार मानस ज्ञान दो प्रकार का है प्रत्यक्ष और परोक्ष। सुख-दुःखादि को विषय करने वाला मानस-ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है और अनुमान उपमान आदि मानस ज्ञान परोक्ष कहलाता है। अतएव मनोजन्य मति जो कि जैनों के मत से परोक्ष ज्ञान है, उसमें अनुमान और उपमान को अन्तर्भूत कर दिया जाय तो उचित ही है। इस प्रकार पांच ज्ञानों का चार प्रमाणों में समन्वय घट जाता है। यदि यह अभिप्राय शास्त्रकार का भी है तो कहना होगा कि पर-प्रसिद्ध चार प्रमाणों का पंच ज्ञानों के साथ समन्वय करने की अस्पष्ट सूचना अनुयोगद्वार से मिलती है। किन्तु जैन-दृष्टि से प्रमाण विभाग और उसका पंचज्ञानों में स्पष्ट समन्वय करने का श्रेय तो **उमास्वाति** को ही है।

इतनी चर्चा से यह स्पष्ट है कि जैनशास्त्रकारों ने आगम काल में जैन दृष्टि से प्रमाणविभाग के विषय में स्वतन्त्र विचार नहीं किया है, किन्तु उस काल में प्रसिद्ध अन्य दार्शनिकों के विचारों का संग्रह मात्र किया है।

प्रमाणभेद के विषय में प्राचीन काल में अनेक परम्पराएँ प्रसिद्ध रहीं। उनमें से चार और तीन भेदों का निर्देश आगम में मिलता है, जो पूर्वोक्त विवरण से स्पष्ट है। ऐसा होने का कारण यह है कि प्रमाण चर्चा में निष्णात ऐसे प्राचीन नैयायिकों ने प्रमाण के चार भेद ही माने हैं। उन्हीं का अनुकरण चरक और प्राचीन बौद्धों ने भी किया है। और इसी का अनुकरण जैनागमों में भी हुआ है। प्रमाण के तीन भेद मानने की परम्परा भी प्राचीन है। उसका अनुकरण सांख्य, चरक और बौद्धों में हुआ है। यही परम्परा स्थानांग के पूर्वोक्त सूत्र में सुरक्षित है। योगाचार बौद्धों ने तो दिग्नाग के सुधार को अर्थात् प्रमाण के दो भेद की परम्परा

को भी नहीं माना है और दिग्नाग के बाद भी अपनी तीन प्रमाण की परम्परा को ही मान्य रखा है, जो स्थिरमति की मध्यान्त विभाग की टीका से स्पष्ट होता है। नीचे दिया हुआ तुलनात्मक नकशा[8] उपर्युक्त कथन का साक्षी है—

	१ प्रत्यक्ष	२ अनुमान	३ उपमान	४ आगम
अनुयोगद्वार, भगवती, स्थानांग				
चरकसंहिता	"	"	"	"
न्यायसूत्र	"	"	"	"
विग्रहव्यावर्तनी	"	"	"	"
उपायहृदय	"	"	"	"
सांख्यकारिका	"	"	×	"
योगाचार भूमिशास्त्र	"	"	×	"
अभिधर्मसंगितिशास्त्र	"	"	×	"
विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि	"	"	×	"
मध्यान्तविभागवृत्ति	"	"	×	"
वैशषिकसूत्र	"	"	×	×
प्रशस्तपाद	"	"	×	×
दिग्नाग	"	"	×	×
धर्मकीर्ति	"	"	×	×

प्रत्यक्षप्रमाणचर्चा—हम पहले कह आए हैं कि अनुयोगद्वार में प्रमाण शब्द को उसके विस्तृत अर्थ में लेकर प्रमाणों का भेदवर्णन किया गया है। किन्तु ज्ञप्ति साधन जो **प्रमाण ज्ञान** अनुयोगद्वार को अभीष्ट है उसी का विशेष विवरण करना प्रस्तुत में इष्ट है। अतएव अनुयोगद्वार संमत चार प्रमाणों का क्रमशः वर्णन किया जाता है—

नकशे से स्पष्ट है, कि अनुयोगद्वार के मत से प्रत्यक्ष ज्ञान प्रमाण के दो भेद हैं—

---

8. Pre-Dinnaga Buddhist Texts: Intro. P. XVII.

१. इन्द्रियप्रत्यक्ष

२. नोइन्द्रियप्रत्यक्ष

इन्द्रियप्रत्यक्ष में अनुयोगद्वार सूत्र ने १ श्रोत्रेन्द्रिय-प्रत्यक्ष, २ चक्षुरिन्द्रिय-प्रत्यक्ष ३ घ्राणेन्द्रिय-प्रत्यक्ष, ४ जिह्वेन्द्रिय-प्रत्यक्ष, और ५ स्पर्शेन्द्रिय प्रत्यक्ष—इन पांच प्रकार के प्रत्यक्षों का समावेश किया है।

नोइन्द्रियप्रत्यक्ष प्रमाण में जैनशास्त्र प्रसिद्ध तीन प्रत्यक्ष ज्ञानों का समावेश है—१ अवधिज्ञान-प्रत्यक्ष, २ मनःपर्ययज्ञान प्रत्यक्ष और ३ केवलज्ञान-प्रत्यक्ष। प्रस्तुत में 'नो' का अर्थ है—इन्द्रिय का अभाव। अर्थात् ये तीनों ज्ञान इन्द्रिय-जन्य नहीं हैं। ये ज्ञान केवल आत्म-सापेक्ष हैं।

जैन परम्परा के अनुसार इन्द्रिय जन्य ज्ञानों को **परोक्ष ज्ञान** कहा जाता है, किन्तु प्रस्तुत प्रमाण-चर्चा परसंमत प्रमाणों के ही आधार से है, अतएव यहाँ उसी के अनुसार इन्द्रियजन्य ज्ञानों को **प्रत्यक्ष-प्रमाण** कहा गया है। नन्दीसूत्र में जो इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है, वह भी पर सिद्धान्त का अनुसरण करके ही कहा गया है।

वैशेषिक सूत्र में लौकिक और अलौकिक दोनों प्रकार के प्रत्यक्ष की व्याख्या दी गई है[९]। किन्तु न्याय सूत्र[१०] और मीमांसा दर्शन में[११] लौकिक प्रत्यक्ष की ही व्याख्या दी गई है। लौकिक प्रत्यक्ष की व्याख्या में दार्शनिकों ने प्रधानतया बहिरिन्द्रियजन्य ज्ञानों को लक्ष्य में रखा हो, यह प्रतीत होता है। क्योंकि न्यायसूत्र, वैशेषिकसूत्र और मीमांसा दर्शन की लौकिक प्रत्यक्ष की व्याख्या में सर्वत्र इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है।

मन इन्द्रिय है या नहीं इस विषय में न्याय सूत्र और वैशेषिक सूत्र विधि रूप से कुछ नहीं बताते। प्रत्तुत न्याय सूत्र में प्रमेय निरूपण में मन

---

[९] वैशे० ३.१.१८; ६.१.११-१५।

[१०] १.१.४।

[११] १.१.४।

को इन्द्रियों से पृथक् गिनाया है (१. १. ६.) और इन्द्रिय निरूपण में (१. १. १२) पांच बहिरिन्द्रियों का ही परिगणन किया गया है। इसलिए सामान्यतः कोई यह कह सकता है, कि न्याय सूत्रकार को मन इन्द्रिय रूप से इष्ट नहीं था किन्तु इसका प्रतिवाद करके वात्स्यायन ने कह दिया है कि मन भी इन्द्रिय है। मन को इन्द्रिय से पृथक् बताने का तात्पर्य यह है कि वह अन्य इन्द्रियों से विलक्षण है (न्यायभा० १. १. ४)। वात्स्यायन के इस स्पष्टीकरण के होते हुए भी तथा सांख्यकारिका में (का० २७) स्पष्ट रूप से इन्द्रियों में मन का अन्तर्भाव होने पर भी माठर ने प्रत्यक्ष को पांच प्रकार का बताया है। उससे फलित यह होता है कि लौकिक प्रत्यक्ष में स्पष्ट रूप से मनोजन्यज्ञान समाविष्ट नहीं था। इसी बात का समर्थन नन्दी और अनुयोगद्वार से भी होता है। क्योंकि उनमें भी लौकिक प्रत्यक्ष में पांच इन्द्रियजन्य ज्ञानों को ही स्थान दिया है। किन्तु इसका मतलब यह नहीं है, कि प्राचीन दार्शनिकों ने मानस ज्ञान का विचार ही नहीं किबा हो। प्राचीन काल के ग्रन्थों में लौकिक प्रत्यक्ष में मानस प्रत्यक्ष को भी स्वतंत्र स्थान मिला है। इससे पता चलता है कि वे मानस प्रत्यक्ष से सर्वथा अनभिज्ञ नहीं थे। चरक में प्रत्यक्ष को इन्द्रियज और मानस ऐसे दो भेदों में विभक्त किया है[१२]। इसी परम्परा का अनुसरण करके बौद्ध मैत्रेयनाथ ने भी योगाचार-भूमिशास्त्र में प्रत्यक्ष के चार भेदों में मानस प्रत्यक्ष को स्वतन्त्र स्थान दिया है[13]। यही कारण है कि आगमों में सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष में मानस का स्थान न होने पर भी आचार्य अकलंकने उसे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष रूप से गिनाया है[१४]।

अनुमान के भेद—अनुयोगद्वार सूत्र में[१५] तीन भेद किए गए हैं—

---

[१२] विमान-स्थान अ० ४ सू० ५। अ० ८ सू० ३६।

[13] J. R. A. S. 1929 p. 465-466.

[१४] देखो न्याया० टिप्पणी पृ० २४३।

[१५] विशेष के लिए देखो प्रो० ध्रुव का 'त्रिविधमनुमानम्' ओरिएन्टल. कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन में पढ़ा गया व्याख्यान।

१. पूर्ववत्

२. शेषवत्

३. दृष्टसाधर्म्यवत्

प्राचीन चरक, न्याय, बौद्ध (उपायहृदय पृ० १३) और सांख्य ने भी अनुमान के तीन भेद तो बताए हैं[१६]। उनमें प्रथम के दो तो वही हैं, जो अनुयोग में हैं। किन्तु अन्तिम भेद का नाम अनुयोग की तरह दृष्टसाधर्म्यवत् न होकर सामान्यतोदृष्ट है।

प्रस्तुत में यह बता देना आवश्यक है कि अनुयोग में अनुमान के स्वार्थ और परार्थ ऐसे दो भेद नहीं किए गए। अनुमान को इन दो भेदों में विभक्त करने की परम्परा बाद की है। न्यायसूत्र और उसके भाष्य तक यह स्वार्थ और परार्थ ऐसे भेद करने की परम्परा देखी नहीं जाती। बौद्धों में दिग्नाग से पहले के मैत्रेय, असंग और वसुबन्धु के ग्रन्थों में भी वह नहीं देखी जाती। सर्वप्रथम बौद्धों में दिग्नाग के प्रमाण-समुच्चय में और वैदिकों में प्रशस्तपाद के भाष्य में ही स्वार्थ-परार्थ भेद देखे जाते हैं[१७]। जैनदार्शनिकों ने अनुयोगद्वार-स्वीकृत उक्त तीन भेदों को स्थान नहीं दिया है, किन्तु स्वार्थ-परार्थरूप भेदों को ही अपने ग्रन्थों में लिया है, इतना ही नहीं, बल्कि तीन भेदों की परम्परा का कुछ ने खण्डन भी किया है[१८]।

पूर्ववत्—पूर्ववत् की व्याख्या करते हुए अनुयोग द्वार में कहा है कि–

---

[१६] चरक सूत्रस्थान में अनुमान का तीन प्रकार है, यह कहा है, किन्तु नाम नहीं दिए—देखो सूत्रस्थान अध्याय ११. श्लो० २१,२२; न्यायसूत्र १.१.५। मूल सांख्यकारिका में नाम नहीं है केवल तीन प्रकार का उल्लेख है का० ५। किन्तु माठर ने तीनों के नाम दिए हैं। तीसरा नाम मूलकार को सामान्यतोदृष्ट ही इष्ट है—का०६।

[१७] प्रमाणसमु० २.१। प्रशस्त० पृ० ५६३, ५७७।

[१८] न्यायवि० ३४१,३४२। तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०५। स्याद्वादर० पृ० ५२७।

"माया पुत्तं जहा नट्ठं जुवाणं पुणरागयं।
काई पच्चभिजाणेज्जा पुव्वलिङ्गेण केणई॥
तं जहा—खत्तेण वा वण्णेण वा लंछणेण वा मसेण वा तिलएण वा"

तात्पर्य यह है कि पूर्व परिचित किसी लिङ्ग के द्वारा पूर्वपरिचित वस्तु का प्रत्यभिज्ञान करना पूर्ववत् अनुमान है।

उपायहृदय नामक बौद्ध ग्रन्थ में भी पूर्ववत् का वैसा ही उदाहरण है—

"यथा षडङ्गुलि सपिडकमूर्धानं बालं दृष्ट्वा पश्चाद्वृद्धं बहुश्रुतं देवदत्तं दृष्ट्वा षडङ्गुलि-स्मरणात् सोयमिति पूर्ववत्" पृ० १३।

उपायहृदय के बाद के ग्रन्थों में पूर्ववत् के अन्य दो प्रकार के उदाहरण मिलते हैं। उक्त उदाहरण छोड़ने का कारण यही है कि उक्त उदाहरण सूचित ज्ञान वस्तुतः प्रत्यभिज्ञान है। अतएव प्रत्यभिज्ञान और अनुमान के विषय में जबसे दार्शनिकों ने भेद करना प्रारम्भ किया तबसे पूर्ववत् का उदाहरण बदलना आवश्यक हो गया। इससे यह भी कहा जा सकता है कि अनुयोग में जो विवेचन है वह प्राचीन परम्परानुसारी है।

कुछ दार्शनिकों ने कारण से कार्य के अनुमान को और कुछ ने कार्य से कारण के अनुमान को पूर्ववत् माना है यह उनके दिए हुए उदाहरणों से प्रतीत होता है।

मेघोन्नति से वृष्टि का अनुमान करना, यह कारण से कार्य का अनुमान है। इसे पूर्ववत् का उदाहरण मानने वाले माठर, वात्स्यायन और गौडपाद हैं।

अनुयोगद्वार सूत्र के मत से कारण से कार्य का अनुमान शेषवदनुमान का एक प्रकार है। किन्तु प्रस्तुत उदाहरण का समावेश शेषवद् के 'आश्रयेण' भेद के अन्तर्गत है।

वात्स्यायन ने मतान्तर से धूम से वह्नि के अनुमान को भी पूर्ववत्

कहा है। यही मत चरक[19] और मूलमाध्यमिककारिका के टीकाकार पिङ्गल (?) को भी[20] मान्य था। शबर[21] भी वही उदाहरण देता है।

माठर भी कार्य से कारण के अनुमान को पूर्ववत् मानता है, किन्तु उसका उदाहरण दूसरा है—यथा, नदीपूर से वृष्टि का अनुमान।

अनुयोग द्वार के मत से धूम से वह्नि का ज्ञान शेषवदनुमान के पांचवे भेद 'आश्रयेण' के अन्तर्गत है।

माठरनिर्दिष्ट नदीपूर से वृष्टि के अनुमान को अनुयोग में अतीतकाल ग्रहण कहा है और वात्स्यायन ने कार्य से कारण के अनुमान को शेषवद् कहकर माठरनिर्दिष्ट उदाहरण को शेषवत् बता दिया है।

पूर्व का अर्थ होता है, कारण। किसी ने कारण को साधन मानकर, किसी ने कारण को साध्य मानकर और किसी ने दोनों मानकर पूर्ववत् की व्याख्या की है अतएव पूर्वोक्त मतवैविध्य उपलब्ध होता है। किन्तु प्राचीन काल में पूर्ववत् से प्रत्यभिज्ञा ही समझी जाती थी, यह अनुयोग-द्वार और उपायहृदय से स्पष्ट है।

न्यायसूत्रकार को 'पूर्ववत्' अनुमान का कैसा लक्षण इष्ट था, उसका पता लगाना भी आवश्यक है। प्रोफेसर ध्रुव का अनुमान है कि न्यायसूत्रकार ने पूर्ववत् आदि शब्द प्राचीन मीमांसकों से लिया है और उस परम्परा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पूर्व का अर्थ कारण और शेष का अर्थ कार्य है। अतएव न्यायसूत्रकार के मत में पूर्ववत् अनुमान कारण से कार्य का और शेषवत् अनुमान कार्य से कारण का है[22]। किन्तु न्यायसूत्र की अनुमान परीक्षा के (२.१.३७) आधार पर प्रोफेसर ज्वालाप्रसाद ने[23] पूर्ववत् और शेषवत् का जो अर्थ स्पष्ट किया

---

[19] सूत्रस्थान अ० ११ श्लोक २१।

[20] Pre Dinnaga Buddhist text. Intro. P. XVII.

[21] १.१.५।

[22] पूर्वोक्त व्याख्यान पृ० २६२-२६३।

[23] Indian Epistemology p. 171.

है, वह प्रोफेसर ध्रुव से ठीक उलटा है। अर्थात् पूर्व—कारण का कार्य से अनुमान करना पूर्ववत् है और कार्य का या उत्तरकालीन का कारण से अनुमान करना शेषवदनुमान है। वैशेषिक सूत्र में कार्य हेतु को प्रथम और कारण हेतु को द्वितीय स्थान प्राप्त है (९.२.१)। उससे भी पूर्ववत् और शेषवत् के उक्त अर्थ की पुष्टि होती है।

शेषवत्—अनुयोगद्वार का पूर्व चित्रित नकशा देखने से स्पष्ट होता है कि शेषवत् अनुमान में पांच प्रकार के हेतुओं को अनुमापक बताया गया है। यथा—

"से किं तं सेसवं ? सेसवं पंचविहं पण्णत्तं तं जहा कज्जेणं कारणेणं गुणेणं अवयवेणं आसएणं।"

१. कार्येण—कार्य से कारण का अनुमान करना। यथा शब्द से शंख का, ताडन से भेरी का, ढक्कित से वृषभ का, केकायित से मयूर का, हणहणाट (हेषित) से अश्व का, गुलगुलायित से गज का और घणघणायित से रथ का।[२४]

२. कारणेन—कारण से कार्य का अनुमान करना। इसके उदाहरण में अनुमान प्रयोग को तो नहीं बताया, किन्तु कहा है कि 'तन्तु पट का कारण है, पट तन्तु का कारण नहीं, वीरणा कट का कारण है, कट वीरणा का कारण नहीं, मृत्पिण्ड घट का कारण है, घट मृत्पिण्ड का कारण नहीं।[२५] इस प्रकार कह करके शास्त्रकार ने कार्यकारणभाव की व्यवस्था दिखा दी है। उसके आधार पर जो कारण है, उसे हेतु बनाकर कार्य का अनुमान कर लेना चाहिए यह सूचित किया है।

३. गुणेन—गुण से गुणी का अनुमान करना, यथा—निकष से सुवर्ण का, गन्ध से पुष्प का, रस से लवण का, आस्वाद से मदिरा का, स्पर्श से वस्त्र का।[२६]

---

[२४] "संखं सद्देणं, भेरिं ताडिएणं, वसभं ढक्किएणं, मोरं किंकाइएणं, हयं हेसिएणं, गयं गुलगुलाइएणं, रहं घणघणाइएणं।"

[२५] "तंतवो पडस्स कारणं ण पडो तंतुकारणं, वीरणा कडस्स कारणं ण कडो वीरणा-कारणं, मिप्पिंडो घडस्स कारणं ण घडो मिप्पिंडकारणं।"

[२६] "सुवण्णं निकसेणं, पुप्फं गंधेणं, लवणं रसेणं, मइरं आसायएणं, वत्थं फासेणं।"

४. अवयवेन—अवयव से अवयवी का अनुमान करना। यथा[२७], सींग से महिष का, शिखा से कुक्कुट का, दाँत से हस्ती का, दाढा से वराह का, पिच्छ से मयूर का, खुरा से अश्व का, नख से व्याघ्र का, बालाग्र से चमरी गाय का, लांगूल से वन्दर का, दो पैर से मनुष्य का, चार पैर से गो आदि का, बहु पैर से गोजर आदि का, केसर से सिंह का, ककुभ से वृषभ का, चूडी सहित बाहु से महिला का, बद्ध परिकरता से योद्धा का, वस्त्र से महिला का, धान्य के एक कण से द्रोण-पाक का और एक गाथा से कवि का।

५. *आश्रयेण—(आश्रितेन) आश्रित वस्तु से अनुमान करना,* यथा धूम से अग्नि का, बलाका से पानी का, अभ्र-विकार से वृष्टि का और शील समाचार से कुलपुत्र का अनुमान होता है।[२८]

अनुयोग द्वार के शेषवत् के पांच भेदों के साथ अन्य दार्शनिक कृत अनुमान भेदों की तुलना के लिये नीचे नकशा दिया जाता है—

वैशेषिक[२९]	अनुयोगद्वार	योगाचारभूमिशास्त्र[३०]	धर्मकीर्ति
१ कार्य	१ कार्य	१ कार्य-कारण	१ कार्य
२ कारण	२ कारण		
३ संयोगी	३ आश्रित		

---

[२७] महिसं सिंगेण, कुक्कुडं सिहाए, हत्थि विसाणेणं, वराहं दाढाए, मोरं पिच्छेणं, आसं खुरेणं, वग्घं नहेणं, चमरिं वालग्गेणं, वाणरं लंगुलेणं, दुपयं मणुस्सादि, चउपयं गवमादि, वहुपयं गोमिआदि, सीहं केसरेणं, वसहं कुक्कुहेणं, महिलं वलयबाहाए, गाहा—परिअरबंधेण भडं जाणिज्जा महिलिअं निवसणेणं। सित्थेण दोणपागं, कविं च एक्काए गाहाए॥"

[२८] "अग्गि धूमेणं, सलिलं बलागेणं वुट्ठि अब्भविकारेणं, कुलपुत्तं सीलसमायारेणं।"

[२९] वैशे० ६. २. १।

[३०] J. R. A. S. 1929, P. 474.

४ समवायी { ४ गुण { २ कर्म
५ अवयव { ३ धर्म
४ स्वभाव

२ स्वभाव

५ विरोधी

३ अनुपलब्धि

५ निमित्त

उपायहृदय में शेषवत् का उदाहरण दिया गया है कि—

"शेषवद् यथा, सागरसलिलं पीत्वा तल्लवणरसमनुभूय शेषमपि सलिलं तुल्यमेव लवणमिति"—पृ० १३।

अर्थात् अवयव के ज्ञान से संपूर्ण अवयवी का ज्ञान शेषवत् है, यह उपायहृदय का मत है।

माठर और गौडपाद का भी यही मत है। उनका उदाहरण भी वही है, जो उपायहृदय में है।

Tsing-mu (पिङ्गल) का भी शेषवत् के विषय में यही मत है। किन्तु उसका उदाहरण उसी प्रकार का दूसरा है कि एक चावल के दाने को पके देखकर सभी को पक्व समझना।[31]

अनुयोगद्वार के शेषवत् के पाँच भेदों में से चतुर्थ 'अवयवेन' के अनेक उदाहरणों में उपायहृदय निर्दिष्ट उदाहरण का स्थान नहीं है, किन्तु पिङ्गल संमत उदाहरण का स्थान है।

न्यायभाष्यकार ने कार्य से कारण के अनुमान को शेषवत् कहा है और उसके उदाहरण रूप से नदीपूर से वृष्टि के अनुमान को बताया है। माठर के मत से तो यह पूर्ववत् अनुमान है। अनुयोगद्वार ने 'कार्येण' ऐसा एक भेद शेषवत् का माना है, पर उसके उदाहरण भिन्न ही हैं।

मतान्तर से न्यायभाष्य में परिशेषानुमान को शेषवत् कहा है। ऐसा माठर आदि अन्य किसी ने नहीं कहा। स्पष्ट है कि यह कोई भिन्न परंपरा है। अनुयोग द्वार ने शेषवत् के जो पाँच भेद बताए हैं, उनका मूल क्या है, यह कहा नहीं जा सकता।

---

[31] Pre-Dig. Intro. XVIII.

दृष्टसाधर्म्यवत्—दृष्टसाधर्म्यवत् के दो भेद किए गए हैं—१ सामान्यदृष्ट और २ विशेषदृष्ट। किसी एक वस्तु को देखकर तत्सजातीय सभी वस्तु का साधर्म्य ज्ञान करना या बहु वस्तु को देखकर किसी विशेष में तत्साधर्म्य का ज्ञान करना, यह सामान्यदृष्ट है, ऐसी सामान्यदृष्ट की व्याख्या शास्त्रकार को अभिप्रेत जान पड़ती है। शास्त्रकार ने इसके उदाहरण ये दिए हैं—जैसा एक पुरुष है, अनेक पुरुष भी वैसे ही हैं। जैसे अनेक पुरुष हैं, वैसा ही एक पुरुष है। जैसा एक कार्षापण है, अनेक कार्षापण भी वैसे ही हैं। जैसे अनेक कार्षापण हैं, एक भी वैसा ही है।[32]

विशेषदृष्ट दृष्टसाधर्म्यवत् वह है जो अनेक वस्तुओं में से किसी एक को पृथक् करके उसके वैशिष्ट्य का प्रत्यभिज्ञान करता है। शास्त्रकार ने इस अनुमान को भी पुरुष और कार्षापण के दृष्टान्त से स्पष्ट किया है। यथा—कोई एक पुरुष बहुत से पुरुषों के बीच में से पूर्वदृष्ट पुरुष का प्रत्यभिज्ञान करता है, कि यह वही पुरुष है, या इसी प्रकार कार्षापण का प्रत्यभिज्ञान करता है, तब उसका वह ज्ञान विशेषदृष्ट साधर्म्यवत् अनुमान है[33]।

अनुयोगद्वार में दृष्टसाधर्म्यवत् के जो दो भेद किए गए हैं उनमें प्रथम तो उपमान से और दूसरा प्रत्यभिज्ञान से भिन्न प्रतीत नहीं होता। माठर आदि अन्य दार्शनिकों ने सामान्यतोदृष्ट के जो उदाहरण दिए हैं, उनसे अनुयोगद्वार का पार्थक्य स्पष्ट है।

उपायहृदय में सूर्य-चन्द्र की गति का ज्ञान उदाहृत है। यही उदाहरण गौडपाद में, शबर में, न्यायभाष्य में और पिंगलमें है।

---

[32] "से किं तं सामण्णदिट्ठं ? जहा एगो पुरिसो तहा बहवे पुरिसा जहा बहवे पुरिसा तहा एगो पुरिसो। जहा एगो करिसावणो तहा बहवे करिसावणा, जहा बहवे करिसावणा तहा एगो करिसावणो।"

[33] "से जहाणामए केई पुरिसे कंचि पुरिसं बहूणं पुरिसाणं मज्झे पुव्वदिट्ठं पच्चभिजाणिज्जा-अयं से पुरिसे। बहूणं करिसावणाणं मज्झे पुव्वदिट्ठं करिसावणं पच्चभिजाणिज्जा-अयं से करिसावणे।"

सामान्यतोदृष्ट का यह भी उदाहरण मिलता है। यथा, इच्छादि से आत्मा का अनुमान करना। उसका निर्देश न्यायभाष्य और पिंगल में ।

अनुयोग द्वार, माठर और गौडपाद ने सिद्धान्ततः सामान्यतोदृष्ट का लक्षण एक ही प्रकार का माना है, भले ही उदाहरण भेद हो। माठर और गौडपाद ने उदाहरण दिया है कि **"पुष्पिताम्रदर्शनात्, अन्यत्र पुष्पिता आम्रा इति।"** यही भाव अनुयोग द्वार का भी है, जब कि शास्त्रकार ने कहा कि **"जहा एगो पुरिसो तहा बहवे पुरिसा।"** आदि।

अनुमान सामान्य का उदाहरण माठर ने दिया है कि **"लिङ्गेन त्रिदण्डादिदर्शनेन अदृष्टोऽपि लिङ्गी साध्यते नूनमसौ परिव्राडस्ति, अस्येदं त्रिदण्डमिति।"** गौडपाद ने इस उदाहरण के साध्य-साधन का विपर्यास किया है—यथा **दृष्ट्वा यतिम् यस्येदं त्रिदण्डमिति।"**।

कालभेद से त्रैविध्य :

अनुमानग्रहण काल की दृष्टि से तीन प्रकार का होता है, उसे भी शास्त्रकार ने बताया है। यथा—१ अतीतकालग्रहण, २ प्रत्युत्पन्नकाल ग्रहण और ३ अनागतकालग्रहण।

१. **अतीतकालग्रहण**—उत्तृण वन, निष्पन्नशस्या पृथ्वी, जलपूर्ण कुण्ड-सर-नदी-दीर्घिका-तडाग—आदि देखकर सिद्ध किया जाए कि सुवृष्टि हुई है, तो वह अतीतकालग्रहण है।[34]

२. **प्रत्युत्पन्नकालग्रहण**—भिक्षाचर्या में प्रचुर भिक्षा मिलती देख कर सिद्ध किया जाए कि सुभिक्ष है, तो वह प्रत्युत्पन्न काल ग्रहण है।[35]

३. **अनागतकालग्रहण**—बादल की निर्मलता, कृष्ण, पहाड़ सविद्युत् मेघ, मेघगर्जन, वातोद्भ्रम, रक्त और प्रस्निग्ध सन्ध्या, वारुण

---

[34] उत्तणाणि वणाणि निप्पण्णसस्सं वा मेइणिं पुण्णाणि अ कुण्ड-सर-णइ-दोहिआ-तडागाइं पासित्ता तेणं साहिज्जइ जहा सुवुट्ठीआसी।

[35] साहुं गोअरग्गगयं विच्छड्डिअपउरभत्तपाणं पासित्ता तेणं साहिज्जइ जहा सुभिक्खे वट्टई।"

या माहेन्द्र सम्बन्धी या और कोई प्रशस्त उत्पात—इनको देखकर जब सिद्ध किया जाए कि सुवृष्टि होगी तो यह अनागतकालग्रहण है।[३६]

उक्त लक्षणों का विपर्यय देखने में आवे तो तीनों कालों के ग्रहण में भी विपर्यय हो जाता है, अर्थात् अतीत कुवृष्टि का, वर्तमान दुर्भिक्ष का और अनागत कुवृष्टि का अनुमान होता है, यह भी अनुयोगद्वार में सोदाहरण[३७] दिखाया गया है।

कालभेद से तीन प्रकार का अनुमान होता है, इस मत को चरक ने भी स्वीकार किया है—

> "प्रत्यक्षपूर्वं त्रिविधं त्रिकालं चाऽनुमीयते।
> वह्निर्निगूढो धूमेन मैथुनं गर्भदर्शनात् ॥ २१ ॥
> एवं व्यवस्यन्त्यतीतं बीजात् फलमनागतम्।
> दृष्टा बीजात् फलं जातमिहैव व सदृशं बुधाः" ॥ २२ ॥
>
> चरक सूत्रस्थान अ० ११

अनुयोगद्वारगत अतीतकालग्रहण और अनागतकालग्रहण के दोनों उदाहरण माठर में पूर्ववत् के उदाहरण रूप से निर्दिष्ट हैं, जब कि स्वयं अनुयोग ने अभ्र-विकार से वृष्टि के अनुमान को शेषवत् माना है, तथा न्यायभाष्यकारने नदीपूर से भूतवृष्टि के अनुमान को शेषवत् माना है।

अवयव चर्चा :

अनुमान प्रयोग या **न्यायवाक्य** के कितने अवयव होने चाहिए इस विषय में मूल आगमों में कुछ नहीं कहा गया है। किन्तु आचार्य भद्रबाहु ने दशवैकालिकनिर्युक्ति में अनुमानचर्चा में **न्यायवाक्य** के अवयवों की चर्चा की है। यद्यपि संख्या गिनाते हुए उन्होंने पांच[३८] और दश[३९]

---

[३६] "अब्भस्स निम्मलत्तं कसिणा या गिरी सविज्जुआ मेहा। थणियं वा उब्भामो संझा रत्ता पणिट्ठा (द्धा) या ॥१॥ वारुणं वा महिंदं वा अण्णयरं वा पसत्थं उप्पायं पासित्ता तेणं साहिज्जइ जहा—सुवुट्ठी भविस्सइ।"

[३७] "एएसिं चेव विवज्जासे तिविहं गहणं भवइ, तं जहा" इत्यादि।

[३८] दश० नि० ५०। गा० ८९ से ९१।

[३९] गा० ५० गा० ९२ से।

अवयव होने की बात कही है किन्तु अन्यत्र उन्होंने मात्र उदाहरण या हेतु और उदाहरण से भी अर्थसिद्धि होने की बात कही है।[४०] 'दश अवयवों को भी उन्होंने दो प्रकार से गिनाया है।[४१] इस प्रकार भद्रबाहु के मत में अनुमानवाक्य के दो, तीन, पांच, दश, दश इतने अवयव होते हैं।

प्राचीन वाद-शास्त्र का अध्ययन करने से पता चलता है कि प्रारम्भ में किसी साध्य की सिद्धि में हेतु की अपेक्षा दृष्टांत की सहायता अधिकांश में ली जाती रही होगी। यही कारण है कि वाद में जब हेतु का स्वरूप व्याप्ति के कारण निश्चित हुआ और हेतु से ही मुख्यरूप से साध्यसिद्धि मानी जाने लगी तथा हेतु के सहायक रूप से ही दृष्टान्त या उदाहरण का उपयोग मान्य रहा, तब केवल दृष्टांत के बल से की जाने वाली साध्यसिद्धि को जात्युत्तरों में समाविष्ट किया जाने लगा। यह स्थिति न्यायसूत्र में स्पष्ट है। अतएव मात्र उदाहरण से साध्य सिद्धि होने की भद्रबाहु की बात किसी प्राचीन परंपरा की ओर संकेत करती है, यह मानना चाहिए।

आचार्य मैत्रेय ने[४२] अनुमान के प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टांत ये तीन अवयव माने हैं। भद्रबाहु ने भी उन्हीं तीनों को निर्दिष्ट किया है। माठर और दिग्नाग ने भी पक्ष, हेतु और दृष्टान्त ये तीन ही अवयव माने हैं और पांच अवयवों का मतान्तर रूप से उल्लेख किया है।

पांच अवयवों में दो परम्पराएँ हैं—एक माठरनिर्दिष्ट[४३] और प्रशस्त संमत तथा दूसरी न्याय-सूत्रादि संमत। भद्रबाहु ने पांच अवयवों में न्याय सूत्र की परम्परा का ही अनुगमन किया है। पर दश अवयवों के विषय में भद्रबाहु का स्वातंत्र्य स्पष्ट है। न्यायभाष्यकार ने भी दश अवयवों का उल्लेख किया है, किन्तु भद्रबाहुनिर्दिष्ट दोनों दश प्रकारों से वात्स्यायन

---

[४०] गा० ४९।

[४१] गा० ९२ से तथा १३७।

[४२] J. R. A. S. 1929, P. 476।

[४३] प्रशस्तपाद ने उन्हीं पांच अवयवों को माना है जिनका निर्देश माठर ने मतान्तर रूप से किया।

के दश प्रकार भिन्न हैं। इस प्रकार हम देखते हैं, कि न्यायवाक्य के दश अवयवों की तीन परम्पराएँ सिद्ध होती हैं। यह बात नीचे दिए जाने वाले नकशे से स्पष्ट हो जाती है—

मैत्रेय	माठर	दिग्नाग	प्रशस्त	न्यायसूत्र	न्यायभाष्य	
३	३	३	५	५	५	१०
प्रतिज्ञा	पक्ष	पक्ष	प्रतिज्ञा	प्रतिज्ञा	प्रतिज्ञा	प्रतिज्ञा
हेतु	हेतु	हेतु	अपदेश	हेतु	हेतु	हेतु
दृष्टान्त	दृष्टान्त	दृष्टान्त	निदर्शन	उदाहरण	उदाहरण	उदाहरण
			अनुसंधान	उपनय	उपनय	उपनय
			प्रत्याम्नाय	निगमन	निगमन	निगमन
						जिज्ञासा
						संशय
						शक्यप्राप्ति
						प्रयोजन
						संशयव्युदास

भद्रबाहु

२	३	५	१०	१०
प्रतिज्ञा	प्रतिज्ञा	प्रतिज्ञा	प्रतिज्ञा	प्रतिज्ञा
उदाहरण	हेतु	हेतु	प्रतिज्ञाविशुद्धि	प्रतिज्ञाविभक्ति
	उदाहरण	दृष्टांत	हेतु	हेतु
		उपसंहार	हेतुविशुद्धि	हेतुवि०
		निगमन	दृष्टान्त	विपक्ष
			दृष्टान्तविशुद्धि	प्रतिषेध
			उपसंहार	दृष्टांत
			उपसंहारविशुद्धि	आशंका
			निगमन	तत्प्रतिषेध
			निगमनविशुद्धि	निगमन

हेतु चर्चा :

स्थानांगसूत्र में हेतु के निम्नलिखित चार भेद बताए गए हैं[४४]—

१. ऐसा विधिरूप हेतु जिसका साध्य विधिरूप हो।

२. ऐसा विधिरूप हेतु जिसका साध्य निषेधरूप हो

३. ऐसा निषेधरूप हेतु जिसका साध्य विधिरूप हो।

४. ऐसा निषेधरूप हेतु जिसका साध्य निषेधरूप हो।

स्थानांगनिर्दिष्ट इन हेतुओं के साथ वैशेषिक सूत्रगत हेतुओं की तुलना हो सकती है—

स्थानांग	वैशेषिक सूत्र
हेतु—साध्य	
१. विधि—विधि	संयोगी, समवायी, एकार्थ समवायी ३.१.९
	भूतो भूतस्य—३.१.१३
२. विधि—निषेध	भूतमभूतस्य—३.१.१२
३. निषेध—विधि	अभूतं भूतस्य ३.१.११
४. निषेध—निषेध	कारणाभावात् कार्याभावः १.२.१

आगे के बौद्ध और जैन दार्शनिकों ने हेतुओं को जो उपलब्धि और अनुपलब्धि ऐसे दो प्रकारों में विभक्त किया है, उसके मूल में वैशेषिक सूत्र और स्थानांगनिर्दिष्ट परम्परा हो, तो आश्चर्य नहीं।

औपम्य-चर्चा:

अनुयोगद्वार-सूत्र में औपम्य दो प्रकार का है— १. साधर्म्योपनीत २. वैधर्म्योपनीत।

साधर्म्योपनीत तीन प्रकार का है—

१. किञ्चित्साधर्म्योपनीत।

२. प्रायः साधर्म्योपनीत।

३. सर्वसाधर्म्योपनीत।

---

४४ "अहवा हेऊ चउव्विहे पन्नते तं जहा—अत्थित्तं अत्थि सो हेऊ १, अत्थित्तं ऊ २, णत्थित्तं अत्थि सो हेऊ ३, णत्थित्तं णत्थि सो हेऊ।"

किञ्चित्साधर्म्योपनीत के उदाहरण हैं। जैसा मंदर—मेरु है वैसा सर्षप है, जैसा सर्षप है, वैसा मंदर है; जैसा समुद्र है वैसा गोष्पद है, जैसा गोष्पद है वैसा समुद्र है। जैसा आदित्य है वैसा खद्योत है, जैसा खद्योत है वैसा आदित्य है। जैसा चन्द्र है वैसा कुमुद है, जैसा कुमुद है वैसा चन्द्र है।[४५]

प्रायः साधर्म्योपनीत के उदाहरण हैं। जैसा गौ है वैसा गवय है, जैसा गवय है वैसा गौ है।[४६]

सर्वसाधर्म्योपनीत—वस्तुतः सर्वसाधर्म्योपमान हो नहीं सकता फिर भी किसी व्यक्ति की उसी से उपमा की जाती है, यह व्यवहार देखकर उपमान का यह भेद भी शास्त्रकार ने मान्य रखा है। इसके उदाहरण बताए हैं कि—अरिहंत ने अरिहंत जैसा ही किया, चक्रवर्ती ने चक्रवर्ती जैसा ही किया इत्यादि।[४७]

वैधर्म्योपनीत भी तीन प्रकार का है—

१. किञ्चिद्वैधर्म्य
२. प्रायोवैधर्म्य
३. सर्ववैधर्म्य

१. किञ्चिद्वैधर्म्य का उदाहरण दिया है, कि जैसा शावलेय है वैसा बाहुलेय नहीं। जैसा बाहुलेय है वैसा शावलेय नहीं।[४८]

२. प्रायोवैधर्म्य का उदाहरण है—जैसा वायस है वैसा पायस नहीं है। जैसा पायस है वैसा वायस नहीं है।[४९]

३. सर्ववैधर्म्य—सब प्रकार से वैधर्म्य तो किसी का किसी से

---

[४५] "जहा मंदरो तहा सरिसवो, जहा सरिसवो तहा मंदरो, जहा समुद्दो तहा गोप्पयं. जहा गोप्पयं तहा समुद्दो। जहा आइच्चो तहा खज्जोतो, जहा खज्जोतो तहा आइच्चो, जहा चन्दो तहा कुमुदो जहा कुमुदो तहा चन्दो।"

[४६] "जहा गो तहा गवओ, जहा गवओ तहा गो।"

[४७] "सव्वसाहम्मे ओवम्मे नत्थि, तहावि तेणेव तस्स ओवम्मं कीरइ.जहा अरिहंतेणं अरिहंतसरिसं कयं" इत्यादि—

[४८] जहा सामलेरो न तहा बाहुलेरो, जहा बाहुलेरो न तहा सामलेरो।"

[४९] जहा वायसो न तहा पायसो, जहा पायसो न तहा वायसो।"

नहीं होता। अतएव वस्तुतः यह उपमान बन नहीं सकता, किन्तु व्यवहाराश्रित इसका उदाहरण शास्त्रकार ने बताया है। इसमें स्वकीय से उपमा दी जाती है। जैसे नीच ने नीच जैसा ही किया, दास ने दास जैसा ही किया। आदि।[५०]

शास्त्रकार ने सर्ववैधर्म्य का जो उक्त उदाहरण दिया है, उसमें और सर्वसाधर्म्य के पूर्वोक्त उदाहरण में कोई भेद नहीं दिखता। वस्तुतः प्रस्तुत उदाहरण सर्वसाधर्म्य का हो जाता है।

न्याय-सूत्र में उपमान परीक्षा में पूर्व-पक्ष में कहा गया है कि अत्यन्त, प्रायः और एक देश से जहाँ साधर्म्य हो, वहाँ उपमान प्रमाण हो नहीं सकता है, इत्यादि। यह पूर्वपक्ष अनुयोगद्वारगत साधर्म्योपमान के तीन भेद की किसी पूर्व परम्परा को लक्ष्य में रख कर ही किया गया है यह उक्त सूत्र की व्याख्या देखने से स्पष्ट हो जाता है। इससे फलित यह होता है कि अनुयोग का उपमान वर्णन किसी प्राचीन परंपरानुसारी हैं।[५१]

आगम-चर्चा—अनुयोगद्वार में आगम के दो भेद किए गए हैं १. लौकिक २. लोकोत्तर।

१. **लौकिक आगम** में जैनेतर शास्त्रों का समावेश अभीष्ट है। जैसे महाभारत, रामायण, वेद आदि और ७२ कलाशास्त्रों का समावेश भी उसी में किया है।

२. **लोकोत्तर आगम** में जैन शास्त्रों का समावेश है। लौकिक आगमों के विषय में कहा गया है, कि अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीवों ने अपने स्वच्छन्दमति-विकल्पों से बनाए हैं। किन्तु लोकोत्तर—जैन आगम के विषय में कहा है कि वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी पुरुषों ने बनाए हैं।

---

[५०] "सव्ववेहम्मे ओवम्मे नत्थि तहावि तेणेव तस्स ओवम्मं कीरइ, जहा णीएण णीअसरिसं कयं, दासेण दाससरिसं कयं।" इत्यादि।

[५१] देखो न्याया० टिप्पणी—पृष्ठ २२२-२२३।

आगम के भेद एक अन्य प्रकार से भी किए गए हैं—

१. आत्मागम
२. अनन्तरागम
३. परम्परागम

सूत्र और अर्थ की अपेक्षा से आगम का विचार किया जाता है। क्योंकि यह माना गया है, कि तीर्थंकर अर्थ का उपदेश करते हैं, जब कि गणधर उसके आधार से सूत्र की रचना करते हैं। अतएव अर्थरूप आगम स्वयं तीर्थंकर के लिए आत्मागम है और सूत्ररूप आगम गणधरों के लिए आत्मागम है। अर्थ का मूल उपदेश तीर्थंकर का होने से गणधर के लिए वह आत्मागम नहीं, किन्तु गणधरों को ही साक्षात् लक्ष्य करके अर्थ का उपदेश दिया गया है। अतएव अर्थागम गणधर के लिये अनन्तरागम है,गणधर शिष्यों के लिये अर्थरूप आगम परम्परागम है क्योंकि तीर्थंकर से गणधरों को प्राप्त हुआ और गणधरों से शिष्यों को। सूत्ररूप आगम गणधर शिष्यों के लिए अनन्तरागम है, क्योंकि सूत्र का उपदेश गणधरों से साक्षात् उनको मिला है। गणधर शिष्यों के बाद में होने वाले आचार्यों के लिए सूत्र और अर्थ उभयरूप आगम परम्परागम ही है—

	आत्मागम,	अनन्तरागम,	परम्परागम
तीर्थंकर	अर्थागम	×	×
गणधर	सूत्रागम	अर्थागम	×
गणधर-शिष्य	×	सूत्रागम	अर्थागम
गणधर-शिष्य आदि	×	×	सूत्रागम, अर्थागम

मीमांसक के सिवाय सभी दार्शनिकों ने आगम को पौरुषेय ही माना है और सभी ने अपने-अपने इष्ट पुरुष को ही आप्त मानकर अन्य को अनाप्त सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। अन्ततः सभी को दूसरों के सामने आगम का प्रामाण्य अनुमान और युक्ति से आगमोक्त बातों की संगति दिखाकर स्थापित करना ही पड़ता है। यही कारण है कि निर्युक्तिकार ने आगम को स्वयंसिद्ध मानकर भी हेतु और उदाहरण की आवश्यकता, आगमोक्त बातों की सिद्धि के लिए स्वीकार की है—

"जिणवयणं सिद्धं चेव भण्णए कत्थई उदाहरणं।
आसज्ज उ सोयारं हेऊ वि कहिंचि भण्णेज्जा ॥"
दशवै० नि० ४६।

किस पुरुष का बनाया हुआ शास्त्र आगम रूप से प्रमाण माना जाए इस विषय में जैनों ने अपना जो अभिमत आगमिक काल में स्थिर किया है, उसे भी बता देना आवश्यक है। सर्वदा यह तो संभव नहीं कि तीर्थ प्रवर्तक और उनके गणधर मौजूद रहें और शंका स्थानों का समाधान करते रहें। इसी आवश्यकता में से ही तदतिरिक्त पुरुषों को भी प्रमाण मानने की परम्परा ने जन्म लिया और गणधर-प्रणीत आचारांग आदि अंगशास्त्रों के अलावा स्थविरप्रणीत अन्य शास्त्र भी आगमान्तर्गत होकर अंगबाह्य रूप से प्रमाण माने जाने लगे—

"सुत्तं गणधरकथिदं तहेव पत्तेयबुद्धकथिदं च।
सुवकेवलिणा कथिदं अभिण्णदसपुव्वकथिदं च ॥"[५२]

इस गाथा के अनुसार गणधर कथित के अलावा प्रत्येकबुद्ध श्रुतकेवली और दशपूर्वी के द्वारा कथित भी सूत्र आगम में अन्तर्भूत है। प्रत्येकबुद्ध सर्वज्ञ होने से उनका वचन प्रमाण है। जैन परम्परा के अनुसार अंगबाह्य ग्रन्थों की रचना स्थविर करते हैं[५३]। ऐसे स्थविर दो प्रकार के होते हैं। सम्पूर्ण श्रुतज्ञानी और कम से कम दशपूर्वी। सम्पूर्ण श्रुतज्ञानी को चतुर्दशपूर्वी श्रुतकेवली कहते हैं। श्रुतकेवली गणधर प्रणीत संपूर्ण द्वादशांगीरूप जिनागम के सूत्र और अर्थ के विषय में निपुण होते हैं। अतएव उनकी ऐसी योग्यता मान्य है, कि वे जो कुछ कहेंगे या लिखेंगे उसका द्वादशाङ्गी रूप जिनागम के साथ कुछ भी विरोध हो नहीं सकता। जिनोक्त विषयों का संक्षेप या विस्तार करके तत्कालीन समाज के अनुकूल ग्रन्थ रचना करना ही उनका प्रयोजन होता है; अतएव संघ ने ऐसे ग्रन्थों को सहज ही में जिनागमान्तर्गत कर लिया है, इनका प्रामाण्य

---

५२. मूलाचार ५. ८०। जयधवला टीका में उद्धृत है पृ० १५३। ओघनिर्युक्ति की टीका में वह उद्धृत है पृ० ३।

५३. विशेषा० ५५०। बृहत्० ११४। तत्वार्थभा० १.२०। सर्वार्थ० १.२०।

स्वतन्त्र भाव से नहीं, किन्तु गणधरप्रणीत आगम के साथ अविसंवाद के कारण है।

कालक्रम से जैन संघ में वीर नि० १७० वर्ष के बाद श्रुत केवली का भी अभाव हो गया और केवल दशपूर्वधर ही रह गए, तब उनकी विशेष योग्यता को ध्यान में रखकर जैन संघ ने दशपूर्वधर-ग्रथित ग्रन्थों को भी आगम में शामिल कर लिया। इन ग्रन्थों का भी प्रामाण्य स्वतन्त्रभाव से नहीं, किन्तु गणधरप्रणीत आगम के साथ अविरोधमूलक है।

जैनों की मान्यता है कि चतुर्दशपूर्वधर वे ही साधक हो सकते हैं, जिनमें नियमतः **सम्यग्दर्शन** होता है।[५४] अतएव उनके ग्रन्थों में आगम विरोधी बातों की संभावना ही नहीं है।

आगे चलकर ऐसे कई आदेश जिनका समर्थन किसी शास्त्र से नहीं होता है, किन्तु जो स्थविरों ने अपनी प्रतिभा के बल से किसी विषय में दी हुई संमतिमात्र हैं, उनका समावेश भी अंगबाह्य आगम में कर लिया गया है। इतना ही नहीं कुछ मुक्तकों को भी उसी में स्थान प्राप्त है।[५५]

अभी तक हमने आगम के प्रामाण्य-अप्रामाण्य का जो विचार किया है, वह वक्ता की दृष्टि से। अर्थात् किस वक्ता के वचन को व्यवहार में सर्वथा प्रमाण माना जाए। किन्तु आगम के प्रामाण्य या अप्रामाण्य का एक दूसरी दृष्टि से भी अर्थात् श्रोता की दृष्टि से भी आगमों में विचार हुआ है, उसे भी बता देना आवश्यक है।

शब्द तो निर्जीव हैं और सभी सांकेतिक अर्थ के प्रतिपादन की योग्यता रखते हैं। अतएव सर्वार्थक भी हैं। ऐसी स्थिति में निश्चय दृष्टि से विचार करने पर शब्द का प्रामाण्य जैसा मीमांसक मानता है स्वतः नहीं किन्तु प्रयोक्ता के गुण के कारण सिद्ध होता है। इतना ही नहीं

---

५४. बृहत्० १३२।

५५. बृहत् १४४ और उसकी पादटीप। विशेषा० ५५०।

बल्कि श्रोता या पाठक के कारण भी प्रामाण्य या अप्रामाण्य का निर्णय करना पड़ता है। अतएव यह आवश्यक हो जाता है, कि वक्ता और श्रोता दोनों की दृष्टि से आगम के प्रामाण्य का विचार किया जाए।

शास्त्र की रचना निष्प्रयोजन नहीं, किन्तु श्रोता को अभ्युदय और निःश्रेयस् मार्ग का प्रदर्शन करने की दृष्टि से ही है—यह सर्वसंमत है। किन्तु शास्त्र की उपकारकना या अनुपकारकता मात्र शब्दों पर निर्भर न होकर श्रोता की योग्यता पर भी निर्भर है। यही कारण है कि एक ही शास्त्रवचन के नाना और परस्पर विरोधी अर्थ निकाल कर दार्शनिक लोग नाना मतवाद खड़े कर देते हैं। एक भगवद्गीता या एक ही ब्रह्मसूत्र कितने विरोधी वादों का मूल बना हुआ है। अतः श्रोता की दृष्टि से किसी एक ग्रन्थ को नियमतः सम्यक् या मिथ्या कहना या किसी एक ग्रन्थ को ही आगम कहना, निश्चय दृष्टि से भ्रमजनक है। यही सोचकर मूल ध्येय मुक्ति की पूर्ति में सहायक ऐसे सभी शास्त्रों को जैनाचार्यों ने सम्यक् या प्रमाण कहा है। यह व्यापक दृष्टि बिन्दु आध्यात्मिक दृष्टि से जैन परंपरा में पाया जाता है। इस दृष्टि के अनुसार वेदादि सब शास्त्र जैनों को मान्य हैं। जिस जीव की श्रद्धा सम्यक् है, उसके सामने कोई भी शास्त्र आ जाए वह उसका उपयोग मोक्ष मार्ग को प्रशस्त बनाने में ही करेगा। अतएव उसके लिए सब शास्त्र प्रामाणिक हैं, सम्यक् हैं किन्तु जिस जीव की श्रद्धा ही विपरीत है, यानी जिसे मुक्ति की कामना ही नहीं उसके लिए वेदादि तो क्या तथाकथित जैनागम भी मिथ्या है, अप्रमाण हैं। इस दृष्टि बिन्दु में सत्य का आग्रह है सांप्रदायिक कदाग्रह नहीं—"भारहं रामायणं······· चत्तारि य वेया संगोवंगा—एयाइं मिच्छादिट्ठिस्स मिच्छत्तपरिग्गहियाइं मिच्छासुयं। एयाइं चेव सम्मदिट्ठिस्स सम्मत्तपरिग्गहियाइं सम्मसुयं—नंदी—४१।

**
**

सम्यक् - श्रुतस्य मिथ्यात्वं,
मिथ्यादृष्टि - परिग्रहात् ।
मिथ्या - श्रुतस्य सम्यक्त्वं,
सम्यग्दृष्टि - परिग्रहात् ।

⁂

न समुद्रोऽ समुद्रो वा,
समुद्रांशो यथोच्यते ।
नाप्रमाणं प्रमाणं वा,
प्रमाणांशस्तथा नयः ॥

—नयोपदेश

वाद-विद्या-खण्ड

चार

जैन आगमों में वाद और वाद-विद्या :

१. वाद का महत्त्व—जैन धर्म आचार प्रधान है, किन्तु देश-काल की परिस्थिति का असर उसके ऊपर न हो, यह कैसे हो सकता है ? स्वयं भगवान महावीर को अपनी धर्मदृष्टि का प्रचार करने के लिए अपने चरित्र-बल के अलावा वाग्बल का प्रयोग करना पड़ा है। तब उनके अनुयायी मात्र चरित्र-बल के सहारे जैनधर्म का प्रचार और स्थापन करें, यह संभव नहीं।

भगवान् महावीर का तो युग ही, ऐसा मालूम देता है कि, जिज्ञासा का था। लोग जिज्ञासा-तृप्ति के लिए इधर-उधर घूमते रहे और जो भी मिला उससे प्रश्न पूछते रहे। लोग कोरे कर्म-काण्ड—यज्ञयागादि से हट करके तत्त्वजिज्ञासु होते जा रहे थे। वे अकसर किसी की बात को तभी मानते, जबकि वह तर्क की कसौटी पर खरी उतरे अर्थात् अहेतुवाद के स्थान में हेतुवाद का महत्त्व बढ़ता जा रहा था। अनेक लोग अपने आपको तत्त्व-द्रष्टा बताते थे, और अपने तत्त्व-दर्शन को लोगों में फैलाने के लिए उत्सुकतापूर्वक इधर से उधर विहार करते थे और उपदेश देते थे, या जिज्ञासु स्वयं ऐसे लोगों का नाम सुनकर उन के पास जाता था और नानाविध प्रश्न पूछता था। जिज्ञासु के सामने नाना मतवादों और समर्थक युक्तियों की धारा बहती रहती थी। कभी जिज्ञासु उन मतों की तुलना अपने आप करता था, तो कभी तत्त्वद्रष्टा ही दूसरों के मत की त्रुटि दिखा करके अपने मत को श्रेष्ठ सिद्ध करते रहे। ऐसे ही वाद प्रतिवाद में से वाद के नियमोपनियमों का विकास होकर क्रमशः वाद का भी एक शास्त्र बन गया। न्याय-सूत्र, चरक या प्राचीन बौद्ध तर्क-शास्त्र में वादशास्त्र का जो विकसित रूप देखा जाता है, उसकी पूर्व भूमिका जैन आगम और बौद्धपिटकों में विद्यमान है। उपनिषदों में वाद-

विवाद तो वहुत है किन्तु उन वाद-विवादों के पीछे कौन से नियम काम कर रहे हैं, इसका उल्लेख नहीं। अतएव वादविद्या के नियमों का प्राचीन रूप देखना हो, तो जैनागम और वौद्ध पालि त्रिपिटक ही की शरण लेनी पड़ती है। इसी से वाद और वादशास्त्र के पदार्थों के विषय में जैन आगम का आश्रयण कर के कुछ लिखना अप्रस्तुत न होगा। ऐसा करने से यह ज्ञात हो सकेगा, कि वादशास्त्र पहिले कैसा अव्यवस्थित था और किस तरह वाद में व्यवस्थित हुआ तथा जैन दार्शनिकों ने अपने ही आगमगत पदार्थों से क्या छोड़ा और किसे किस रूप में कायम रखा।

कथा-साहित्य और कथापद्धति के वैदिक, वौद्ध और जैनपरंपरा-गत विकास की रूपरेखा का चित्रण[1] पंण्डित सुखलालजी ने विस्तार से किया है। विशेष जिज्ञासुओं को उसी को देखना चाहिए। प्रस्तुत में जैनआगम को केन्द्र रखकर ही कथा या वाद में उपयुक्त ऐसे कुछ पदार्थों का निरूपण करना इष्ट है।

श्रमण और ब्राह्मण अपने-अपने मत की पुष्टि करने के लिए विरोधियों के साथ वाद करते हुए और युक्तियों के वल से प्रतिवादी को परास्त करते हुए वौद्धपिटकों में देखे जाते हैं। जैनागम में भी प्रतिवा-दियों के साथ हुए श्रमणों, श्रावकों और स्वयं भगवान महावीर के वादों का वर्णन आता है। उपासकदशांग में गोशालक के उपासक सद्दालपुत्त के साथ नियतिवाद के विषय में हुए भगवान महावीर के वाद का अत्यंत रोचक वर्णन है—अध्य० ७। उसी सूत्र में उसी विषय में कुंडकोलिक और एक देव के वीच हुए वाद का भी वर्णन है—अ० ६।

जीव और शरीर भिन्न हैं, इस विषय में पार्श्वानुयायी केशीश्रमण और नास्तिक राजा पएसी का वाद रायपसेणइय सूत्र में निर्दिष्ट है। ऐसा ही वाद वौद्धपिटक के दीघनिकाय में पायासीसुत्त में भी निर्दिष्ट है।

सूत्रकृतांग में आर्य आर्द्रक का अनेक मतवादियों के साथ नानाम-न्तव्यों के विषय में जो वाद हुआ है, उसका वर्णन है—सूत्रकृतांग २.६।

---

[1] पुरातत्त्व २. ३. में 'कथापद्धतिनुं स्वरूप अने तेना साहित्यनुं दिग्दर्शन' तथा प्रमाणमीमांसा भाषा टिप्पण पृ० १०८-१२४।

भगवती-सूत्र में लोक की शाश्वतता और अशाश्वतता, सान्तता और अनन्तता के विषय में, जीव की सान्तता, अनन्तता, एकता अनेकता आदि के विषय में, कर्म स्वकृत है, परकृत है कि उभयकृत है– क्रियमाण कृत है कि नहीं, इत्यादि विषय में भगवान महावीर के अन्य तीर्थिकों के साथ हुए वादों का तथा जैन श्रमणों के अन्य तीर्थिकों के साथ हुए वादों का विस्तृत वर्णन पद पद-पर मिलता है—देखो स्कंधक, जमाली आदि की कथाएँ।

उत्तराध्ययनगत पार्श्वानुयायी केशीश्रमण और भगवान महावीर के प्रधान शिष्य गणधर गौतम के बीच हुआ जैन-आचार विषयक वाद सुप्रसिद्ध है—अध्ययन—२३।

भगवती सूत्र में भी पार्श्वानुयायियों के साथ महावीर के श्रावक और श्रमणों के वादों का उल्लेख अनेक स्थानों पर है—भगवती—१.९; २.५; ५.९; ९.३२।

सूत्रकृतांग में गौतम और पार्श्वानुयायी-उदक पेढालपुत्त का वाद भी सुप्रसिद्ध है—सूय० २.७। गुरु शिष्य के बीच होने वाला वाद वीतराग कथा कही जाती है, क्योंकि उसमें जय-पराजय को अवकाश नहीं। इस वीतराग कथा से तो जैनआगम भरे पड़े हैं। किन्तु विशेषतः इसके लिए भगवती सूत्र देखना चाहिए। उसमें भगवान के प्रधान शिष्य गौतम ने मुख्य रूप से तथा प्रसंगतः अनेक अन्य शिष्यों ने अनेक विषयों में भगवान से प्रश्न पूछे हैं और भगवान ने अनेक हेतुओं और दृष्टांतों के द्वारा उनका समाधान किया है।

इन सब वादों से स्पष्ट है, कि जैन श्रमणों और श्रावकों में वाद कला के प्रति उपेक्षाभाव नहीं था। इतना ही नहीं, किन्तु धर्म प्रचार के साधन रूप से वाद-कला का पर्याप्त मात्रा में महत्त्व था। यही कारण है कि भगवान् महावीर के ऋद्धिप्राप्त शिष्यों की गणना में वाद-प्रवीण शिष्यों की पृथक् गणना की है। इतना ही नहीं, किन्तु सभी तीर्थंकरों के शिष्यों की गणना में वादियों की संख्या पृथक् बतलाने की प्रथा हो गई

है।[२] भगवान् महावीर के शिष्यों में वादो की संख्या बताते हुए स्थानांग में कहा है—

"समणस्स णं भगवओ महावीरस्स चत्तारिसया वादीणं सदेवमणुयासुराते परिसाते अपराजियाणं उक्कोसिता वादिसंपया हुत्था"—स्थानांग ३८२। येही बात कल्पसूत्र में (सू० १४२) भी है।

स्थानांगसूत्र में जिन नव प्रकार के निपुण पुरुषों को गिनाया है उनमें भी वाद-विद्याविशारद का स्थान है—सू० ६७९।

धर्मप्रचार में वाद मुख्य साधन होने से वाद-विद्या में कुशल ऐसे वादी साधुओं के लिए आचार के कठोर नियम भी मृदु बनाए जाते थे। इसकी साक्षी जैनशास्त्र देते हैं। जैन आचार के अनुसार शरीर शुचिता परिहार्य है। साधु स्नानआदि शरीर-संस्कार नहीं कर सकता, इसी प्रकार स्निग्ध-भोजन की भी मनाई है। तपस्या के समय तो और भी रूक्ष भोजन का विधान है। साफ-सुथरे कपड़े पहनना भी अनिवार्य नहीं। पर कोई पारिहारिक तपस्वी साधु वादी हो और किसी सभा में वाद के लिए जाना पड़े, तब भी सभा की दृष्टि से और जैन धर्म की प्रभावना की दृष्टि से उसे अपना नियम मृदु करना पड़ता है, तब वह ऐसा कर लेता है। क्योंकि यदि वह सभा-योग्य शरीर संस्कार नहीं कर लेता, तो विरोधियों को जुगुप्सा का एक अवसर मिल जाता है। मलिनवस्त्रों का प्रभाव भी सभाजनों पर अच्छा नहीं पड़ता, अतएव वह साफ सुथरे कपड़े पहन कर सभा में जाता है। रूक्षभोजन करने से बुद्धि की तीव्रता में कमी न हो इसलिए वाद करने के प्रसंग में प्रणीत अर्थात् स्निग्ध भोजन लेकर अपनी बुद्धि को सत्त्वशाली बनाने का यत्न करता है। ये सब सकारण आपवादिक प्रतिसेवना हैं[3]। प्रसंग पूर्ण हो जाने पर गुरु उसे अविधि पूर्वक अपवाद-सेवन के लिए हलका प्रायश्चित्त देकर शुद्ध कर देता है।

---

[२] कल्पसूत्र सू० १६५ इत्यादि।

[3] "पाया वा दंतासिया उ धोया, वा बुद्धिहेतुं व पणीयभत्तं। तं वातिगं वा मइसत्तहेउं सभाजयट्ठा सिचयं व सुक्कं ॥' बृहत्कल्पभाष्य ६०३५।

सामान्यतः नियम है, कि साधु अपने गण-गच्छ को छोड़कर अन्यत्र न जाए, किन्तु ज्ञान-दर्शन और चरित्र की वृद्धि की दृष्टि से अपने गुरु को पूछ कर दूसरे गण में जा सकता है। दर्शन को लक्ष्य में रखकर अन्य गण में जाने के प्रसंग में स्पष्टीकरण किया गया है, कि यदि स्वगण में दर्शन प्रभावक[४]शास्त्र (सन्मत्यादि) का कोई ज्ञाता न हो, तो जिस गण में उसका ज्ञाता हो, वहाँ जाकर पढ़ सकता है। इतना ही नहीं, किन्तु दूसरे आचार्य को अपना गुरु या उपाध्याय का स्थान भी हेतु-विद्या के लिए दे, तो अनुचित नहीं समझा जाता। ऐसा करने के पहले आवश्यक है, कि वह अपने गुरु या उपाध्याय की आज्ञा ले ले। बृहत्कल्पभाष्य में कहा है कि—

"विज्जामंतनिमित्ते हेऊ सत्थट्ठ दंसणट्ठाए" बृहत्कल्पभाष्य गा० ५४७३।

अर्थात् दर्शन प्रभावना की दृष्टि से विद्या-मन्त्र-निमित्त और हेतु शास्त्र के अध्ययन के लिए कोई साधु दूसरे आचार्योपाध्याय को भी अपना आचार्य वा उपाध्याय बना सकता है।

अथवा जब कोई शिष्य देखता है, कि तर्क-शास्त्र में उस के गुरु की गति न होने से दूसरे मत वाले उन से वाद करके उन तर्कानभिज्ञ गुरु को नीचा गिराने का प्रयत्न करते हैं, तब वह गुरु की अनुज्ञा लेकर गणान्तर में तर्कविद्या में निपुण होने के लिए जाता है या स्वयं गुरु उसे भेजते हैं।[५] अन्त में वह तर्क निपुण होकर प्रतिवादियों को हराता है और इस प्रकार दर्शनप्रभावना करता है।

यदि किसी कारण से आचार्य दूसरे गण में जाने की अनुज्ञा न देते हों, तब भी दर्शन प्रभावना की दृष्टि से बिना आज्ञा के भी वह दूसरे गण में जाकर वादविद्या में कुशलता प्राप्त कर सकता है। सामान्यतः अन्य आचार्य बिना आज्ञा के आए हुए शिष्य को स्वीकार नहीं कर सकते किन्तु ऐसे प्रसंग में वह भी उसे स्वीकार करके दर्शन प्रभावना की दृष्टि से तर्क-विद्या पढ़ाने के लिए बाध्य हो जाते हैं[६]।

[४] वही ५४२५।
[५] वही ५४२६–२७।
[६] वही गा० ५४३६।

विना कारण श्रमण रथ-यात्रा में नहीं जा सकता ऐसा नियम है। क्योंकि रथ-यात्रा में शामिल होने से अनेक प्रकार के दोष लगते हैं—(वृहत् गा० १७७१ से)। किन्तु कारण हो, तो रथ-यात्रा में अवश्य जाना चाहिए, यह अपवाद है। यदि नहीं जाता है, तो प्रायश्चित्तभागी होता है, ऐसा स्पष्ट विधान है—"कारणेषु तु समुत्पन्नेषु प्रवेष्टव्यम् यदि न प्रविशति तदा चत्वारो लघवः।" वृहत्० टी० गा० १७८९।

रथ-यात्रा में जाने के अनेक कारणों को गिनाते[७] हुए वृहत्कल्प के भाष्य में कहा गया है कि—

"मा परवाई विग्घं करिज्ज वाई अओ विसइ ॥ १७९२ ॥"

अर्थात् कोई परदर्शन का वादी रथ-यात्रा में विघ्न न करे इसलिए वादविद्या में कुशल वादी श्रमण को रथ यात्रा में अवश्य जाना चाहिए। उन के जाने से क्या लाभ होता है, उसे वताते हुए कहा है—

"नवधम्माण थिरत्तं पभावणा सासणे य बहुमाणो।
अभिगच्छन्ति य विदुसा अविग्घपूया य सेयाए॥ १७९३ ॥"

वादी श्रमण के द्वारा प्रतिवादी का जब निग्रह होता है, तब अभिनव श्रावक अन्य धार्मिकों का पराभव देखकर जैनधर्म में दृढ हो जाते हैं। जैनधर्म की प्रभावना होती है। लोग कहने लग जाते हैं, कि जैन सिद्धांत अप्रतिहत है, इसीलिए ऐसे समर्थ वादी ने उसे अपनाया है। दूसरे लोग भी वाद को सुनकर जैनधर्म के प्रति आदर-शील होते हैं। वादी का वैदग्ध्य देखकर दूसरे विद्वान् उन के पास आने लगते हैं और धीरे-धीरे जैनधर्म के अनुयायी हो जाते हैं। इस प्रकार इन आनुषंगिक लाभों के अलावा रथ-यात्रा में श्रेयस्कर पूजा की निर्विघ्नता का लाभ भी है। अतएव वादी को रथयात्रा में अवश्य जाना चाहिए।

निम्नलिखित श्लोक में धर्म प्रभावकों में वादी को भी स्थान मिला है।

"प्रावचनी धर्मकथी वादी नैमित्तिकस्तपस्वी च।
जिनवचनज्ञश्च कविः प्रवचनमुद्भावयन्त्येते ॥"[८]

---

[७] गा० १७९०।

[८] वृहत्० टी० गा० १७९८ में उद्धृत।

कभी-कभी ध्यान एवं स्वाध्याय छोड़कर ऐसे वादियों को वाद-कथा में ही लगना पड़ता था, जिससे वे परेशान भी थे और गच्छ छोड़कर किसी एकान्त स्थान में जाने की वे सोचते थे। ऐसी स्थिति में गुरु उन पर प्रतिवन्ध लगाते थे, कि मत जाओ। फिर भी वे स्वच्छन्द होकर गच्छ को छोड़कर चले जाते थे। ऐसा बृहत्कल्प के भाष्य से पता चलता है—गा० ५६६१,५६६७ इत्यादि।

२. कथा :

स्थानांग सूत्र में कथा के तीन भेद वताए हैं। वे ये हैं—

"तिविहा कहा—अत्थकहा, धम्मकहा, काम-कहा।" सू० १८९।

इन तीनों में धर्मकथा ही यहाँ प्रस्तुत है। स्थानांग में (सू० २८२) धर्म-कथा के भेदोपभेदों का जो वर्णन है, उसका सार नीचे दिया जाता है।

धर्मकथा

१ आक्षेपणी	**२ विक्षेपणी**	**३ संवेजनी**
१ आचाराक्षे०	१ स्वसमय कह कर परसमय कथन	१ इहलोकसं०
२ व्यवहारा०	२ परसमय कथनपूर्वक स्वसमय स्थापन	२ परलोकसं०
३ प्रज्ञप्ति	३ सम्यग्वाद के कथनपूर्वक मिथ्यावादकथन	३ स्वशरीरसं०
४ दृष्टिवाद	४ मिथ्यावादकथनपूर्वक सम्यग्वाद स्थापन	४ परशरीरसं०

४. निर्वेदनी

१. इहलोक में	किए	दुश्चरित का	फल	इसी लोक में	दुःखदायी
२. ,,	,,	,,	,,	परलोक में	,,
३. परलोक में	,,	,,	,,	इस लोक में	,,
४. ,,	,,	,,	,,	परलोक में	,,

इसी प्रकार सुचरित की भी चतुर्भंगी होती है।

इन में से वाद के साथ सम्बन्ध प्रथम की दो धर्मकथाओं का है। संवेजनी और निर्वेदनी कथा तो वही है, जो गुरु अपने शिष्य को संवेग और निर्वेद की वृद्धि के लिए उपदेश देता है। आक्षेपणी कथा के जो भेद हैं, उनसे प्रतीत होता है, कि यह गुरु और शिष्य के बीच होनेवाली धर्मकथा है, उसे जैनपरिभाषा में वीतराग कथा और न्यायशास्त्र के अनुसार तत्त्वबुभुत्सु-कथा कहा जा सकता है। इसमें आचारादि विषय में शिष्य की शंकाओं का समाधान आचार्य करते हैं। अर्थात् आचारादि के विषय में जो आक्षेप होते हों, उनका समाधान गुरु करता है। किन्तु विक्षेपणी कथा में स्वसमय और परसमय दोनों की चर्चा है। यह कथा गुरु और शिष्य में हो, तब तो वह वीतरागकथा ही है, पर यदि जयार्थी प्रतिवादी के साथ कथा हो, तब वह वाद-कथा या विवाद कथा में समाविष्ट है। विक्षेपणी के पहले प्रकार का तात्पर्य यह जान पड़ता है, कि वादी प्रथम अपने पक्ष की स्थापना करके प्रतिवादी के पक्ष में दोषोद्भावन करता है। दूसरा प्रकार प्रतिवादी को लक्ष्य में रखकर किया गया जान पड़ता है। क्योंकि उसमें परपक्ष का निरास और बाद में स्वपक्ष का स्थापन है। अर्थात् वह वादी के पक्ष का निराकरण करके अपने पक्ष की स्थापना करता है। तीसरी और चौथी विक्षेपणी कथा का तात्पर्य टीकाकार ने जो बताया है, उससे यह जान पड़ता है कि वादी प्रतिवादी के सिद्धान्त में जितना सम्यगंश हो, उसको स्वीकार करके मिथ्यांश का निराकरण करता है और प्रतिवादी भी ऐसा ही करता है।

निशीथभाष्य के पंचम उद्देशक में (पृ० ७६) कथा के भेद बताते हुए कहा है—

"वादो जप्प वितंडा पाइण्णगकहा य णिच्छयकहा य।"

इससे प्रतीत होता है, कि टीका के युग में अन्यत्र प्रसिद्ध वाद, जल्प और वितण्डा ने भी कथा में स्थान पा लिया था। किन्तु इसकी विशेषचर्चा यहाँ प्रस्तुत नहीं। इतना ही प्रस्तुत है, कि मूल आगम में इन कथाओं ने जल्पआदि नामों से स्थान नहीं पाया है।

३. विवाद :

स्थानांग सूत्र में विवाद के छह प्रकारों का निर्देश है—

छव्विहे विवादे पं० तं० १ ओसक्कतित्ता, २ उस्सक्कइत्ता, ३ अणुलोमइत्ता, ४ पडिलोमइत्ता, ५ भइत्ता, ६ भेलइत्ता।" सू० ५१२.

ये विवाद के प्रकार नहीं है, किन्तु वादी और प्रतिवादी विजय के लिए कैसी-कैसी तरकीव किया करते थे, इसी का निर्देश मात्र हैं। टीकाकार ने प्रस्तुत में विवाद का अर्थ जल्प किया है, वह ठीक ही है। जैसे कि—

१. नियत समय में यदि वादी की वाद करने के, लिए तैयारी न हो, तो वह वहाना वनाकर सभा स्थान से खिसक जाता है या प्रतिवादी को खिसका देता है, जिससे वाद में विलम्व होने के कारण उसे तैयारी का समय मिल जाए।

२. जव वादी अपने जय का अवसर देख लेता है, तव वह स्वयं उत्सुकता से वोलने लगता है या प्रतिवादी को उत्सुक वनाकर वाद का शीघ्र प्रारम्भ करा देता है।[९]

३. वादी सामनीति से विवादाध्यक्ष को अपने अनुकूल वनाकर वाद का प्रारम्भ करता है या प्रतिवादी को अनुकूल वनाकर वाद प्रारम्भ कर देता है, और वाद में पड़ जाने के वाद उसे हराता है[१०]।

---

[९] चरक के इस वाक्य के साथ उपर्युक्त दोनों विवादों की तुलना करना चाहिए—

"परस्य सादृगुण्यदोषवलमवेक्षितव्यम्, समवेक्ष्य च यत्रैनं श्रेष्ठं मन्येत नास्य तत्र जल्पं योजयेद् अनाविष्कृतमयोगं कुर्वन्। यत्र त्वेनमवरं मन्येत तत्रैवेनमाशु निगृह्णीयात्।"
विमानस्थान अ० ८. सू० २१।

ऊपर टीकाकार के अनुसार अर्थ किया है, किन्तु चरक को देखते हुए यह अर्थ किया जा सकता है कि जिसमें अपनी अयोग्यता हो उस वात को टाल देना और जिसमें सामनें वाला अयोग्य हो उसी में विवाद करना।

[१०] चरक में सन्धाय संभाषा वीतराग-कथा को कहा है। उसका दूसरा नाम अनुलोम संभाषा भी उसमें है। विमानस्थान अ० ८. सू० १६। प्रस्तुत में टीकाकार के अनुसार अर्थ किया गया है किन्तु संभव है, कि अणुलोमइत्ता—इसका सम्बन्ध चरककी अणुलोमसन्धाय संभाषा के साथ हो। चरककृत व्याख्या इस प्रकार है—

४. यदि वादी देखता है कि वह प्रतिवादी को हराने में सर्वथा समर्थ है, तब वह सभापति और प्रतिवादी को अनुकूल बनाने की अपेक्षा प्रतिकूल ही बनाता है और प्रतिवादी को हराता है।

५. अध्यक्ष की सेवा कर के किया जाने वाला वाद।

६. अपने पक्षपाती सभ्यों से अध्यक्ष का मेल कराके या प्रतिवादी के प्रति अध्यक्ष को द्वेषी बनाकर किया जाने वाला वाद।

वादी वाद प्रारम्भ होने के पहले जो प्रपञ्च करता है, उसके साथ अन्तिम दो विवादों की तुलना की जा सकती है। ऐसे प्रपञ्च का जिक्र चरक में इन शब्दों में है—

"प्रागेव तावदिदं कर्तुं यतते सन्धाय परिषदाऽयनभूतमात्मनः प्रकरणमादेशयितव्यम्; यद्वा परस्य भृशदुर्गं स्यात् पक्षम्, अथवा परस्य भृशं विमुखमानयेत्। परिषदि चोपसंहितायामशक्यमस्माभिर्वक्तुम् एवैव ते परिषद् यथेष्टं यथाभिप्रायं वादं वादमर्यादां च स्थापयिष्यतीत्युक्त्वा तूष्णीमासीत।" विमानस्थान अ० ८. सू० २५।

४ वाददोष—स्थानांग—सूत्र में जो दश दोष गिनाए गए हैं, उनका भी सम्बन्ध वाद-कथा से[११] है। अतएव यहाँ उन दोषों का निर्देश करना आवश्यक है—

"दसविहे दोसे पं० तं०

१ तज्जातदोसे, २ मतिभंगदोसे, ३ पसत्थारदोसे, ४ परिहरणदोसे।

तत्र ज्ञानविज्ञानवचनप्रतिवचनशक्तिसंपन्नेनाकोपनेनानुपस्कृत विद्येनानसूयकेनानुनेयेनानुनयकोविदेन क्लेशक्षमेण प्रियसंभाषणेन च सह सन्धायसंभाषा विधीयते। तथाविधेन सह कथयन् विश्रब्धः कथयेत् पृच्छेदपि च विश्रब्धः, पृच्छते चास्मै विश्रब्धाय विशदमर्थं ब्रूयात्, न च निग्रहभयादुद्विजेत निगृह्य चैनं न हृष्येत्, न च परेषु विकत्थेत न च मोहादेकान्तग्राही स्यात्, न चाविदितमर्थमनुवर्णयेत् सम्यक् चानुनयेनानुनयेत्, तत्र चावहितः स्यात्। इति अनुलोमसंभाषाविधिः।"

चरककी विगृह्य-संभाषा की स्थानांगगत प्रतिलोम से तुलना की जा सकती है। क्योंकि चरक के अनुसार विगृह्यसंभाषा अपने से हीन या अपनी बराबरी करने वाले के साथ ही करना चाहिए, श्रेष्ठ से कभी नहीं।

[११]"एते हि गुरुशिष्ययोः वादिप्रतिवादिनोर्वा वादाश्रया इव लक्ष्यन्ते"

स्थानांगसूत्रटीका० सू० ७४३।

५ सलक्खण, ६ क्कारण, ७ हेउदोसे ८ संकामणं, ९ निग्गह, १० वत्थुदोसे ॥"
सू० ७४३ ।

१ प्रतिवादी के कुल का निर्देश करके वाद में दूषण देना। या प्रतिवादी की प्रतिभा से क्षोभ होने के कारण वादी का चुप हो जाना तज्जातदोष है।

२ वाद प्रसंग में प्रतिवादी या वादि का स्मृतिभ्रंश मतिभंग दोष है।

३ वाद प्रसंग में सभ्य या सभापति पक्षपाती होकर जयदान करे या किसी को सहायता दे तो वह प्रशास्तृदोष है।

४ सभा के नियम के विरुद्ध चलना या दूषण का परिहार जात्युत्तर से करना परिहरण दोष है।

५ अतिव्याप्ति आदि दोष स्वलक्षण दोष हैं।

६ युक्तिदोष कारणदोष कहलाता है।

७ असिद्धादि हेत्वभास हेतुदोष हैं।

८ प्रतिज्ञान्तर करना संक्रमण है या प्रतिवादी के पक्ष का स्वीकार करना संक्रमण दोष है। टीकाकार ने इसका ऐसा भी अर्थ किया है कि प्रस्तुत प्रमेय की चर्चा को छोड़ अप्रस्तुत प्रमेय की चर्चा करना संक्रमण दोष है।

९ छलादि के द्वारा प्रतिवादी को निगृहीत करना निग्रह दोष है।

१० पक्षदोष को वस्तुदोष कहा जाता है जैसे प्रत्यक्षनिराकृत आदि।

इनमें से प्रायः सभी दोषों का वर्णन न्यायशास्त्र में स्पष्ट रूप से हुआ है। अतएव विशेष विवेचन की आवश्यकता नहीं।

५ विशेष दोष—स्थानांग सूत्र में विशेष के दश प्रकार[१२] गिनाए गये

---

[१२] "दसविधे विसेसे पं० तं० वत्थू १ तज्जात दोसे २ त, दोसे एगट्ठितेति ३ त। कारणे ४ त पडुप्पण्णे ५, दोसे ६ निच्चे ७ हि अट्ठमे ८ ॥ १ ॥ अत्तणा ९ उवणीते १० त विसेसेति त, ते दस।" स्थानांग सूत्र० ७४३।

हैं उनका संबन्ध भी दोष से ही है ऐसा टीकाकार का अभिप्राय है। मूलकार का अभिप्राय क्या है कहा नहीं जा सकता। टीकाकार ने उन दस प्रकार के विशेष का जो वर्णन किया है वह इस प्रकार है—

१. वस्तुदोपविशेष से मतलब है पक्षदोपविशेप, जैसे प्रत्यक्ष-निराकृत, अनुमाननिराकृत, प्रतीतिनिराकृत, स्ववचननिराकृत, और लोकरूढिनिराकृत।

२. जन्म मर्म कर्म आदि विशेषों को लेकर किसी को वाद में दूपण देना तज्जातदोषविशेप है।

३. पूर्वोक्त मतिभंगादि जो आठ दोप गिनाए हैं वे भी दोपसामान्य की अपेक्षा से दोषविशेष होने से दोषविशेष कहे जाते हैं।

४. एकार्थिकविशेष अर्थात् पर्यायवाची शब्दों में जो कथञ्चिद् भेद विशेप होता है वह, अथवा एक ही अर्थ का बोध कराने वाले शब्द विशेप।[13]

५. कारणविशेप—परिणामिकारण और अपेक्षा कारण ये कारण-विशेष हैं। अथवा उपादान, निमित्त, सहकारि, ये कारण विशेप हैं। अथवा कारणदोषविशेप का मतलब है युक्ति दोप। दोष सामान्य की अपेक्षा से युक्ति दोप यह एक विशेष दोष है।

६. वस्तु को प्रत्युत्पन्न ही मानने पर जो दोप हो वह प्रत्युत्पन्न दोप विशेष है। जैसे अकृताभ्यागम कृतविप्रणाशादि।

७. जो दोष सर्वदा हो वह नित्य दोप विशेष है जैसे अभव्य में मिथ्यात्वादि। अथवा वस्तु को सर्वथा नित्य मानने पर जो दोप हो वह नित्यदोषविशेष है।

८. अधिकदोपविशेप वह है जो प्रतिपत्ति के लिये अनावश्यक ऐसे अवयवों का प्रयोग होने पर होता है।

---

[13] इस दोष के मूलकारका अभिप्राय पुनरुक्त निग्रहस्थान से (न्यायसू० ५.२.१४) और चरकसंमत अधिक नामक वाक्यदोषसे ("यद्वा सम्बद्धार्थमपि द्विरभिधीयते तत् पुनरुक्तत्वाद् अधिकम्" —विमान० अ० ८. सू० ५४) हो तो आश्चर्य नहीं।

न्यायसूत्रसंमत अधिक निग्रहस्थान यहाँ अभिप्रेत है।

९. स्वयंकृत दोष।

१०. परापादित दोष।

६ प्रश्न

स्थानांग सूत्र में प्रश्न के छः प्रकार बताए गये हैं—

१. संशय प्रश्न

२. व्युद्ग्र प्रश्न

३. अनुयोगी

४. अनुलोम

५. तथाज्ञान

६. अतथाज्ञान

वाद में, चाहे वह वीतराग कथा हो या जल्प हो, प्रश्न का पर्याप्त महत्त्व है। प्रस्तुत सूत्र में प्रश्न के भेदों का जो निर्देश है वह प्रश्नों के पीछे रही प्रष्टा की भावना या भूमिका के आधार पर है ऐसा प्रतीत होता है।

१. संशय को दूर करने के लिये जो प्रश्न पूछा जाय वह संशय प्रश्न है।

इस संशय ने न्याय सूत्र के सोलह पदार्थों में और चरक के वादपदों में स्थान पाया है।

संशय प्रश्न की विशेषता यह है कि उसमें दो कोटि का निर्देश होता है जैसे "किनु खलु अस्त्यकालमृत्युः उत नास्तीति" विमान० अ० ८. सू० ४३।

२. प्रतिवादी जब अपने मिथ्याभिनिवेश के कारण प्रश्न करता है तब वह व्युद्ग्र प्रश्न है।

३. स्वयं वक्ता अपने वक्तव्य को स्पष्ट करने के लिये प्रश्न खड़ा करके उसका उत्तर देता है तब वह अनुयोगी प्रश्न है अर्थात् व्याख्यान या परूपणा के लिये किया गया प्रश्न। चरक में एक अनुयोग वादपद है उसका लक्षण इस प्रकार चरक ने किया है—

अनुयोगो नाम स यत्तद्विद्यानां तद्विद्यैरेव सार्धं तन्त्रे तन्त्रैकदेशे वा प्रश्नः प्रश्नैकदेशो वा ज्ञानविज्ञानवचनपरीक्षार्थमादिश्यते, यथा नित्यः पुरुष इति प्रतिज्ञाते यत् परः 'को हेतुः' इत्याह सोऽनुयोगः ।

स्थानांग का अनुयोगी प्रश्न वस्तुतः चरक के अनुयोग से अभिन्न होना चाहिए ऐसा चरक के उक्त लक्षण से स्पष्ट है ।

४. अनुलोम प्रश्न वह है जो दूसरे को अनुकूल करने के लिए किया जाता है जैसे कुशल प्रश्न ।

५. जिस वस्तु का ज्ञान पृच्छक और प्रष्टव्य को समान भाव से हो फिर भी उस विषय में पूछा जाय तब वह प्रश्न तथाज्ञान प्रश्न है। जैसे भगवती में गौतम के प्रश्न ।

६. इससे विपरीत अतथाज्ञान प्रश्न है ।

इन प्रश्नों के प्रसंग में उत्तर की दृष्टि से चार प्रकार के प्रश्नों का जो वर्णन बौद्धग्रन्थों में आता है उसका निर्देश उपयोगी है—

१. कुछ प्रश्न ऐसे हैं जिनका है या नहीं में उत्तर दिया जाता है—एकांशव्याकरणीय ।

२. कुछ प्रश्न ऐसे हैं जिनका उत्तर प्रतिप्रश्न के द्वारा दिया जाता है—प्रतिपृच्छाव्याकरणीय ।

३. कुछ प्रश्न ऐसे हैं जिनका उत्तर विभाग करके अर्थात् एक अंश में 'है' कहकर और दूसरे अंश में 'नहीं' कहकर दिया जाता है—विभज्यव्याकरणीय ।

४. कुछ प्रश्न ऐसे हैं जो स्थापनीय—अव्याकृत हैं जिनका उत्तर दिया नहीं जाता[१४] ।

७. **छल-जाति**—स्थानांग सूत्र में हेतु शब्द का प्रयोग नाना अर्थ में हुआ है । प्रमाण सामान्य अर्थ में हेतुशब्द का प्रयोग प्रथम (पृ० ६३) बताया गया है । साधन अर्थ में हेतुशब्द का प्रयोग भी हेतुचर्चा में

---

[१४] दीघ० ३३ । मिलिन्द पृ० १७९ ।

(पृ० ७८) बताया गया है। अब हम हेतुशब्द के एक और अर्थ की ओर भी वाचक का ध्यान दिलाना चाहते हैं। स्थानांग में हेतु के जो—यापक आदि निम्नलिखित चार भेद बताए हैं उनकी व्याख्या देखने से स्पष्ट है कि यापक हेतु असद्धेतु है और स्थापक ठीक उससे उलटा है। इसी प्रकार व्यंसक और लूषक में भी परस्पर विरोध है। अर्थात् ये चार हेतु दो द्वन्द्वों में विभक्त हैं।

यापक हेतु में मुख्यतया साध्यसिद्धिका नहीं पर प्रतिवादी को जात्युत्तर देने का ध्येय है। उसमें कालयापन करके प्रतिवादी को धोखा दिया जाता है। इसके विपरीत स्थापक हेतु से अपने साध्य को शीघ्र सिद्ध करना इष्ट है। व्यंसक हेतु यह छल प्रयोग है तो लूषक हेतु प्रति-प्रतिच्छल है। किन्तु प्रतिच्छल इस प्रकार किया जाता है जिससे कि प्रतिवादी के पक्ष में प्रसंगापादान हो और परिणामतः वह वादी के पक्ष को स्वीकृत करने के लिए बाध्य हो। अब हम यापकादि का शास्त्रोक्त विवरण देखें—(स्थानांग सू० ३३८)

१ जावते (यापकः)
२ थावते (स्थापकः)
३ वंसते (व्यंसकः)
४ लूसते (लूषकः)

इन्हीं हेतुओं का विशेप **वर्णन** दशवैकालिक सूत्र की निर्युक्ति (गा० ८६ से) आ० भद्रवाहु ने किया है उसी के आधार से उनका परिचय यहाँ कराया जाता है, क्योंकि स्थानांग में हेतुओं के नाममात्र उपलब्ध होते हैं। भद्रवाहु ने चारों हेतुओं को लौकिक उदाहरणों से स्पष्ट किया है किन्तु उन हेतुओं का द्रव्यानुयोग की चर्चा में कैसे प्रयोग होता है उसका स्पष्टीकरण दशवैकालिकचूर्णी में है इसका भी उपयोग प्रस्तुत विवरण में किया है।

(१) **यापक**—जिसको विशेषणों की बहुलता के कारण प्रतिवादी शीघ्र न समझ सके और प्रतिवाद करने में असमर्थ हो, ऐसे हेतु को कालयापन में कारण होने से यापक कहा जाता है। अथवा जिसकी

व्याप्ति प्रसिद्ध न होने से तत्साधक अन्य प्रमाण की अपेक्षा रखने के कारण साध्यसिद्धि में विलम्ब होता हो उसे यापक कहते हैं ।

इसका लौकिक उदाहरण दिया गया है—किसी असाध्वी स्त्री ने अपने पति को ऊँट की लींडिया देकर कहा कि उज्जयिनी में प्रत्येक का एक रुपया मिलेगा अत एव वहीं जाकर वेचो । मूर्ख पति जब लोभवश उज्जयिनी गया तो उसे काफी **समय** लग गया । इस वीच उस स्त्री ने अपने जार के साथ कालयापन किया[५५] ।

यापक का अर्थ टीकाकारों ने जैसा किया है ऊपर लिखा है । वस्तुतः उसका तात्पर्य इतना ही जान पड़ता है कि प्रतिवादी को समझने में देरी लगे वैसे हेतु के प्रयोग को यापक कहना चाहिए । यदि यापक का यही मतलब है तो इसकी तुलना अविज्ञातार्थ निग्रहस्थानयोग्य वाक्यप्रयोग से करना चाहिए । न्यायसूत्रकार ने कहा है कि वादी तीन दफह उच्चारण करे फिर भी यदि प्रतिवादी और पर्षत् समझ न सके तो वादी को अविज्ञातार्थनिग्रह स्थान प्राप्त होता है । अर्थात् न्यायसूत्र-कार के मत से यापक हेतु का प्रयोक्ता निगृहीत होता है ।

"परिषत्प्रतिवादिभ्यां त्रिरभिहितमपि अविज्ञातमविज्ञातार्थम् ।" न्यायसू० ५.२.६ ।

ऐसा ही मत उपायहृदय (पृ० १) और तर्कशास्त्र (पृ० ८) का भी है ।

चरक संहिता में विगृह्यसंभाषा के प्रसंग में कहा है कि **"तद्विद्येन सह कथयता त्वाविद्धदीर्घसूत्रसंकुलैर्वाक्यदण्डकैः कथयितव्यम् ।" विमान-स्थान अ० ८. सू० २० ।** इसका भी उद्देश्य यापक हेतु के समान ही प्रतीत होता है ।

वादशास्त्र के विकास के साथ-साथ यापक जैसे हेतु के प्रयोक्ता को निग्रहस्थान की प्राप्ति मानी जाने लगी यह न्यायसूत्र के अविज्ञात निग्रह स्थान से स्पष्ट है ।

---

[५५] **"उब्भामिया य महिला जावगहेउम्मि उण्टलिंडाइं ।" दशवै० नि० गा० ८७ ।**

तर्कशास्त्र (पृ० ३६) उपायहृदय (पृ० १६) और न्यायसूत्र में (५.२.१८) एक अज्ञान निग्रहस्थान भी है उसका कारण भी यापक हेतु हो सकता है क्योंकि अज्ञान निग्रहस्थान तब होता है जब प्रतिवादी वादी की बात को समझ न सके। अर्थात् वादी ने यदि यापक हेतु का प्रयोग किया हो तो प्रतिवादी शीघ्र उसे नहीं समझ पाता और निग्रहीत होता है। इसी अज्ञान को चरक ने अविज्ञान कहा है—वही ६५।

(२) स्थापक—प्रसिद्धव्याप्तिक होने से साध्य को शीघ्र स्थापित कर देने वाले हेतु को स्थापक कहते हैं। इसके उदाहरण में एक संन्यासी की कथा है[16], जो प्रत्येक ग्राम में जाकर उपदेश देता था कि लोकमध्य में दिया गया दान सादक होता है। पूछने पर प्रत्येक गांव में किसी भाग में लोकमध्य बताता था और दान लेता था। किसी श्रावक ने उसकी धूर्तता प्रकट की। उसने कहा कि यदि उस गांव में लोकमध्य था तो फिर यहां नहीं और यदि यहां है तो उधर नहीं। इस प्रकार वाद चर्चा में ऐसा ही हेतु रखना चाहिए कि अपना साध्य शीघ्र सिद्ध हो जाय और संन्यासी के वचन की तरह परस्पर विरोध न हो। यह हेतु यापक से ठीक विपरीत है और सद्धेतु है।

चरक संहिता में वादपदों में जो स्थापना और प्रतिस्थापना का द्वन्द्व है उसमें से प्रतिस्थापना की स्थापक के साथ तुलना की जा सकती है। जैसे स्थापक हेतु के उदाहरण में कहा गया है कि संन्यासी के वचन में विरोध बता कर प्रतिवादी अपनी बात को सिद्ध करता है उसी प्रकार चरकसंहिता में भी स्थापना के विरुद्ध में ही प्रतिस्थापना का निर्देश है **"प्रतिस्थापना नाम या तस्या एव परप्रतिज्ञांयाः प्रतिविपरीतार्थस्थापना" वहीं ३२।**

(३) व्यंसक—प्रतिवादी को मोह में डालने वाले अर्थात् छलनेवाले हेतु को व्यंसक कहते हैं। लौकिक उदाहरण शकटतित्तिरी[17] है। किसी धूर्त ने शकट में रखी हुई तित्तिरी को देखकर शकट वाले से छल पूर्वक पूछा कि शकटतित्तिरी की क्या कीमत है? शकटवाले ने उत्तर दिया

---

[16] "लोगस्स मज्झजाणण थावगहेक उदाहरणं" दशवै० नि० ८७।

[17] "सा सगडतित्तिरी—वंसगम्मि होई नायव्वा।" वही ८८। 'शकटतित्तिरी' के दो अर्थ हैं शकट में रही हुई तित्तिरी और शकट के साथ तित्तिरी।

[18]तर्पणालोडिका-जलमिश्रित सक्तु। धूर्त ने उतनी कीमत में शकट और तित्तरी—दोनों ले लिये। इसी प्रकार वाद में भी प्रतिवादी जो छल प्रयोग करता है वह व्यंसक हेतु है। जैन वादी के सामने कोई कहे कि जिन मार्ग में जीव भी अस्ति है और घट भी अस्ति है तब तो अस्तित्वाविशेषात् जीव और घट का ऐक्य मानना चाहिए। यदि जीव से अस्तित्व को भिन्न मानते हो तब जीव का अभाव होगा। यह व्यंसक हेतु है।

(४) लूषक—व्यंसक हेतु के उत्तर को लूषक हेतु कहते है। अर्थात् इसमें व्यंसक हेतु से आपादित अनिष्ट का परिहार होता हैं।

इसके उदाहरण में भी एक धूर्त के छल और प्रतिच्छल की कथा है। ककडी से भरा शकट देखकर धूर्त ने शाकटिक से पूछा—शकट की ककडी खाजाने वाले को क्या दोगे? उत्तर मिला—ऐसा मोदक जो नगर द्वार से बाहर न निकल सके[19]। धूर्त शकट पर चढ़कर थोड़ा थोड़ा सभी ककडीमें से खाकर इनाम मांगने लगा। शाकटिक ने आपत्ति की कि तुमने सभी ककडी तो खाई नही। धूर्त ने कहा कि अच्छा तब बेचना शुरू करो। इतने में एक ग्राहक ने कहा—'ये सभी ककडी तो खाई हुई हैं' सुनकर धूर्त ने कहा देखो 'सभी ककडी खाई हैं' ऐसा अन्य लोग भी स्वीकार करते हैं। मुझे इनाम मिलना चाहिए। तब शाकटिक ने भी प्रतिच्छल किया। एक मोदक नगर द्वार के पास रखकर कहा 'यह मोदक द्वार से नहीं निकलता। इसे ले लो'। जैसा ककडी के साथ 'खाई हैं' प्रयोग देखकर धूर्त ने छल किया था वैसा ही शाकटिक ने 'नहीं निकलता' ऐसे प्रयोग द्वारा प्रतिछल किया। इसी प्रकार वादचर्चा में उक्त व्यंसक हेतु का प्रत्युत्तर लूषक हेतु का प्रयोग करके देना चाहिये। जैसे कि यदि तुम जीव और घट का ऐक्य सिद्ध करते हो वैसे तो अस्तित्व होने से सभी भावों का ऐक्य सिद्ध हो जायगा। किन्तु

---

[18] तर्पणालोडिका के दो अर्थ हैं जल मिश्रित सक्तु और सक्तु का मिश्रण करनी स्त्री।

[19] "तउसगवंसग लूसगहेउम्मि य मोयगो य पुणो।" वही गा० ८८।

वस्तुतः देखा जाय तो घट और पटादि ये सभी पदार्थ एक नहीं, तो फिर जीव और घट भी एक नहीं।

ध्वंसक और लूपक इन दोनों के उक्त उदाहरण जो लौकिक कथा से लिए गए है वे वाक्छलान्तर्गत हैं। किन्तु द्रव्यानुयोग के उदाहरण को देखते हुए कहा जा सकता है कि इन दोनों हेतुओं के द्रव्यानुयोग विषयक उदाहरणों को चरक के अनुसार सामान्य छल कहा जा सकता है, चरक में सामान्य छल का उदाहरण इस प्रकार है—

"सामान्यच्छलं नाम यथा व्याधिप्रशमनायौषधमित्युक्ते परो ब्रूयात् सत् सत्प्रशमनायेति किं भवानाह। सन् हि रोगः सदौषधम्, यदि च सत् सत्प्रशमनाय भवति तत्र सन् ही कासः सन् क्षयः सत्सामान्यात् कासस्ते क्षयप्रशमनाय भविष्यति इति। वही ५६।

न्यायसूत्र के अनुसार भी द्रव्यानुयोग के उदाहरणों को सामान्य छलान्तर्गत कहा जा सकता है—न्यायसू० १. २. १३।

अथवा न्यायसूत्र में अविशेषसमजाति प्रयोग के अन्तर्गत भी भी कहा जा सकता है, क्योंकि उसका लक्षण इस प्रकार है।

"एकधर्मोपपत्तेरविशेषे सर्वाविशेषप्रसङ्गात् सद्भावोपपत्तेरविशेषसमः।' न्याय सू० ५.१.२३ "एको धर्मः प्रयत्नानन्तरीयकत्वं शब्दघटयोरुपपद्यत इत्यविशेषे उभयोरनित्यत्वे सर्वस्याविशेषः प्रसज्यते। कथम्? सद्भावोपपत्तेः। एको धर्मः सद्भावः सर्वस्योपपद्यते। सद्भवोपपत्तेः सर्वाविशेषप्रसंगात् प्रत्यवस्थानमविशेषसमः" न्यायभा०।

बौद्धग्रन्थ तर्कशास्त्रगत (पृ० १५) अविशेषखण्डन की तुलना भी यहाँ कर्तव्य है। न्यायमुखगत अविशेषदूषणाभास भी इसी कोटि का है।

छलवादी ब्राह्मण सोमिल के प्रश्न में रहे हुए शब्दच्छल को ताड करके भगवान् महावीर ने उस छलवादी के शब्दच्छल का जो उत्तर दिया है उसका उद्धरण यहाँ-अप्रासंगिक नहीं होगा। क्योंकि इससे स्पष्ट हो जाता है कि स्वयं भगवान् महावीर वादविद्या में प्रवीण थे और उस समय लोग कैसा शब्दच्छल किया करते थे—

"सरिसवा ते भन्ते किं भक्खेया अभक्खेया ?"

"सोमिला ! सरिसवा भक्खेया वि अभक्खेया वि।"

"से केणट्ठेणं भन्ते एवं वुच्चइ—सरिसवा मे भक्खेया वि अभक्खेया वि' ?"

"से नूणं ते सोमिला ! बंभन्नएसु नएसु दुविहा सरिसवा पन्नत्ता, तंजहा—मित्तसरिसवा य धन्नसरिसवा य। तत्थ णं जे ते मित्तसरिसवा·········ते णं समणाणं निग्गंथाणं अभक्खेया। तत्थ णं जे ते धन्नसरिसवा·········अणेसणिज्जा ते समणाणं निग्गंथाणं अभक्खेया।·············तत्थणं जे ते जातिया·········लद्धा ते णं समणाणं निग्गंथाणं भक्खेया·······।"

"मासा ते भंते किं भक्खेया अभक्खेया"।

"सोमिला ! मासा मे भक्खेया वि अभक्खेया वि।"

"से केणट्ठेणं······"

"से नूणं ते सोमिला ! बंभन्नएसु नएसु दुविहा मासा पन्नता : तंजहा—दव्वमासा य कालमासा य। तत्थ णं जे ते कालमासा ते णं सावणादीया·······ते णं समणाणं निग्गंथाणं अभक्खेया। तत्थ णं जे ते दव्वमासा ते दुविहा पन्नत्ता अत्थमासा य धन्नमासा य। तत्थणं जे ते अत्थमासा·········ते·········निग्गंथाणं अभक्खेया। तत्थणं जे ते धन्नमासा······एवं जहा धन्नसरिसवा··· ···।"

"कुलत्था ते भन्ते किं भक्खेया अभक्खेया ?"

"सोमिला ! कुलत्था भक्खेया वि अभक्खेया वि।"

"से केणट्ठेणं ?',

"से नूणं सोमिला ! ते बंभन्नएसु दुविहा कुलत्था पन्नता, तंजहा, इत्थिकुलत्था य धन्नकुलत्था य। तत्थ जे ते इत्थिकुलत्था·········ते······निग्गंथाणं अभक्खेया। तत्थ णं जे ते धन्नकुलत्था एवं जहा धन्नसरिसवा·······।" भगवती १८. १०।

इस चर्चा में प्राकृत भाषा के कारण शब्दच्छल की गुंजाईश है यह बात भाषाविदों को कहने की आवश्यकता नहीं।

८ उदाहरण—ज्ञात—दृष्टान्त—जैनशास्त्र में उदाहरण के भेदोपभेद बताये हैं किन्तु उदाहरण का नैयायिकसंमत संकुचित अर्थ न लेकर किसी वस्तु की सिद्धि या असिद्धि में दी जाने वाली उपपत्ति उदाहरण है ऐसा विस्तृत अर्थ लेकर के उदाहरण शब्द का प्रयोग किया गया है। अतएव किसी स्थान में उसका अर्थ दृष्टान्त तो किसी स्थान में आख्यानक, और किसी स्थान में उपमान तो किसी स्थान में युक्ति या उपपत्ति होता है। वस्तुतः जैसे चरकने वादमार्गपद[20] कह करके या न्यायसूत्र[21] ने तत्त्वज्ञान

---

[20] वही सू० २७।

[21] न्याय सू० १.१.१।

के विषयभूत पदार्थों का संग्रह करना चाहा है वैसे ही किसी प्राचीन परंपरा का आधार लेकर स्थानांग सूत्र में उदाहरण के नाम से वादोपयोगी पदार्थों का संग्रह किया है। जिस प्रकार न्यायसूत्र से चरक का संग्रह स्वतन्त्र है और किसी प्राचीन मार्ग का अनुसरण करता है उसी प्रकार जैन शास्त्रगत उदाहरण का वर्णन भी उक्त दोनों से पृथक् ही किसी प्राचीन परंपरा का अनुगामी है।

यद्यपि निर्युक्तिकार ने उदाहरण के निम्नलिखित पर्याय बताए हैं किन्तु सूत्रोक्त उदाहरण उन पर्यायों से प्रतिपादित अर्थों में ही सीमित नहीं है जो अगले वर्णन से स्पष्ट हैं—

"नायमुदाहरणं ति य दिट्ठंतोवमनि निदरिसणं तहय। एगट्ठं"—दशवै० नि० ५२।

स्थानांगसूत्र में ज्ञात—उदाहरण के चार भेदों का उपभेदोंके साथ जो नामसंकीर्तन है वह इस प्रकार है—सू० ३३८।

१ आहरण	२ आहरणतद्देश	३ आहरणतद्दोष	४ उपन्यासोपनय
(१) अपाय	(१) अनुशास्ति	(१) अधर्मयुक्त	(१) तद्वस्तुक
(२) उपाय	(२) उपालम्भ	(२) प्रतिलोम	(२) तदन्यवस्तुक
(३) स्थापनाकर्म	(३) पृच्छा	(३) आत्मोपनीत	(३) प्रतिनिभ
(४) प्रत्युत्पन्नविनाशी	(४) निश्रावचन	(४) दुरुपनीत	(४) हेतु

उदाहरण के इन भेदोपभेदों का स्पष्टीकरण दशवैकालिक निर्युक्ति और चूर्णी में है। उसी के आधार पर हरिभद्र ने दशवैकालिकटीका में और अभयदेव ने स्थानांगटीका में स्पष्टीकरण किया है। निर्युक्तिकार ने अपायादि प्रत्येक उदाहरण के उपभेदों का चरितानुयोग की दृष्टि से तथा द्रव्यानुयोग की दृष्टि से वर्णन किया है किन्तु प्रस्तुत में प्रमाण-चर्चोपयोगी द्रव्यानुयोगानुसारी स्पष्टीकरण ही करना इष्ट है।

१ **आहरण** (१) अपाय अनिष्टापादन कर देना अपायोदाहरण है। अर्थात् प्रतिवादी की मान्यता में अनिष्टापादन करके उसकी सदोषता के द्वारा उसके परित्याग का उपदेश देना यह अपायोदाहरण का

प्रयोजन है। भद्रबाहु ने अपाय के विषय में कहा है कि[22] जो लोग आत्मा को एकान्त नित्य या एकान्त अनित्य मानते हैं उनके मत में सुख-दुख-संसार-मोक्ष की घटना बन नहीं सकती। इसलिए दोनों पक्षों को छोड़कर अनेकान्त का आश्रय लेना चाहिए। दूसरे दार्शनिक जिसे प्रसंगापादन कहते हैं उसकी तुलना अपाय से करना चाहिए।

सामान्यतया दूषण को भी अपाय कहा जा सकता है। वादी को स्वपक्ष में दूषण का उद्धार करना चाहिए और परपक्ष में दूषण देना चाहिए।

(२) उपाय—इष्ट वस्तु की प्राप्ति या सिद्धि के व्यापार विशेष को उपाय कहते हैं। आत्मास्तित्वरूप इष्ट के साधक सभी हेतुओं का अवलंबन करना उपायोदाहरण है। जैसे आत्मा प्रत्यक्ष नहीं है फिर भी सुख-दुःखादि धर्म का आश्रय–धर्मी होना चाहिए। ऐसा जो धर्मी है वही आत्मा है तथा जैसे देवदत्त हाथी से घोड़े पर संक्रान्ति करता है, ग्राम से नगर में, वर्षा से शरद में और औदयिकादिभाव से उपशम में संक्रान्ति करता है वैसे ही जीव भी–द्रव्यक्षेत्रादि में संक्रान्ति करता है तो वह भी देवदत्त की तरह है[23]।

बौद्धग्रन्थ 'उपायहृदय[24]' में जिस अर्थ में उपाय शब्द है उसी अर्थ का बोध प्रस्तुत उपाय शब्द से भी होता है। वाद में वादी का धर्म है कि वह स्वपक्ष के साधक सभी उपायों का उपयोग करे और स्वपक्षदूषण का निरास करे। अतएव उसके लिए वादोपयोगी पदार्थों का ज्ञान आवश्यक है। उसी ज्ञान को कराने के लिये 'उपायहृदय' ग्रंथ

---

[22] "दव्वादिएहिं निच्चो एगंतेणेव जेसिं अप्पा उ।
होइ अभावो तेसिं सुहदुहसंसारमोक्खाणं ॥५६॥
सुहदुक्खसंपओगो न विज्जई निच्चवायपक्खंमि।
एगंतुच्छेअंमि अ सुहदुक्खविगप्पणमजुत्तं ॥६०॥" दशवै० नि०

[23] वही ६३. ६६।

[24] टूचीने चीनी से संस्कृत में इस ग्रन्थ का अनुवाद किया है। उन्होंने जो प्रति- ... 'उपाय' शब्द रखा है वह ठीक ही जंचता है। यद्यपि स्वयं टूची को प्रति- ... में संदेह है।

की रचना हुई है। स्थानांगगत अपाय और उपाय का भी यही भाव है कि अपाय अर्थात् दूषण और उपाय अर्थात् साधन। दूसरे के पक्ष में अपाय बताना चाहिये और स्वपक्ष में अपाय से बचना चाहिए। स्वपक्ष की सिद्धि के लिए उपाय करना चाहिए और दूसरे के उपाय में अपाय का प्रतिपादन करना चाहिए।

(३) स्थापना कर्म—इष्ट अर्थ की सम्यक्प्ररूपणा करना स्थापनाकर्म है। प्रतिवादी द्वारा व्यभिचार बतलाए जाने पर व्यभिचार निवृत्ति द्वारा यदि हेतु की सम्यग् स्थापना वादी करता है तब वह स्थापना-कर्म है—

"संवभिचारं हेतुं सहसा वोत्तुं तमेव अन्नेहिं।
उववूहइ सप्पसरं सामत्थं चप्पणो नाउं॥ ६८॥

अभयदेव ने इस विषय में निम्नलिखित प्रयोग दरसाया है 'अनित्यः शब्दः कृतकत्वात्" यहाँ कृतकत्वहेतु सव्यभिचार है. क्योंकि वर्णात्मक शब्द नित्य है। किन्तु वादी वर्णात्मक शब्द को भी अनित्य सिद्ध कर देता है—कि 'वर्णात्मा शब्दः कृतकः, निजकारणभेदेन भिद्यमा-नत्वात् घटपटादिवत्"। यहाँ घटपटादि के दृष्टान्त से वर्णात्मक शब्द का अनित्यत्व स्थापित हुआ है, अतएव यह स्थापनाकर्म हुआ।

'स्थापनाकर्म' की भद्रबाहुकृत व्याख्या को अलग रखकर अगर शब्दसादृश्य की ओर ही ध्यान दिया जाय, तो चरकसंहितागत स्थापना से इसकी तुलना की जा सकती है। चरक के मत से किसी प्रतिज्ञा को सिद्ध करने के लिए हेतु दृष्टान्त उपनय और निगमन का आश्रय लेना स्थापना है। अर्थात् न्याय वाक्य दो भागों में विभक्त है—प्रतिज्ञा और स्थापना। प्रतिज्ञा से अतिरिक्त जिन अवयवों से वस्तु स्थापित—सिद्ध होती है उनको स्थापना कहा जाता है।

"स्थापना नाम तस्या एव प्रतिज्ञायाः हेतुदृष्टान्तोपनयनिगमनैः स्थापना। पूर्वं हि प्रतिज्ञा पश्चात् स्थापना। किं हि अप्रतिज्ञातं स्थापयिष्यति।" वही ३१.।

आचार्य भद्रबाहु ने जो अर्थ किया है वह अर्थ यदि स्थापना कर्म का

लिया जाय, तब चरकसंहितागत 'परिहार' के साथ स्थापना कर्म का सादृश्य है। क्योंकि परिहार की व्याख्या चरक ने ऐसी की है— "परिहारो नाम तस्यैव दोषवचनस्य (हेतुदोषवचनस्य) परिहरणम्" वही ६०।

(४) प्रत्युत्पन्नविनाशी—जिससे आपन्न दूषण का तत्काल निवारण हो वह प्रत्युत्पन्नविनाशी है जैसे किसी शून्यवादी ने कहा कि जब सभी पदार्थ नहीं तो जीव का सद्भाव कैसे ? तब उसको तुरंत उत्तर देना कि

"जं भणसि नत्थि भावा वयणमिणं अत्थि नत्थि जइ अत्थि।
एव पइन्नाहाणी असओ णु निसेहए को णु ॥ ७१ ॥

अर्थात् निषेधक वचन है या नहीं ? यदि है तो सर्वनिषेध नहीं हुआ क्योंकि वचन सत् हो गया। यदि नहीं तो सर्वभाव का निषेध कैसे ?असत् ऐसे वचन से सर्ववस्तु का निषेध नहीं हो सकता। और जीव के निषेध का भी उत्तर देना कि तुमने जो शब्द प्रयोग किया वह तो विवक्षापूर्वक ही। यदि जीव ही नहीं तो विवक्षा किसे होगी ? अजीव को तो विवक्षा होती नहीं। अतएव जो निषेध वचन का संभव हुआ उसी से जीव का अस्तित्व भी सिद्ध हो जाता है। यह उत्तर का प्रकार प्रत्युत्पन्नविनाशी है-दशवै० नि० गा० ७०–७२।

आचार्य भद्रबाहु की कारिका के साथ विग्रहव्यावर्तनी की प्रथम कारिका की तुलना करना चाहिए। प्रतिपक्षी को प्रतिज्ञाहानि निग्रहस्थान से निगृहीत करना प्रत्युत्पन्नविनाशी आहरण है। प्रतिज्ञाहानि निग्रह-स्थान न्यायसूत्र (५. २. २) चरक (वही ६१) और तर्क-शास्त्र में (पृ० ३३) है।

(२) आहरणतद्देश

(१) अनुशास्ति—प्रतिवादी के मन्तव्य का आंशिक स्वीकार करके दूसरे अंगमें उसको शिक्षा देना अनुशास्ति है जैसे सांख्य को कहना कि सच है आत्मा को हम भी तुम्हारी तरह सद्भूत मानते हैं किन्तु वह अकर्ता नहीं, कर्ता है, क्योंकि वही सुख दुःख का वेदन करता है। अर्थात् कर्मफल पाता है—

"जेसिं पि अत्थि आया वत्तव्वा ते वि अम्ह वि स अत्थि ।
किन्तु अकत्ता न भवइ वेययइ जेण सुहदुक्खं ॥ ७५ ॥"

(२) उपालम्भ—दूसरे के मत को दूषित करना उपालम्भ है। जैसे चार्वाक को कहना कि यदि आत्मा नहीं है, तो 'आत्मा नहीं है' ऐसा तुम्हारा कुविज्ञान भी संभव नहीं है। अर्थात् तुम्हारे इस कुविज्ञान को स्वीकार करके भी हम कह सकते हैं, कि उससे आत्माभाव सिद्ध नहीं। क्योंकि 'आत्मा है' ऐसा ज्ञान हो या 'आत्मा नहीं है' ऐसा कुविज्ञान हो ये दोनों कोई चेतन जीव के अस्तित्व के बिना संभव नहीं, क्योंकि अचेतन घट में न ज्ञान है न कुविज्ञान—दशवै० नि० ७६–७७।

उपालम्भ का दार्शनिकों में सामान्य अर्थ तो यह किया जाता है कि दूसरे के पक्ष में दूषण का उद्भावन करना,[२५] किन्तु चरक ने वाद पदों में भी उपालम्भ को स्वतन्त्र रूप से गिनाया है और कहा है कि "उपालम्भो नाम हेतोर्दोषवचनम् ।" (५९.) अर्थात् चरक के अनुसार हेत्वाभासों का उद्भावन उपालम्भ है। न्यायसूत्र का हेत्वाभासरूप निग्रहस्थान (५.२.२५) ही चरक का उपालम्भ है। स्वयं चरक ने भी अहेतु (५७) नामक एक स्वतन्त्र वादपद रखा है। अहेतु का उद्भावन ही उपालम्भ है। तर्कशास्त्र (पृ० ४०) और उपायहृदय में भी (पृ० १४) हेत्वाभास का वर्णन आया है। विशेषता यह है कि उपायहृदय में हेत्वाभास का अर्थ विस्तृत है। छल और जाति का भी समावेश हेत्वाभास में स्पष्ट रूप से किया है।

(३) पृच्छा—प्रश्न करने को पृच्छा कहते हैं—अर्थात् उत्तरोत्तर प्रश्न करके परमत को असिद्ध और स्वमत को सिद्ध करना पृच्छा है, जैसे चार्वाक से प्रश्न करके जीवसिद्धि करना।

प्रश्न—आत्मा क्यों नहीं है ?

उत्तर—क्योंकि परोक्ष है।

प्रश्न—यदि परोक्ष होने से नहीं तो तुम्हारा आत्मनिषेधक कुविज्ञान भी दूसरों को परोक्ष है अतएव नहीं है। तब जीवनिषेध कैसे होगा ?

---

[२५] न्याय सूत्र १.२.१।

इस प्रश्न में ही आत्मसिद्धि निहित है और चार्वाक के उत्तर को स्वीकार करके ही प्रश्न किया गया है।

इस पृच्छा की तुलना चरकगत अनुयोग से करना चाहिए। अनुयोग को चरक ने प्रश्न और प्रश्नैकदेश कहा है—चरक विमान० ८.५२

उपायहृदय में दूषण गिनाते हुए प्रश्नबाहुल्यमुत्तराल्पता तथा प्रश्नाल्पतोत्तरबाहुल्य ऐसे दो दूषण भी बताए हैं। इस पृच्छा की तुलना उन दो दूषणों से की जा सकती है। प्रश्नबाहुल्यमुत्तराल्पता का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

"आत्मा नित्योऽनैन्द्रियकत्वात् यथाकाशोऽनैन्द्रियकत्वान्नित्य इति भवतः स्थापना। अथ यदनैन्द्रियकं तन्नावश्यं नित्यम्। तत्कथं सिद्धम्" उपाय० पृ० २८।

प्रश्नाल्पतोत्तरबाहुल्य का स्वरूप ऐसा है—

"आत्मा नित्योऽनैन्द्रियकत्वादिति भवत्स्थापना। अनैन्द्रियकस्य द्वैविध्यम्। यथा परमाणवोऽनुपलभ्या अनित्याः। आकाशस्त्विन्द्रियानुपलभ्यो नित्यश्च। कथं भवतोच्यते यदनुपलभ्यत्वान्नित्य इति।" उपाय० पृ० २८।

उपायहृदय ने प्रश्न के अज्ञान को भी एक स्वतन्त्र निग्रहस्थान माना है और प्रश्न का त्रैविध्य प्रतिपादित किया है—

"ननु प्रश्नाः कतिविधाः ? उच्यते। त्रिविधाः। यथा वचनसमः, अर्थसमः, हेतुसमश्च। यदि वादिनस्तैस्त्रिभिः प्रश्नोत्तराणि न कुर्वन्ति तद्विभ्रान्तम्।" पृ० १८।

(४) निश्रावचन—अन्य के बहाने से अन्य को उपदेश देना निश्रा वचन है। उपदेश तो देना स्वशिष्य को किन्तु अपेक्षा यह रखना कि उससे दूसरा प्रतिबुद्ध हो जाए। जैसे अपने शिष्य को कहना कि जो लोग जीव का अस्तित्व नहीं मानते, उनके मत में दान आदि का फल भी नहीं घटेगा। तब यह सुनकर बीच में ही चार्वाक कहता है कि ठीक तो है, फल न मिले तो नहीं सही। उसको उत्तर देना कि तब संसार में जीवों की विचित्रता कैसे घटेगी ? यह निश्रावचन है—दशवै० नि० गा० ८०।

(३) आहरणतद्दोष

(१) अधर्मयुक्त—प्रवचन के हितार्थ सावद्यकर्म करना अधर्मयुक्त होने से आहरणतद्दोष है। जैसे प्रतिवादी पोट्टशाल परिव्राजक ने वाद में हार-

कर जब विद्याबल से रोहगुप्त मुनि के विनाशार्थ बिच्छुओं का सर्जन किया, तब रोहगुप्त ने बिच्छुओं के विनाशार्थ मयूरों का सर्जन किया, जो अधर्मकार्य है[२६]। फिर भी प्रवचन के रक्षार्थ ऐसा करने को रोहगुप्त बाध्य थे—दशवै० नि० गा० ८१ चूर्णी।

(२) प्रतिलोम—'शाठ्यं कुर्यात्, शठं प्रति' का अवलंबन करना प्रतिलोम है। जैसे रोहगुप्त ने पोट्टशाल परिव्राजक को हराने के लिए किया। परिव्राजक ने जानकर ही जैन पक्ष स्थापित किया, तब प्रतिवादी जैन मुनि रोहगुप्त ने उसको हराने के लिए ही जैन सिद्धान्त के प्रतिकूल त्रैराशिक पक्ष लेकर उसका पराजय किया। उसका यह कार्य अपसिद्धान्त के प्रचार में सहायक होने से आहरणतद्दोषकोटि में है[२७]।

चरक ने वाक्य दोषों को गिनाते हुए एक विरुद्ध भी गिनाया है। उसकी व्याख्या करते हुए कहा है—

"विरुद्धं नाम यद् दृष्टान्तसिद्धान्तसमयैर्विरुद्धम्।" वही ५४।

इस व्याख्या को देखते हुए प्रतिलोम की तुलना 'विरुद्धवाक्य दोष' से की जा सकती है। न्यायसूत्रसंमत अपसिद्धान्त और प्रतिलोम में फर्क यह है कि अपसिद्धान्त तब होता है, जब शुरू में वादी अपने एक सिद्धान्त की प्रतिज्ञा करता है और बाद में उसकी अवहेलना करके उससे विरुद्ध वस्तु को स्वीकार कर कथा करता है—**"सिद्धान्तमभ्युपेत्यानियमात् कथाप्रसंगोऽपसिद्धान्तः।"** न्याय सू० ५.२.२४। किन्तु प्रतिलोम में वादी किसी एक संप्रदाय या सिद्धान्त को वस्तुतः मानते हुए भी वाद-कथा प्रसंग में अपनी प्रतिभा के बल से प्रतिवादी को हराने की दृष्टि से ही स्वसंमत सिद्धान्त के विरोधी सिद्धान्त की स्थापना कर देता है। प्रतिलोम में यह आवश्यक नहीं कि वह शुरू में अपने सिद्धान्त की प्रतिज्ञा करे। किन्तु प्रतिवादी के मंतव्य से विरुद्ध मंतव्य को सिद्ध कर देता है। वैतण्डिक और प्रतिलोमिक में अंतर यह है, कि वैतण्डिक का कोई पक्ष नहीं होता अर्थात् किसी दर्शन की मान्यता से वह बद्ध नहीं होता। किन्तु प्रातिलोमिक वह है, जो किसी दर्शन से तो बद्ध होता है। किन्तु वाद-कथा में

---

[२६] विशेषा० २४५६।

[२७] विशेषा० गा० २४५६।

प्रतिवादी यदि उसी के पक्ष को स्वीकार कर वाद का प्रारम्भ करता है तो उसे हराने के लिए ही स्वसिद्धान्त के विरुद्ध भी वह दलील करता है, और प्रतिवादी को निगृहीत करता है।

(३) आत्मोपनीत—ऐसा उपन्यास करना जिससे स्व का या स्वमत का ही घात हो। जैसे कहना कि एकेन्द्रिय सजीव हैं, क्योंकि उनका श्वासोच्छ्वास स्पष्ट दिखता है—दशवै० नि० चू० गा० ८३।

यह तो स्पष्टतया असिद्ध हेत्वाभास है। किन्तु चूर्णीकार ने इसका स्पष्टीकरण घट में व्यतिरेकव्याप्ति दिखाकर किया है, जिसका फल घट की तरह एकेन्द्रियों का भी निर्जीव सिद्ध हो जाना है, क्योंकि जैसे घट में श्वासोच्छ्वास व्यक्त नहीं वैसे एकेन्द्रिय में भी नहीं। "जहा" को वि भणेज्जा–एगेन्दिया सजीवा, कम्हा जेण तेसिं फुडो उस्सासनिस्सासो दीसइ। दिट्ठंतो घडो। जहा घडस्स निज्जीवत्तणेण उस्सासनिस्सासो नत्थि। ताण उस्सासनिस्सासो फुड़ो दीसइ तम्हा एते सजीवा। एवमादीहिं विरुद्धं न भासितव्वं।"

(४) दुरुपनीत—ऐसी बात करना जिससे स्वधर्म की निन्दा हो, यह दुरुपनीत है। इसका उदाहरण एक बौद्धभिक्षु के कथन में है। यथा—

> "कन्थाऽऽचार्याघना ते ननु शफरवधे जालमश्नासि मत्स्यान्,
> ते मे मद्योपदंशान् पिबसि ननु युतो वेश्यया यासि वेश्याम्।
> कृत्वारीणां गलेंऽह्रिं क्व नु तव रिपवो येषु सन्धिं छिनद्मि,
> चौरस्त्वं द्यूतहेतोः कितव इति कथं येन दासीसुतोऽस्मि॥'
>
> नि० गा० ८३–हारि० टीका।

यह भी चरकसमत विरुद्ध वाक्य दोष से तुलनीय है। उनका कहना है कि स्वसमयविरुद्ध नहीं बोलना चाहिए। बौद्धदर्शन मोक्ष-शास्त्रिक समय है, चरक के अनुसार मोक्षशास्त्रिक समय है कि—मोक्षशास्त्रिकसमयः सर्वभूतेष्वहिंसेति" वही ५४। अतएव बौद्ध भिक्षु का हिंसा का समर्थन स्वसमय विरुद्ध होने से वाक्य-दोष है।

उपायहृदय में विरुद्ध दो प्रकार का है दृष्टान्तविरुद्ध और युक्तिविरुद्ध—पृ० १७। उपायहृदय के मत से जो जिसका धर्म हो, उससे

उसका आचरण यदि विरुद्ध हो, तो वह युक्तिविरुद्ध है[२८]। जैसे कोई ब्राह्मण क्षत्रिय धर्म का पालन करे और मृगयादि की शिक्षा ले तो वह युक्तिविरुद्ध है। युक्तिविरुद्ध की इस व्याख्या को देखते हुए दुरुपनीत की तुलना उससे की जा सकती है।

(४) उपन्यास

(१) तद्वस्तूपन्यास–प्रतिपक्षी की वस्तु का ही उपन्यास करना अर्थात् प्रतिपक्षी के ही उपन्यस्त हेतु को उपन्यस्त करके दोष दिखाना तद्वस्तूपन्यास है। जैसे—किसी ने (वैशेषिक ने) कहा कि जीव नित्य है, क्योंकि अमूर्त है। तब उसी अमूर्तत्व को उपन्यस्त करके दोष देना कि कर्म तो अमूर्त होते हुए भी अनित्य हैं—दशवै० नि० चू० ८४।

आचार्य हरिभद्र ने इसकी तुलना **साधर्म्यसमा** जाति से की है। किन्तु इसका अधिक साम्य प्रतिदृष्टान्तसमा जाति से है—"**क्रियावानात्मा क्रियाहेतुगुणयोगात् लोष्टवदित्युक्ते प्रतिदृष्टान्त उपादीयते क्रियाहेतुगुणयुक्तं आकाशं निष्क्रियं दृष्टमिति।**" न्यायभा० ५.१.६।

साधर्म्यसमा और प्रतिदृष्टान्तसमा में भेद यह है, कि साधर्म्य समा में अन्यदृष्टान्त और अन्य हेतुकृत साधर्म्य को लेकर उत्तर दिया जाता है, जब कि प्रतिदृष्टान्तसमा में हेतु तो वादिप्रोक्त ही रहता है केवल दृष्टान्त ही बदल दिया जाता है। तद्वस्तूपन्यास में भी यही अभिप्रेत है। अतएव उसकी तुलना प्रतिदृष्टान्त के साथ ही करना चाहिए।

वस्तुत: देखो तो भङ्ग्यन्तर से हेतु की अनैकान्तिकताका उद्भा-, वन करना ही तद्वस्तूपन्यास और प्रतिदृष्टान्तसमा जाति का प्रयोजन है।

उपायहृदयगत प्रतिदृष्टान्तसम दूषण (पृ० ३०) और तर्कशास्त्र-गत प्रतिदृष्टान्त खण्डन से यह तुलनीय है—पृ० २६।

(२) तदन्यवस्तूपन्यास–उपन्यस्त वस्तु से अन्य में भी प्रतिवादी की बात का उपसंहार कर पराभूत करना तदन्यवस्तूपन्यास है–जैसे

---

[२८] "युक्तिविरुद्धो यथा, ब्राह्मणस्य क्षत्रधर्मानुपालनम्, मृगयादिशिक्षा च। क्षत्रियस्य ध्यानसमापत्तिरिति युक्तिविरुद्धः। एवम्भूतौ धर्मौ अज्ञा अबुद्ध्वैव सत्यं मन्यते।" उपाय० पृ० १७।

जीव अन्य है, शरीर अन्य है। तो दोनों अन्यशब्दवाच्य होने से एक हैं ऐसा यदि प्रतिवादी कहे तो उसके उत्तर में कहना कि परमाणु अन्य है, द्विप्रदेशी अन्य है, तो दोनों अन्य शब्द वाच्य होने से एक मानना चाहिए— यह तदन्यवस्तूपन्यास है—दशवै० नि० गा० ८४।

यह स्पष्ट रूप से प्रसंगापादन है। पूर्वोक्त व्यंसक और लूषक हेतु से क्रमशः पूर्व पक्ष और उत्तर पक्ष की तुलना करना चाहिए।

(३) प्रतिनिभोपन्यास—वादी के 'मेरे वचन में दोष नहीं हो सकता' ऐसे साभिमान कथन के उत्तर में प्रतिवादी भी यदि वैसा ही कहे तो वह प्रतिनिभोपन्यास है। जैसे किसी ने कहा कि 'जीव सत् है' तब उसको कहना कि 'घट भी सत् है, तो वह भी जीव हो जाएगा'। इसका लौकिक उदाहरण निर्युक्तिकार ने एक संन्यासी का दिया है। उसका दावा था कि मुझे कोई अश्रुत बात सुना दे तो उसको मैं सुवर्णपात्र दूंगा। धूर्त होने से अश्रुत बात को भी श्रुत बता देता था। तब एक पुरुष ने उत्तर दिया कि तेरे पिता से मेरे पिता एक लाख मांगते हैं। यदि श्रुत है तो एक लाख दो, अश्रुत है तो सुवर्णपात्र दो। इस तरह किसी को उभयपाशारज्जुन्याय से उत्तर देना प्रतिनिभोपन्यास है—दशवै० नि० गा० ८५।

यह उपन्यास सामान्यच्छल है। इसकी तुलना लूषक हेतु से भी की जा सकती है।

अविशेषसमा जाति के साथ भी इसकी तुलना की जा सकती है, यद्यपि दोनों में थोड़ा भेद अवश्य है।

(४) हेतूपन्यास—किसी के प्रश्न के उत्तर में हेतु बता देना हेतूपन्यास है। जैसे किसी ने पूछा—आत्मा चक्षुरादि इन्द्रियग्राह्य क्यों नहीं ? तो उत्तर देना कि वह अतीन्द्रिय है—दशवै० नि० गा० ८५।

चरक ने हेतु के विषय में प्रश्न को अनुयोग कहा है और भद्रबाहु ने प्रश्न के उत्तर में हेतु के उपन्यास को हेतूपन्यास कहा है—यह हेतूपन्यास और अनुयोग में भेद है।

"अनुयोगो नाम स यत्तद्विद्यानां तद्विद्यैरेव सार्धं तन्त्रे तन्त्रैकदेशे वा प्रश्नः प्रश्नैकदेशो वा ज्ञानविज्ञानवचनप्रतिवचनपरीक्षार्थमादिश्यते यथा नित्यः पुरुषः इति प्रतिज्ञाते यत् परः 'को हेतुरित्याह' सोऽनुयोगः । चरक विमान० १०८–५२

पूर्वोक्त तुलना का सरलता से बोध होने के लिए नीचे तुलनात्मक नकशा दिया जाता है, उससे स्पष्ट है कि जैनागम में जो वादपद बताए गए हैं, यद्यपि उनके नाम अन्य सभी परंपरा से भिन्न ही हैं, फिर भी अर्थतः सादृश्य अवश्य है। जैनागम की यह परंपरा वादशास्त्र के अव्यवस्थित और अविकसित किसी प्राचीन रूप की ओर संकेत करती है। क्योंकि जबसे वादशास्त्र व्यवस्थित हुआ है, तबसे एक निश्चित अर्थ में ही पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग समान रूप से वैदिक और बौद्ध विद्वानों ने किया है। उन पारिभाषिक शब्दों का व्यवहार जैन आगम में नहीं है, इससे फलित यह होता है कि आगमवर्णन किसी लुप्त प्राचीन परम्परा का ही अनुगमन करता है। यद्यपि आगम का अंतिम संस्करण विक्रम पांचवी शताब्दी में हुआ है, फिर भी इस विषय में नयी परम्परा को न अपनाकर प्राचीन परम्परा का ही अनुसरण किया गया जान पड़ता है।

जेण विणा लोगस्स वि,
ववहारो सव्वहा न निव्वडइ ॥
तस्स भुवणेक्क - गुरुणो,
णमो अणेगंत - वायस्स ॥

—सिद्धसेन दिवाकर

जैनागम	चरकसंहिता	तर्कशास्त्र	उपायहृदय	न्यायसूत्र
४. हेतु				
१. यापक	१. आविद्धदीर्घसूत्र—संकुलैर्वाक्यदण्डकैः।	१. अविज्ञातार्थ	१. अविज्ञात	१. अविज्ञातार्थ
	२. अविज्ञान	२. अज्ञान	२. अविज्ञान	२. अज्ञान
२. स्थापक	१. प्रतिष्ठापना	—	—	—
३. व्यंसक }	१. वाक्छल	१. अविशेषखंडन	—	१. अविशेषसमाजाति
४. लूषक }	२. सामान्यच्छल			२. सामान्यच्छल
४. आहरण				
१. अपाय	—	—	—	—
२. उपाय	—	—	—	—
३. स्थापनाकर्म	१. स्थापना	—	—	—
	२. परिहार	—	—	—
४. प्रत्युत्पन्नविनाशी	१. प्रतिज्ञाहानि	१. प्रतिज्ञाहानि	—	१. प्रतिज्ञाहानि
४. आहरणतद्देश				
१. अनुशास्ति	—	—	—	—
२. उपालम्भ	१. उपालम्भ	१. उपालम्भ	—	१. उपालम्भ
	२. अहेतु	२. हेत्वाभास	२. हेत्वाभास	२. हेत्वाभास

३. पृच्छा	१. अनुयोग	—	१. प्रश्नवाहुल्यमुत्तराल्पता २. प्रश्नाल्पतोत्तरवाहुल्य	
४. निश्रावचन	—	—	—	—
४. आहरणतद्दोष				
१. अधर्मयुक्त	—	—	—	—
२. प्रतिलोम	१. विरुद्धवाक्यदोप	—	—	—
३. आत्मोपनीत	—	—	—	—
४. दुरुपनीत	१ विरुद्धवाक्यदोप	—	१. युक्तिविरुद्ध	—
४. उपन्यास				
१. तद्वस्तूपन्यास	१ प्रतिदृष्टान्तखण्डन	१ प्रतिदृष्टान्तसमदूपण	१ प्रनिदृष्टांतसमाजाति	
२. तदन्यवस्तूपन्यास	—	—	—	
३. प्रतिनिभोपन्य.स	१ सामान्यच्छल	१ अविशेपखण्डन	१ अविशेपसमाजाति २ सामान्यच्छल	
४ हेतूपन्यास	१ अनुयोग	—	—	—

नयास्तव स्यात्-पद लाञ्छना इमे,
रसोपविद्धा इव लोह - धातवः ।
भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो,
भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः ।।

सिद्धसेन दिवाकर

**
**

य एव नित्य - क्षणिकादयो नया,
मिथोऽनपेक्षाः स्व-पर-प्रणाशिनः ।
त एव तत्त्वं विमलस्य ते मुनेः;
परस्परेक्षाः स्व - परोपकारिणः ।।

—समन्त भद्र

आगमोत्तर जैन-दर्शन

पांच
आगमोत्तर जैन-दर्शन

जैन आगम और सिद्धसेन के बीच का जो जैन साहित्य है, उसमें दार्शनिक दृष्टि से उपयोगी साहित्य आचार्य कुन्दकुन्द का तथा वाचक उमास्वाति का है। जैन आगमों की प्राचीन टीकाओं में उपलब्ध निर्युक्तियों का स्थान है। उपलब्ध निर्युक्तियों में प्राचीनतर निर्युक्तियों का समावेश हो गया है और अब तो स्थिति यह है, कि प्राचीनतर अंश और भद्रबाहु का नया अंश इन दोनों का पृथक्करण कठिन हो गया है। आचार्य भद्रबाहु का समय मान्यवर मुनि श्री पुण्यविजय जी ने विक्रम छठी शताब्दी का उत्तरार्ध माना है[1]। यदि इसे ठीक माना जाए, तब यह मानना पड़ता है कि निर्युक्तियाँ अपने वर्तमान रूप में सिद्धसेन के बाद की कृतियाँ हैं। अतएव उनको सिद्धसेन पूर्ववर्ती साहित्य में स्थान नहीं। भाष्य और चूर्णियाँ तो सिद्धसेन के बाद की हैं ही। अतएव सिद्धसेन पूर्ववर्ती आगमेतर साहित्य में से कुन्दकुन्द और उमास्वाति के साहित्य में दार्शनिक तत्त्व की क्या स्थिति थी—इसका दिग्दर्शन यदि हम कर लें, तो सिद्धसेन के पूर्व में जैनदर्शन की स्थिति का पूरा चित्र हमारे सामने उपस्थित हो सकेगा और यह हम जान सकेंगे, कि सिद्धसेन को विरासत में क्या और कितना मिला था ?

वाचक उमास्वाति की देन :

वाचक उमास्वाति का समय पण्डित श्री सुखलाल जी ने तीसरी चौथी शताब्दी होने का अनुमान किया है। आचार्य कुन्दकुन्द के समय में

---

[1] महावीर जैनविद्यालय रजतस्मारक पृ० १९९।

अभी विद्वानों का एकमत नहीं। आचार्य कुन्दकुन्द का समय जो भी माना जाए, किन्तु तत्त्वार्थ और आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थगत दार्शनिक विकास की ओर यदि ध्यान दिया जाए, तो वाचक उमास्वाति के तत्त्वार्थ-गत जैनदर्शन की अपेक्षा आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थगत जैनदर्शन का रूप विकसित है, यह किसी भी दार्शनिक से छुपा नहीं रह सकता। अत-एव दोनों के समय विचार में इस पहलू को भी यथायोग्य स्थान अवश्य देना चाहिए। इसके प्रकाश में यदि दूसरे प्रमाणों का विचार किया जाएगा, तो संभव है दोनों के समय का निर्णय सहज में हो सकेगा।

प्रस्तुत में दार्शनिक विकास क्रम का दिग्दर्शन करना मुख्य है। अतएव आचार्य कुन्दकुन्द और वाचक के पूर्वापर-भाव के प्रश्न को अलग रख कर ही पहले वाचक के तत्त्वार्थ के आश्रय से जैनदार्शनिक तत्त्व की विवेचना करना प्राप्त है और उसके बाद ही आचार्य कुन्द-कुन्द की जैनदर्शन को क्या देन है उनकी चर्चा की जाएगी। यह जान लेने पर क्रम-विकास कैसा हुआ है, यह सहज ही में ज्ञात हो सकेगा।

दार्शनिक सूत्रों की रचना का युग समाप्त हो चुका था, और दार्शनिक सूत्रों के भाष्यों की रचना भी होने लगी थी। किन्तु जैन परम्परा में अभी तक सूत्रशैली का संस्कृत ग्रन्थ एक भी नहीं बना था। इसी त्रुटि को दूर करने के लिए सर्वप्रथम वाचक उमास्वाति ने तत्त्वार्थ-सूत्र की रचना की। उनका तत्त्वार्थ जैन साहित्य में सूत्र शैली का सर्वप्रथम ग्रन्थ है, इतना ही नहीं, किन्तु जैन साहित्य के संस्कृत भाषा-निबद्ध ग्रन्थों में भी वह सर्वप्रथम है। जिस प्रकार बादरायण ने उपनिषदों का दोहन करके ब्रह्म-सूत्रों की रचना के द्वारा वेदान्त दर्शन को व्यवस्थित किया है, उसी प्रकार उमास्वाति ने आगमों का दोहन करके तत्त्वार्थ सूत्र की रचना के द्वारा जैन दर्शन को व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया है। उसमें जैन तत्त्वज्ञान, आचार, भूगोल, खगोल, जीव-विद्या, पदार्थ-विज्ञान आदि नाना प्रकार के विषयों के मौलिक मन्तव्यों को मूल

आगमों के आधार पर[2] सूत्र-बद्ध किया है और उन सूत्रों के स्पष्टीकरण के लिए स्वोपज्ञ-भाष्य की भी रचना की है। वाचक उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र में आगमों की बातों को संस्कृत भाषा में व्यवस्थित रूप से रखने का प्रयत्न तो किया ही है, किन्तु उन विषयों का दार्शनिक ढंग से समर्थन उन्होंने क्वचित् ही किया है। यह कार्य तो उन्होंने अकलंक आदि समर्थ टीकाकारों के लिए छोड़ दिया है। अतएव तत्त्वार्थ सूत्र में प्रमेय-तत्व और प्रमाण-तत्त्व के विषय में सूक्ष्म दार्शनिक चर्चा या समर्थन की आशा नहीं करना चाहिए, तथापि उसमें जो अल्प मात्रा में ही सही, दार्शनिक विकास के जो सीमा-चिन्ह दिखाई देते हैं, उनका निर्देश करना आवश्यक है। प्रथम प्रमेय तत्व के विषय में चर्चा की जाती है।

प्रमेय-निरूपण :

तत्त्वार्थ सूत्र और उसका स्वोपज्ञ-भाष्य यह दार्शनिक भाष्य-युग की कृति है। अतएव वाचक ने उसे दार्शनिक सूत्र और भाष्य की कोटि का ग्रन्थ बनाने का प्रयत्न किया है। दार्शनिक सूत्रों की यह विशेषता है कि उनमें स्वसंमत तत्त्वों का निर्देश प्रारम्भ में ही सत्, सत्त्व, अर्थ, पदार्थ या तत्त्व एवं तत्त्वार्थ जैसे शब्दों से किया जाता है। अतएव जैन दृष्टि से भी उन शब्दों का अर्थ निश्चित करके यह बताना आवश्यक हो जाता है कि तत्त्व कितने हैं? वैशेषिक सूत्र में द्रव्यआदि छह को पदार्थ कहा है (१. १. ४) किन्तु अर्थसंज्ञा द्रव्य, गुण और कर्म की ही कही ग है (८. २. ३.)। सत्ता सम्बन्ध के कारण सत् यह पारिभाषिक संज्ञा भी इन्हीं तीन की रखी गई है (१. १. ८)। न्यायसूत्रगत प्रमाणआदि सोलह तत्त्वों को भाष्यकार ने सत् शब्द से व्यवहृत किया है[3]। सांख्यों के मत से प्रकृति और पुरुष ये दो ही तत्त्व माने गए हैं।

---

[2] देखो, 'तत्त्वार्थसूत्र जैनागमसमन्वय'।

[3] "सच्च खलु षोडशधा व्यूढमुपदेक्ष्यते' न्यायभा० १.१.१.।

वाचक ने इस विषय में जैनदर्शन का मन्तव्य स्पष्ट किया, कि तत्त्व, अर्थ, तत्त्वार्थ और पदार्थ एकार्थक हैं और तत्त्वों की संख्या सात है[४]। आगमों में पदार्थ की संख्या नव बताई गई है, (स्था० सू० ६६५) जब कि वाचक ने पुण्य और पाप को बन्ध में अन्तर्भूत करके सात तत्त्वों का ही उपादान किया है। यह वाचक की नयी सूझ जान पड़ती है।

सत् का स्वरूप :

वाचक उमास्वाति ने नयों की विवेचना में कहा है कि "सर्वमेकं सदविशेषात्" (तत्त्वार्थ भा० १.३५)। अर्थात् सब एक हैं, क्योंकि सभी समानभाव से सत् हैं। उनका यह कथन ऋग्वेद के दीर्घतमा ऋषि के 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' (१.१६४.४६) की तथा उपनिषदों के सन्मूलक सर्वप्रपञ्च की उत्पत्ति के वाद की (छान्दो० ६.२) याद दिलाता है। स्थानांगसूत्र में 'एगे आया' (सू० १) तथा 'एगे लोए' (सू० ६) जैसे सूत्र आते हैं। उन सूत्रों की संगति के लिए संग्रहनय का अवलम्बन लेना पड़ता है। आत्मत्वेन सभी आत्माओं को एक मानकर 'एगे आया' इस सूत्र को संगत किया जा सकता है तथा 'पञ्चास्तिकायमयो लोकः' के सिद्धान्त से 'एगे लोए' सूत्र की भी संगति हो सकती है। यहाँ इतना ही स्पष्ट है, कि आगमिक मान्यता की मर्यादा का अतिक्रमण बिना किए ही संग्रहनय का अवलम्बन करने से उक्त सूत्रों की संगति हो जाती है। किन्तु उमास्वाति ने जब यह कहा कि 'सर्वमेकं सदविशेषात्' तब इस वाक्य की व्याप्ति किसी एक या समग्र द्रव्य तक ही नहीं है, किन्तु द्रव्यगुणपर्यायव्यापी महासामान्य का भी स्पर्श करती है। उमास्वाति के समयपर्यन्त में वेदान्तियों के सद्ब्रह्म की और न्याय-वैशेषिकों के सत्तासामान्यरूप महासामान्य की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। उसी दार्शनिक

---

[४] 'सप्तविधोऽर्थस्तत्त्वम्' १.४। १.२। "एते वा सप्तपदार्थास्तत्त्वानि।" १.४। तत्त्वार्थश्रद्धानम्"१.२।

कल्पना को संग्रहनय का अवलम्बन करके जैन परिभाषा का रूप उन्होंने दे दिया है।

अनेकान्तवाद के विवेचन में हमने यह बताया है, कि आगमों में तिर्यग् और ऊर्ध्व दोनों प्रकार के पर्यायों का आधारभूत द्रव्य माना गया है। जो सर्व द्रव्यों का अविशेष—सामान्य था—**अविसेसिए दव्वे विसेसिए जीवदव्वे अजीवदव्वे य।**" अनुयोग० सू० १२३। पर उसकी 'सत्' संज्ञा आगम में नहीं थी। वाचक उमास्वाति को प्रश्न होना स्वाभाविक है, कि दार्शनिकों के परमतत्त्व 'सत्' का स्थान ले सके ऐसा कौन पदार्थ है ? वाचक ने उत्तर दिया कि द्रव्य ही सत् है[5]। वाचक ने जैनदर्शन की प्रकृति का पूरा ध्यान रख करके 'सत्' का लक्षण कर दिया है, कि **'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्'** (५.२९)। इससे स्पष्ट है कि वाचक ने जैनदर्शन के अनुसार जो 'सत्' की व्याख्या की है, वह औपनिषद-दर्शन और न्याय वैशेषिकों की 'सत्ता' से जैनसंमत 'सत्' को विलक्षण सिद्ध करती है। वे 'सत्' या सत्ता को नित्य मानते हैं। वाचक उमास्वाति ने भी 'सत्' को कहा तो नित्य, किन्तु उन्होंने 'नित्य' की व्याख्या ही ऐसी की है, जिससे एकान्तवाद के विष से नित्य ऐसा सत् मुक्त हो और अखण्डित रह सके। नित्य का लक्षण उमास्वाति ने किया है कि—**"तद्भावाव्ययं नित्यम्।"** ५. ३०। और इसकी व्याख्या की कि—**यत् सतो भावान्न व्येति न व्येष्यति तन्नित्यम्**[6]।" अर्थात् उत्पाद और व्यय के होते हुए भी जो सद्रूप मिटकर असत् नहीं हो जाता, वह नित्य है। पर्यायें बदल जाने पर भी यदि उसमें सत् प्रत्यय होता है, तो वह नित्य ही है, अनित्य नहीं। एक ही सत् उत्पादव्यय के कारण अस्थिर और ध्रौव्य के कारण

---

[5] "धर्मादीनि सन्ति इति कथं गृह्णीमः ? इति। अत्रोच्यते लक्षणतः। किञ्च सतो लक्षणमिति ? अत्रोच्यते-'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्'।" तत्वार्थ भा० ५. २९। सर्वार्थसिद्धि में तथा श्लोकवार्तिक में 'सद् द्रव्यलक्षणम्' ऐसा पृथक् सूत्र भी है—५.२९।

[6] तुलना करो "यस्य गुणान्तरेषु अपि प्रादुर्भवत्सु तत्वेन विहन्यते तद् द्रव्यम्। किं पुनस्तत्त्वम्" ? तद्भावस्तत्त्वम् पातंजलमहाभाष्य ५.१.११९।

स्थिर ऐसे परस्पर विरोधी धर्मों की भूमि कैसे हो सकता है? इस विरोध का परिहार भी वाचक उमास्वाति ने "अर्पितानर्पितसिद्धेः।" (५. ३१.) सूत्र से किया है और उसकी व्याख्या में आगमोक्त पूर्वप्रतिपादित सप्तभंगी का निरूपण किया है। सप्तभंगी का वही आगमोक्त पुराना रूप प्रायः उन्हीं शब्दों में भाष्य में उद्धृत हुआ है। जैसा आगम में वचन-भेद को भंगों की योजना में महत्त्व दिया गया है, वैसा वाचक उमास्वाति ने भी किया है। अवक्तव्य भंग का स्थान तीसरा है। प्रथम के तीन भंगों की योजना दिखाकर शेष विकल्पों को शब्दतः उद्धृत नहीं किया, किन्तु प्रसिद्धि के कारण विस्तार करना उन्होंने उचित न समझकर—'देशादेशेन विकल्पयितव्यम्' ऐसा आदेश दे दिया है।

वाचक उमास्वाति ने सत् के चार भेद बताए हैं—१. द्रव्यास्तिक, २. मातृकापदास्तिक, ३. उत्पन्नास्तिक, और ४. पर्यायास्तिक। सत् का ऐसा विभाग अन्यत्र देखा नहीं जाता, इन चार भेदों का विशेष विवरण वाचक उमास्वाति ने नहीं किया। टीकाकार ने व्याख्या में मतभेदों का निर्देश किया है। प्रथम के दो भेद द्रव्यनयाश्रित हैं और अन्तिम दो पर्यायनयाश्रित हैं। द्रव्यास्तिक से परमसंग्रहविषयभूत सत् द्रव्य और मातृकापदास्तिक से सत् द्रव्य के व्यवहारनयाश्रित धर्मास्तिकायआदि द्रव्य और उनके भेद-प्रभेद अभिप्रेत हैं। प्रत्येक क्षण में नवनवोत्पन्न वस्तु का रूप उत्पन्नास्तिक से और प्रत्येक क्षण में होने वाला विनाश या भेद पर्यायास्तिक से अभिप्रेत है।

द्रव्य, पर्याय और गुण का लक्षण :

जैन आगमों में सत् के लिए द्रव्य शब्द का प्रयोग आता है। किन्तु द्रव्य शब्द के अनेक अर्थ प्रचलित थे[७]। अतएव स्पष्ट शब्दों में जैन संमत द्रव्य का लक्षण भी करना आवश्यक था। उत्तराध्ययन में मोक्षमार्गाध्ययन (२८) है। उसमें ज्ञान के विषयभूत द्रव्य, गुण और

---

[७] प्रमाणमी० भाषा० पृ० ५४।

पर्याय ये तीन पदार्थ बताए गए हैं (गा० ५) अन्यत्र भी ये ही तीन पदार्थ गिनाए हैं[८]। किन्तु द्रव्य के लक्षण में केवल गुण को ही स्थान मिला है—"गुणाणमासओ दव्वं" (गा० ६)। वाचक ने गुण और पर्याय दोनों को द्रव्य लक्षण में स्थान दिया है—"**गुणपर्यायवद् द्रव्यम्**" (५.३७)। वाचक के इस लक्षण में आगमाश्रय तो स्पष्ट है ही, किन्तु शाब्दिक रचना में वैशेषिक के "**क्रियागुणवत्**" (१.१.१५) इत्यादि द्रव्य-लक्षण का प्रभाव भी स्पष्ट है।

गुण का लक्षण उत्तराध्ययन में किया गया है कि "**एगदव्वस्सिया गुणा**" (२८.६)। किन्तु वैशेषिक सूत्र में "**द्रव्याश्रय्यगुणवान्**" (१.१:१६) इत्यादि है। वाचक अपनी आगमिक परम्परा का अवलम्बन लेते हुए भी वैशेषिक सूत्र का उपयोग करके गुण का लक्षण करते हैं कि "**द्रव्याश्रया निर्गुणाः गुणाः।**" (५.४०)।

यहाँ एक विशेष बात का ध्यान रखना जरूरी है। यद्यपि जैन आगमिक परम्परा का अवलम्बन लेकर ही वाचक ने वैशेषिक सूत्रों का उपयोग किया है, तथापि अपनी परम्परा की दृष्टि से उनका द्रव्य और गुण का लक्षण जितना निर्दोष और पूर्ण है, उतना स्वयं वैशेषिक का भी नहीं है।[९]

बौद्धों के मत से पर्याय या गुण ही सत् माना जाता है और वेदान्त के मत से पर्यायवियुक्त द्रव्य ही सत् माना जाता है। इन्हीं दोनों मतों का निरास वाचक के द्रव्य और गुण लक्षणों में स्पष्ट है।

उत्तराध्ययन में पर्याय का लक्षण है—"**लक्खणं पज्जवाणं तु उभओ अस्सिया भवे।**" (२८.६) उभयपद का टीकाकार ने जैनपरम्परा के हार्द को पकड़ करके द्रव्य और गुण अर्थ करके कहा है, कि द्रव्य और गुणाश्रित जो हो, वह पर्याय है। किन्तु स्वयं मूलकार ने जो पर्याय के विषय में आगे चलकर यह गाथा कही है--

---

[८] "से किं तं तिनामे दव्वणामे, गुणणामे, पज्जवणामे।" अनुयोग सू० १२४।

[९] देखो, वैशेषिक-उपस्कार १.१.१५,१६।

एकत्तं च पुहुत्तं च संखा संठाणमेव च ।
संजोगा य विभागा य पज्जावाणं तु लक्खणं ॥"

उससे यह प्रतीत होता है, कि मूलकार को उभयपद से दो या अधिक द्रव्य अभिप्रेत हैं । इसका मूल गुणों को एकद्रव्याश्रित और अनेक द्रव्याश्रित ऐसे दो प्रकारों में विभक्त करने वाली किसी प्राचीन परम्परा में हो, तो आश्चर्य नहीं । वैशेषिक परम्परा में भी गुणों का ऐसा विभाजन देखा जाता है—संयोगविभागद्वित्वद्विपृथक्त्वादयोऽनेकाश्रिताः ।" प्रशस्त० गुणनिरूपण ।

पर्याय का उक्त आगमिक लक्षण सभी प्रकार के पर्यायों को व्याप्त नहीं करता । किन्तु इतना ही सूचित करता है, कि उभय द्रव्याश्रित को गुण कहा नहीं जाता, उसे तो पर्याय कहना चाहिए । अतएव वाचक ने पर्याय का निर्दोष लक्षण करने का यत्न किया है । वाचक के "भावान्तरं संज्ञान्तरं च पर्यायः ।" (५.३७) इस वाक्य में पर्याय के स्वरूप का निर्देश अर्थ और व्यंजन—शब्द दोनों दृष्टियों से हुआ है । किन्तु पर्याय का लक्षण तो उन्होंने किया है कि[१०] "तद्भावः परिणामः" । (५.४१) यहाँ पर्याय के लिए परिणाम शब्द का प्रयोग साभिप्राय है ।

मैं पहले यह तो बता आया हूँ, कि आगमों में पर्याय के लिए परिणाम शब्द का प्रयोग हुआ है । सांख्य और योगदर्शन में भी परिणाम शब्द पर्याय अर्थ में ही प्रसिद्ध है । अतएव वाचक ने उसी शब्द को लेकर पर्याय का लक्षण ग्रथित किया है, और उसकी व्याख्या में कहा है कि, "धर्मादीनां द्रव्याणां यथोक्तानां च गुणानां स्वभावः स्वतत्त्वं परिणामः" अर्थात् धर्म आदि द्रव्य और गुण जिस-जिसस्वभाव में हो जिस-जिस रूप में आत्मलाभ प्राप्त करते हों, उनका वह स्वभाव या स्वरूप परिणाम है, पर्याय है ।

---

[१०] "कः पुनरसौ पर्यायः इत्याह—तद्भावः परिणामः ।" तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४४० ।

परिणामों को वाचक ने आदिमान् और अनादि ऐसे दो भेदों में विभक्त किया है[११]। प्रत्येक द्रव्य में दोनों प्रकार के परिणाम होते हैं। जैसे जीव में जीवत्व, द्रव्यत्व, इत्यादि अनादि परिणाम हैं और योग और उपयोग आदिमान् परिणाम हैं। उनका यह विश्लेषण जैनागम और इतर दर्शन के मार्मिक अभ्यास का फल है।

गुण और पर्याय से द्रव्य वियुक्त नहीं :

वाचक उमास्वातिकृत द्रव्य के लक्षण से यह तो फलित हो ही जाता है, कि गुण और पर्याय से रहित ऐसा कोई द्रव्य हो नहीं सकता। इस बात को उन्होंने अन्यत्र स्पष्ट शब्दों में कहा भी है—"द्रव्यजीव इति गुणपर्यायवियुक्तः प्रज्ञास्थापितोऽनादिपारिणामिकभावंयुक्तो जीव इति।' तत्त्वार्थ-भाष्य १५। गुण और पर्याय से वस्तुतः पृथक् ऐसा द्रव्य नहीं होता, किन्तु प्रज्ञा से उसकी कल्पना की जा सकती है। गुण और पर्याय की विवक्षा न करके द्रव्य को गुण और पर्याय से पृथक् समझा जा सकता है, पर वस्तुतः पृथक् नहीं किया जा सकता। वैशेषिक परिभाषा में कहना हो, तो द्रव्य और गुण-पर्याय अयुतसिद्ध हैं।

गुण-पर्याय से रहित ऐसे द्रव्य की अनुपलब्धि के कथन से यह तो स्पष्ट नहीं होता है, कि द्रव्य से रहित गुण-पर्याय उपलब्ध हो सकते हैं या नहीं। इसका स्पष्टीकरण बाद के आचार्यों ने किया है[१२]।

कालद्रव्य :

जैन आगमों में द्रव्य वर्णन प्रसंग में कालद्रव्य को पृथक् गिनाया गया है[13], और उसे जीवाजीवात्मक भी कहा है[१४]। इससे आगमकाल से

---

[११] तत्त्वार्थ० ५.४२. से।

[१२] चौथा कर्मग्रन्थ पृ० १५७।

[13] भगवती २.१०.१२०। ११.११.४२४। १३.४.४८२,४८३। २५.४। इत्यादि। प्राज्ञापना पद १। उत्तरा २८.१०।

[१४] स्थानांग सूत्र ९५। जीवाभिगम। ४ "किमियं भंते! लोएत्ति पवुच्चइ? गोयमा, पंचत्थिकाया।" भगवती १३.४.४८१। पंचास्तिकाय गा० ३.। तत्त्वार्थ भा० ३.६.।

ही काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानने न मानने की दो परम्पराएँ थीं, यह स्पष्ट है। वाचक उमास्वाति 'कालश्च इत्येके' (५.३८) सूत्र से यह सूचित करते हैं, कि वे काल को पृथक् द्रव्य मानने के पक्षपाती नहीं थे। काल को पृथक् नहीं मानने का पक्ष प्राचीन मालूम होता है, क्योंकि लोक क्या है? इस प्रश्न का उत्तर श्वेताम्वर एवं दिगम्वर दोनों के मत से एक ही है कि लोक पंचास्तिकायमय है[१५]। कहीं यह उत्तर नहीं देखा गया, कि लोक षड्द्रव्यात्मक है[१६]। अतएव मानना पड़ता है, कि जैन-दर्शन में काल को पृथक् मानने की परम्परा उतनी प्राचीन नहीं। यही कारण है, कि श्वेताम्बर और दिगम्वर दोनों में काल के स्वरूप के विषय में मतभेद भी देखा जाता है[१७]।

उत्तराध्ययन में काल का लक्षण है "**वत्तणालक्खणो कालो**" (२८.१०)। किन्तु वाचक ने काल के विषय में कहा है कि "**वर्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य**" (५.२२)। वाचक का यह कथन वैशेषिक सूत्र से[१८] प्रभावित है।

पुद्गल-द्रव्य :

आगम में पुद्गलास्तिकाय का लक्षण 'ग्रहण' किया गया है—"**गहणलक्खणे णं पोग्गलत्थिकाए**" (भगवती—१३.४.४८१)। "**गुणओ गहणगुणे**" (भगवती–२.१०.११७। स्थानांग सू० ४४१) इस सूत्र से यह फलित होता है, कि वस्तु का अव्यभिचारी–सहभावी गुण ही आगमकार को लक्षण रूप से इष्ट था। केवल पुद्गल के विषय में ही नहीं, किन्तु

---

[१५] इसमें एक ही अपवाद उत्तराध्ययन का है २८.७.। किन्तु इसका स्पष्टीकरण यही है कि वहाँ छह द्रव्य मानकर वर्णन किया है। अतएव उस वर्णन के साथ संगति रखने के लिए लोक को छह द्रव्यरूप कहा है। अन्यत्र द्रव्य मानने वालों ने भी लोक को पंचास्तिकायमय ही कहा है। जैसे आचार्य कुन्दकुन्द षड्द्रव्यवादी होते हुए भी लोक को जब पंचास्तिकायमय ही कहते हैं, तब उस परम्परा की प्राचीनता स्पष्ट हो जाती है।

[१६] चौथा-कर्मग्रन्थ पृ० १५८।

[१७] वैशे०२.२.६.

[१८] प्रज्ञापना पद १। भगवती ७.१०.३०४०.। अनुयोग० सू० १४४।

जीवआदि विषय में भी जो उनके उपयोगआदि गुण हैं, उन्हीं का लक्षणरूप से भगवती में निर्देश है, इससे यही फलित होता है, कि आगमकाल में गुण ही लक्षण समझा जाता रहा।

ग्रहण का अर्थ क्या है, यह भी भगवती के निम्न सूत्र से स्पष्ट होता है–

"पोग्गलत्थिकाए णं जीवाणं ओरालिय-वेउव्विय-आहारए तेयाकम्मए सोइंदिय-चक्खिंदिय-घाणिंदिय--जिब्भिदिय-फासिंदिय--मणजोग-वयजोग-कायजोग--आणापाणूणं च गहणं पवत्तति गहणलक्खणे णं पोग्गलत्थिकाए" भगवती १३.४.४८१।

जीव अपने शरीर, इन्द्रिय, योग और श्वासोच्छ्वास रूप से पुद्गलों का ग्रहण करता है, क्योंकि पुद्गल का लक्षण ही ग्रहण है। फलित यह होता है, कि पुद्गल में जीव के साथ सम्बन्ध होने की योग्यता का प्रतिपादन उसके सामान्य लक्षण ग्रहण अर्थात् सम्बन्ध योग्यता के आधार पर किया गया है। तात्पर्य इतना ही जान पड़ता है कि जो बंधयोग्य है, वह पुद्गल है। इस प्रकार पुद्गलों में परस्पर और जीव के साथ बद्ध होने की शक्ति का प्रतिपादन ग्रहण शब्द से किया गया है।

इस व्याख्या से पुद्गल का स्वरूप-बोध स्पष्ट रूप से नहीं होता। उत्तराध्ययन में उसकी जो दूसरी व्याख्या (२८.१२) की गई है, वह स्वरूपबोधक है–

"सद्दन्धयारउज्जोओ पहा छायातवेइ वा।
वण्णरसगन्धफासा पुग्गलाणं तु लक्खणं॥"

दर्शनान्तर में शब्दआदि को गुण और द्रव्य मानने की भिन्न भिन्न कल्पनाएँ प्रचलित हैं। इसके स्थान में उक्त सूत्र में शब्दआदि का समावेश पुद्गल द्रव्य में करने की सूचना की है और पुद्गल द्रव्य की व्याख्या भी की है, कि जो **वर्ण आदि युक्त है**, सो पुद्गल।

वाचक के सामने आगमोक्त द्रव्यों का निम्न वर्गीकरण ही था
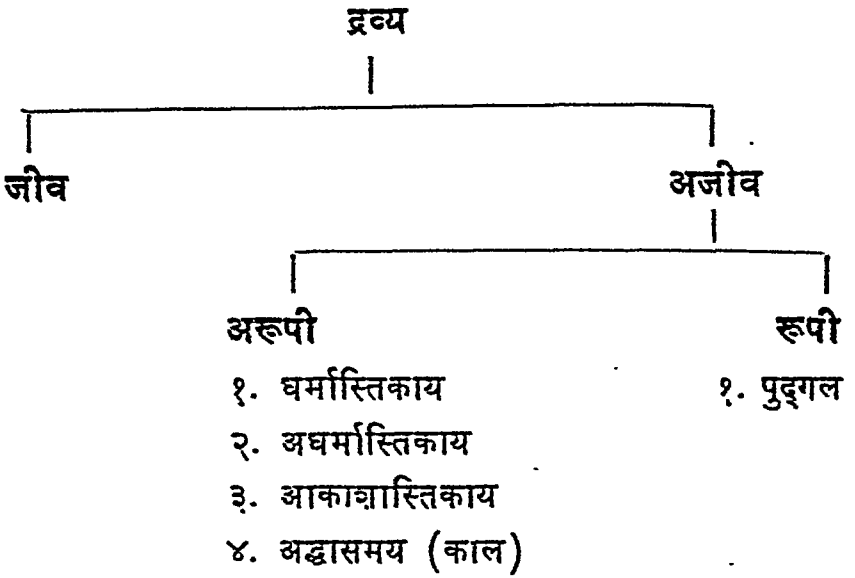
इसके अनुसार पुद्गल के अलावा कोई द्रव्य रूपी नहीं है। अतएव मुख्य रूप से पुद्गल का लक्षण वाचक ने किया कि "स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः।" (५.२३)। तथा "शब्द-बन्ध-सौक्ष्म्य-स्थौल्य-संस्थान-भेद-तमश्छाया तपोद्योतवन्तश्च।" (५.२४) इस सूत्र में बन्धआदि अनेक नये पदों का भी समावेश करके उत्तराध्ययन के लक्षण की विशेष पूर्ति की।

पुद्गल के विषय में पृथक् दो सूत्रों की क्यों आवश्यकता है? इसका स्पष्टीकरण करते हुए वाचक ने जो कहा है, उससे उनकी दार्शनिक विश्लेषण शक्ति का पता हमें लगता है। उन्होंने कहा है कि—

"स्पर्शादयः परमाणुषु स्कन्धेषु च परिणामजा एव भवन्ति। शब्दादयश्च स्कन्धेष्वेव भवन्ति अनेकनिमित्ताश्च इत्यतः पृथक्करणम्" तत्त्वार्थभाष्य ५.२।

परन्तु द्रव्यों का साधर्म्य - वैधर्म्य बताते समय उन्होंने जो "रूपिणः पुद्गलाः" (५.४) कहा है, वही वस्तुतः पुद्गल का सर्वसंक्षिप्त लक्षण है और दूसरे द्रव्यों से पुद्गल का वैधर्म्य भी प्रतिपादित करता है।

"रूपिणः पुद्गलाः" में रूप शब्द का क्या अर्थ है ? इसका उत्तर— "रूपं मूर्तिः मूर्त्याश्रयाश्च स्पर्शादय इति।" (तत्त्वार्थ भा० ५.३) इस वाक्य से मिल जाता है। रूप शब्द का यह अर्थ, बौद्ध धर्म प्रसिद्ध नाम-रूपगत रूप[२०] शब्द के अर्थ से मिलता है।

वैशेषिक मन को मूर्त मानकर भी रूप आदि से रहित मानते हैं। उसका निरास 'रूपं मूर्तिः' कहने से हो जाता है।

इन्द्रिय-निरूपण :

वाचक ने इन्द्रियों के निरूपण में कहा है कि इन्द्रियाँ पाँच ही हैं। पाँच संख्याका ग्रहण करके उन्होंने नैयायिकों के षडिन्द्रियवाद और सांख्यों के एकादशेन्द्रियवाद तथा बौद्धों के ज्ञानेन्द्रियवाद का निरास किया है।

अमूर्त द्रव्यों की एकत्रावगाहना :

एक ही प्रदेश में धर्मादि सभी द्रव्यों का अस्तित्व कैसे हो सकता है ? यह प्रश्न आगमों में चर्चित देखा गया। पर वाचक ने इसका उत्तर दिया है, कि धर्म-अधर्म आकाश और जीव की परस्पर में वृत्ति और पुद्गल में उन सभी की वृत्ति का कोई विरोध नहीं, क्योंकि वे अमूर्त हैं।

ऊपर वर्णित तथा अन्य अनेक विषयों में वाचक उमास्वाति ने अपने दार्शनिक पाण्डित्य का प्रदर्शन किया है। जैसे जीव की नाना प्रकार की शरीरावगहना की सिद्धि, (५.१६), अपवर्त्य और अनपवर्त्य आयुषों की योगदर्शन भाष्य का अवलम्बन करके सिद्धि (२.५२)।

प्रमाण-निरूपण :

इस बात की चर्चा मैंने पहले की है, कि आगम काल में स्वतन्त्र जैनदृष्टि से प्रमाण की चर्चा नहीं हुई है। अनुयोगद्वार में ज्ञान को प्रमाण कह कर भी स्पष्ट रूप से जैनागम में प्रसिद्ध पाँच ज्ञानों को प्रमाण नहीं कहा है। इतना ही नहीं, बल्कि जैनदृष्टि से ज्ञान के प्रत्यक्ष और

---

[२०] "चत्तारि च महाभूतानि चतुन्नं च महाभूतानं उपादाय रूपं ति दुविधम्पेतं रुपं एकादसविधेन संगह-गच्छति।" अभिधम्मत्थसंगह ६.१ से।

परोक्ष ऐसे दो प्रकार होने पर भी उनका वर्णन न करके दर्शनान्तर के अनुसार प्रमाण के तीन या चार प्रकार बताए गए हैं। अतएव स्वतन्त्र जैन दृष्टि से प्रमाण की चर्चा की आवश्यकता रही। इसकी पूर्ति वाचक ने की है। वाचक ने समन्वय कर दिया, कि मत्यादि पाँच ज्ञान ही प्रमाण है[२१]।

प्रत्यक्ष-परोक्ष :

मत्यादि पाँचों ज्ञानों का नामोल्लेख करके वाचक ने कहा है कि ये ही पाँच ज्ञान प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो प्रमाणों में विभक्त है[२२]। स्पष्ट है, कि वाचक ने ज्ञान के आगम प्रसिद्ध प्रत्यक्ष और परोक्ष दो भेद को लक्ष्य करके ही प्रमाण के दो भेद किए हैं। उन्होंने देखा कि जैन आगमों में जब ज्ञान के दो प्रकार ही सिद्ध हैं, तब प्रमाण के भी दो प्रकार ही करना उचित है। अतएव उन्होंने अनुयोग और स्थानांग गत प्रमाण के चार या तीन भेद, जो कि लोकानुसारी हैं, उन्हें छोड़ ही दिया। ऐसा करने से ही स्वतन्त्र जैनदृष्टि से प्रमाण और पंच ज्ञान का सम्पूर्ण समन्वय सिद्ध हो जाता है और जैन आगमों के अनुकूल प्रमाण-व्यवस्था भी बन जाती है।

वाचक उमास्वाति लौकिक परंपरा को अपनी आगमिक मौलिक परंपरा के जितना महत्व देना चाहते न थे, और दार्शनिक जगत में जैन आगमिक परंपरा का स्वातंत्र्य भी दिखाना चाहते थे। यही कारण है, कि अनुयोगद्वार में जो लोकानुसरण करके इन्द्रिय प्रत्यक्ष रूप आंशिक-मतिज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण कहा है, उसे उन्होंने अमान्य रखा। इतना ही नहीं, किन्तु नन्दी में जो इन्द्रियजमति को प्रत्यक्ष ज्ञान कहा है, उसे भी अमान्य रखा और प्रत्यक्ष-परोक्ष की प्राचीन मौलिक आगमिक व्यवस्था का अनुसरण करके कह दिया कि मति और श्रुत ज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं और अवधि, मनःपर्यय और केवल प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।[२३]

---

[२१] तत्त्वार्थ० १.१०।

[२२] "मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलानि ज्ञानम् ॥९॥ तत् प्रमाणे ॥१०॥" तत्त्वार्थ० १.।

[२३] "आद्ये परोक्षम्। प्रत्यक्षमन्यत्।" तत्त्वार्थ १.१०,११।

बाद के जैन दार्शनिकों ने इस विषय में वाचक उमास्वाति का अनुसरण नहीं किया, बल्कि लोकानुसरण करके इन्द्रिय प्रत्यक्ष को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष माना है।

प्रमाण संख्यान्तर का विचार :

जब वाचक ने प्रमाण के दो भेद किए, तब प्रश्न होना स्वाभाविक है कि जैनागम में जो प्रत्यक्षादि चार प्रमाण माने गए हैं, उसका क्या स्पष्टीकरण है ? तथा दूसरों ने जो अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति, संभव और अभाव प्रमाण माने हैं, उनका इन दो प्रमाणों के साथ क्या मेल है ?

उन्होंने उसका उत्तर दिया कि आगमों में प्रमाण के जो चार भेद किए गए हैं, वे नयवादान्तर से हैं[२४] तथा दर्शनान्तर में जो अनुमानादि प्रमाण माने जाते हैं, उनका समावेश मतिश्रुतरूप परोक्ष प्रमाण में करना चाहिए। क्योंकि उन सभी में इन्द्रियार्थसन्निकर्षरूप निमित्त उपस्थित हैं[२५]।

इस उत्तर से उनको संपूर्ण संतोष नहीं हुआ, क्योंकि मिथ्याग्रह होने के कारण जैनेतर दार्शनिकों का ज्ञान आगमिक परिभाषा के अनुसार अज्ञान ही कहा जाता है। अज्ञान तो अप्रमाण है। अतएव उन्होंने इस आगमिक दृष्टि को सामने रख कर एक दूसरा भी उत्तर दिया कि दर्शनान्तर संमत अनुमानादि अप्रमाण ही हैं[२६]।

उपर्युक्त दो विरोधी मन्तव्य प्रकट करने से उनके सामने ऐसा प्रश्न आया, कि दर्शनान्तरीय चार प्रमाणों को नयवाद से प्रमाण-कोटि में गिनते हो और दर्शनान्तरीय सभी अनुमानादि प्रमाणों को मति श्रुत में समाविष्ट करते हो, इसका क्या समाधान है ?

[२४] तत्त्वार्थ० भा० १.६।

[२५] तत्त्वार्थ भा० १.१२।

[२६] "अप्रमाणान्येव वा। कुतः ? मिथ्यादर्शन-परिग्रहात् विपरीतोपदेशाच्च। मिथ्यादृष्टेर्हि मतिश्रुतावधयो नियतमज्ञानमेवेति।" तत्त्वार्थ भा० १.१२।

इसका उत्तर यों दिया है—शब्दनय के अभिप्राय से ज्ञान—अज्ञान का विभाग ही नहीं। सभी साकार उपयोग ज्ञान ही हैं। शब्दनय श्रुत और केवल इन दो ज्ञानों को ही मानता है। बाकी के सब ज्ञानों को श्रुत का उपग्राहक मानकर उनका पृथक् परिगणन नहीं करता। इसी दृष्टि से आगम में प्रत्यक्षादि चार को प्रमाण कहा गया है और इसी दृष्टि से अनुमानादि का अन्तर्भाव मति श्रुत में किया गया है[२७]। प्रमाण और अप्रमाण का विभाग नैगम, संग्रह और व्यवहार नय के अवलम्बन से होता है, क्योंकि इन तीनों नयों के मत से ज्ञान और अज्ञान दोनों का पृथक् अस्तित्व माना गया है[२८]।

प्रमाण का लक्षण :

वाचक के मत से सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण का लक्षण है। सम्यग्शब्द की व्याख्या में उन्होंने कहा है, कि जो प्रशस्त अव्यभिचारी या संगत हो, वह सम्यग् है[२९]। इस लक्षण में नैयायिकों के प्रत्यक्ष लक्षणगत अव्यभिचारिविशेषण और उसी को स्पष्ट करने वाला संगत विशेषण जो आगे जाकर बाधविवर्जित या अविसंवाद रूप से प्रसिद्ध हुआ, आए हैं, किन्तु उसमें 'स्वपरव्यवसाय' ने स्थान नहीं पाया है। वाचक ने कार्मण शरीर को स्व और अन्य शरीरों की उत्पत्ति में कारण सिद्ध करने के लिए आदित्य की स्वपरप्रकाशकता का दृष्टान्त दिया है[३०]। किन्तु उसी दृष्टान्त के बल से ज्ञान की स्वपरप्रकाशकता की सिद्धि, जैसे आगे के आचार्यों ने की है, उन्होंने नहीं की।

ज्ञानों का सहभाव और व्यापार :

वाचक उमास्वाति ने आगमों का अवलम्बन लेकर ज्ञानों के सहभाव का विचार किया है (१,३१)। उस प्रसंग में एक प्रश्न उठाया

---

[२७] तत्त्वार्थ भा० १.३५।

[२८] तत्त्वार्थ भा० १.३५।

[२९] तत्त्वार्थ भा० १.१।

[३०] तत्त्वार्थ भा० २.४६।

है, कि केवलज्ञान के समय अन्य चार ज्ञान होते हैं, कि नहीं? इस विषय को लेकर आचार्यों में मतभेद था। कुछ आचार्यों का कहना था कि केवलज्ञान के होने पर मत्यादि का अभाव नहीं हो जाता, किन्तु अभिभव हो जाता है, जैसे सूर्य के उदय से चन्द्र नक्षत्रादि का अभिभव हो जाता है। इस मत को अमान्य करके वाचक ने कह दिया है कि—"**क्षयोपशमजानि चत्वारि ज्ञानानि पूर्वाणि, क्षयादेव केवलम्। तस्मान्न केवलिनः शेषाणि ज्ञानानि भवन्ति।" तत्त्वार्थ भाष्य १,३१**। उनके इस अभिप्राय को आगे के सभी जैन दार्शनिकों ने मान्य रखा है।

एकाधिक ज्ञानों का व्यापार एक साथ हो सकता है कि नहीं? इस प्रश्न का उत्तर दिया है, कि प्रथम के मत्यादि चार ज्ञानों का व्यापार (उपयोग) क्रमशः होता है। किन्तु केवल ज्ञान और केवल दर्शन का व्यापार युगपत् ही होता है[31]। इस विषय को लेकर जैन दार्शनिकों में काफी मतभेद हो गया है[32]।

मति-श्रुत का विवेक :

नन्दीसूत्रकार का अभिप्राय है कि मति और श्रुत अन्योन्यानुगत-अविभाज्य हैं अर्थात् जहाँ मतिज्ञान होता है, वहाँ श्रुतज्ञान, और जहाँ श्रुतज्ञान होता है, वहाँ मतिज्ञान होता ही है[33]। नन्दीकार ने किसी आचार्य का मत उद्धृत किया है कि—"**मइ पुव्वं जेण सुयं न मई सुयपुव्विया" (सू० २४)** अर्थात् श्रुत ज्ञान तो मतिपूर्वक है, किन्तु मति श्रुतपूर्वक नहीं। अतएव मति और श्रुत का भेद होना चाहिए। मति और श्रुतज्ञान की इस भेद-रेखा को[34] मानकर वाचक ने उसे और भी स्पष्ट किया कि—"**उत्पन्नाविनष्टार्थग्राहकं सांप्रतकालविषयं मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं तु त्रिकालविषयम्. उत्पन्नविनष्टानुत्पन्नार्थग्राहकमिति।" तत्त्वार्थ** भाष्य १,२०। इसी भेदरेखा को आचार्य जिनभद्र ने और भी पुष्ट किया है।

---

[31] तत्त्वार्थ भा० १.३१।

[32] ज्ञानबिन्दु—परिचय पृ० ५४।

[33] नन्दी सूत्र २४।

[34] "श्रुतं मतिपूर्वम्" तत्त्वार्थ १.२०। तत्त्वार्थभा० १.३१।

मतिज्ञान के भेद :

आगमों में मतिज्ञान को अवग्रहादि चार भेदों में या श्रुतनिश्रितादि दो भेदों में विभक्त किया गया है। तदनन्तर प्रभेदों की संख्या दी गई है। किन्तु वाचक ने मतिज्ञान के भेदों का क्रम कुछ बदल दिया है (१,१४ से)। मतिज्ञान के मौलिक भेदों को साधन भेद से वाचक ने विभक्त किया है। उनका क्रम निम्न प्रकार से है। एक बात का ध्यान रहे, कि इसमें स्थानांग और नन्दीगत अश्रुतनिःसृत और श्रुतनिःसृत ऐसे भेदों को स्थान नहीं मिला, किन्तु उस प्राचीन परम्परा का अनुसरण है, जिसमें मतिज्ञान के ऐसे भेद नहीं थे। दूसरा इस बात का भी ध्यान रखना आवश्यक है कि नन्दी आदि शास्त्रों में अवग्रहादि के बह्वादि प्रकार नहीं गिनाए हैं, जबकि तत्त्वार्थ में वे विद्यमान हैं। स्थानांगसूत्र के छठे स्थानक में (सू० ५१०) बह्वादि अवग्रहादि का परिगणन क्रमभेद से है[३५], किन्तु वहाँ तत्त्वार्थगत प्रतिपक्षी भेदों का उल्लेख नहीं। इससे पता चलता है, कि ज्ञानों के भेदों में बह्वादि अवग्रहादि के भेद की परम्परा प्राचीन नहीं।

मतिज्ञान के दो भेद :

१. इन्द्रियनिमित्त
२. अनिन्द्रियनिमित्त

मतिज्ञान के चार भेद :

१. अवग्रह
२. ईहा
३. अवाय
४. धारणा

मतिज्ञान के अट्ठाईस भेद :

इन्द्रियनिमित्तमतिज्ञान के चौबीस भेद :

---

[३५] स्थानांग का क्रम है—क्षिप्र, बहु, बहुविध, ध्रुव, अनिश्रित और असंदिग्ध तत्त्वार्थ का क्रम है—बहु, बहुविध क्षिप्र, अनिश्रित, असंदिग्ध और ध्रुव। दिगम्बर पाठ में असंदिग्ध के स्थान में अनुक्त है।

५ स्पर्शनेन्द्रियजन्य व्यंजनावग्रह
  अर्थावग्रह, ईहा, अवाय और धारणा
५ रसनेन्द्रियजन्य ,,
५ घ्राणेन्द्रियजन्य ,,
५ श्रोत्रेन्द्रियजन्य ,,
४ चक्षुरिन्द्रियजन्य अर्थावग्रहादि
४ अनिन्द्रियजन्य अर्थावग्रहादि

मतिज्ञान के एक-सौ अड़सठ भेद :

उक्त अठाईस भेद के प्रत्येक के १. वहु, २. वहुविध, ३. क्षिप्र, ४. अनिश्रित, ५. असंदिग्ध और ६. ध्रुव ये छह भेद करने से २८×६=१६८ भेद होते हैं।

मतिज्ञान के तीन-सौ छत्तीस भेद :

उक्त २८ भेद के प्रत्येक के—१. वहु, २. अल्प, ३. बहुविध ४. अल्पविध, ५. क्षिप्र, ६. अक्षिप्र, ७. अनिश्रित, ८. निश्रित, ९. असंदिग्ध, १०. संदिग्ध, ११. ध्रुव और १२. अध्रुव ये बाहर भेद करने से २८×१२=३३६ होते हैं।

मतिज्ञान के ३३६ भेद के अतिरिक्त वाचक ने प्रथम १६८ जो भेद दिए है, उसमें स्थानांगनिर्दिष्ट अवग्रहादि के प्रतिपक्ष-रहित छही भेद मानने की परम्परा कारण हो सकता है। अन्यथा वाचक के मत से जब अवग्रहादि बह्वादि से इतर होते हैं तो १६८ भेद नहीं हो सकते। २८ के बाद ३३६ ही को स्थान मिलना चाहिए।

इससे हम कह सकते हैं, कि प्रथम अवग्रहादि के बह्वादि भेद नहीं किए जाते थे। जब से किए जाने लगे, केवल छह ही भेदों ने सर्व प्रथम स्थान पाया और वाद में १२ भेदों ने।

अवग्रहादि के लक्षण और पर्याय :

नन्दीसूत्र में मतिज्ञान के अवग्रहादि भेदों का लक्षण तो नहीं किया गया, किन्तु उनका स्वरूपबोध पर्यायवाचक शब्दों के द्वारा और

दृष्टान्त द्वारा कराया गया है। वाचक ने अवग्रहादि मतिभेदों का लक्षण कर दिया है और पर्यायवाचक शब्द भी दे दिए हैं। ये पर्यायवाचक शब्द एक ही अर्थ के बोधक हैं, या नाना अर्थ के ? इस विषय को लेकर टीकाकारों में विवाद हुआ है। उसका मूल यही मालूम होता है, कि मूलकार ने पर्यायों का संग्रह करने में दो बातों का ध्यान रखा है। वे ये हैं—समानार्थक शब्दों का संग्रह करना और सजातीय ज्ञानों का संग्रह करने के लिए तद्वाचक शब्दों का संग्रह भी करना। अर्थ-पर्याय और व्यञ्जन-पर्याय दोनों का संग्रह किया गया है।

यहाँ नन्दी और उमास्वाति के पर्याय शब्दों का तुलनात्मक कोष्ठक देना उपयुक्त होगा—

विना यं लोकानामपि न घटते संव्यवहृतिः,
समर्था नैवार्थानधिगमयितुं शब्द-रचना।
वितण्डा चण्डाली स्पृशति च विवाद-व्यसनिनं,
नमस्तस्मै कस्मैचिदनिशमनेकान्त-महसे ॥

—अनेकान्त-व्यवस्था

मतिज्ञान		अवग्रह		ईहा		अवाय		धारणा	
नन्दी	तत्त्वार्थ	नन्दी	तत्त्वार्थ	नन्दी	तत्त्वार्थ	नन्दी	तत्त्वार्थ	नन्दी	तत्त्वार्थ
आभिनिबोधिक	,,	अवग्रह	,,			अवाय	×	धारणा	,,
ईहा	×	अवग्रहणता	ग्रहण	ईहा	,,	आवर्तनता	×	धारणा	×
अपोह	×	उपधारणता	अवधारण	आभोगनता	×	प्रत्यावर्तनता	×	स्थापना	×
विमर्श	×	श्रवणता	×	विमर्श	×	अपाय	अपाय	प्रतिष्ठा	×
मार्गणा	×	अवलम्बनता	×	मार्गणा	×	बुद्धि	×	कोष्ठ	×
गवेषणा	×	मेधा	×	गवेषणा	×	विज्ञान	×	×	प्रतिपत्ति
संज्ञा	,,	×	आलोचन	चिंता	×	×	अपगम	×	अवधारण
स्मृति	,,			×	ऊहा	×	अपनोद	×	अवस्थान
मति	,,			×	तर्क	×	अपव्याध	×	निश्चय
प्रज्ञा	×			×	परीक्षा	×	अपेत	×	अवगम
×	चिंता			×	विचारणा	×	अपगत	×	अवबोध
				×	जिज्ञासा	×	अपविद्ध		
							अपनुत्त		

नय-निरूपण :

वाचक उमास्वाति ने कहा है, कि नाम आदि निक्षेपों से न्यस्त जीव आदि तत्त्वों का अधिगम प्रमाण और नय से करना चाहिए[३६]। इस प्रकार हम देखते हैं कि निक्षेप, प्रमाण और नय मुख्यतः इन तीनों का उपयोग तत्त्व के अधिगम में है। यही कारण है कि सिद्धसेन आदि सभी दार्शनिकों ने उपायतत्त्व के निरूपण में प्रमाण, नय और निक्षेप का विचार किया है।

अनुयोग के मूलद्वार उपक्रम, निक्षेप अनुगम और नय ये चार हैं[३७]। इनमें से दार्शनिक युग में प्रमाण, नय और निक्षेप ही का विवेचन मिलता है। नय और निक्षेप ने तो अनुयोग के मूल द्वार में स्थान पाया है, पर प्रमाण स्वतन्त्र द्वार न होकर, उपक्रम द्वार के प्रभेद रूप से आया है[३८]।

अनुयोगद्वार के मत से भावप्रमाण तीन प्रकार का है—गुणप्रमाण (प्रत्यक्षादि), नयप्रमाण और संख्याप्रमाण[३९]। अतएव तत्त्वतः देखा जाए, तो नय और प्रमाण की प्रकृति एक ही है। प्रमाण और नय का तात्त्विक भेद नहीं है। दोनों वस्तु के अधिगम के उपाय हैं। किन्तु प्रमाण अखण्ड वस्तु के अधिगम का उपाय है और नय वस्त्वंश के अधिगम का। इसी भेद को लक्ष्य करके जैनशास्त्रों में प्रमाण से नय का पार्थक्य मानकर दोनों का स्वतन्त्र विवेचन किया जाता है[४०]। यही कारण है, कि वाचक ने भी 'प्रमाणनयैरधिगमः (१.६) इस सूत्र में प्रमाण से नय का पृथक्उपादान किया है।

---

[३६] "एषां च जीवादितत्त्वानां यथोद्दिष्टानां नामादिभिर्न्यस्तानां प्रमाणनयैरधिगमो भवति।" तत्त्वार्थ भा० १.६

[३७] अनुयोगद्वार सू० ५९।

[३८] अनुयोग द्वार सू० ७०

[३९] अनुयोगद्वार सू० १४६।

[४०] तत्त्वार्थभा० टीका० १.६।

नय-संख्या :

तत्त्वार्थ सूत्र के स्वोपज्ञभाष्य-संमत और तदनुसारी टीका-संमत पाठ के आधार पर यह सिद्ध है, कि वाचक ने पाँच मूल नय माने हैं[४१] "नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दा नयाः" (१.३४)। यह ठीक है, कि आगम में स्पष्टरूप से पांच नहीं, किन्तु सात मूल नयों का उल्लेख है[४२]। किन्तु अनुयोग में शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत की सामान्य संज्ञा शब्दनय दी गई है—"तिण्हं सद्दनयाणं" (सू० १४८,१५१)। अतएव वाचक ने अंतिम तीनों को शब्द सामान्य के अन्तर्गत करके मूल नयों की पांच संख्या बतलाई है, सो अनागमिक नहीं।

दार्शनिकों ने जो नयों के अर्थ-नय और शब्द-नय[४३] ऐसे दो विभाग किए हैं, उसका मूल भी इस तरह से आगम जितना पुराना है, क्योंकि आगम में जब अंतिम तीनों को शब्द-नय कहा, तब अर्थात् सिद्ध हो जाता है, कि प्रारम्भ के चार अर्थ-नय हैं।

वाचक ने शब्द के तीन भेद किए हैं—सांप्रत, समभिरूढ़ और एवंभूत। प्रतीत होता है, कि शब्द सामान्य से विशेष शब्द नय को पृथक् करने के लिए वाचक ने उसका सार्थक नाम सांप्रत रखा है।

नय का लक्षण :

अनुयोगद्वार सूत्र में नय-विवेचन दो स्थान पर आया है। अनुयोग का प्रथम मूल द्वार उपक्रम है। उसके प्रभेद रूप से नय-प्रमाण का विवेचन किया गया है, तथा अनुयोग के चतुर्थ मूलद्वार नय में भी नय-वर्णन है। नय-प्रमाण वर्णन तीन दृष्टान्तों द्वारा किया गया है—प्रस्थक,

---

[४१] दिगम्बर पाठ के अनुसार सूत्र ऐसा है—"नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूता नयाः।"

[४२] अनुयोगद्वार सू० १५६। स्थानांग सू० ५२२।

[४३] प्रमाण न० ७.४४,४५।

वसति[४४] और प्रदेश (अनुयोग सू० १४८)। किन्तु यहाँ नयों का लक्षण नहीं किया गया। मूल नयद्वार के प्रसंग में सूत्रकार ने नयों का लक्षण किया है। सामान्य-नय का नहीं।

उन लक्षणों में भी अधिकांश नयों के लक्षण निरुक्ति का आश्रय लेकर किए गए हैं। सूत्रकार ने सूत्रों की रचना गद्य में की है, किन्तु नयों के लक्षण गाथा में दिए हैं। प्रतीत होता है, कि अनुयोग से भी प्राचीन किसी आचार्य ने नय-लक्षण की गाथाओं की रचना की होगी। जिनका संग्रह अनुयोग के कर्त्ता ने किया है।

वाचक ने नय का पदार्थ-निरूपण निरुक्ति और पर्याय का आश्रय लेकर किया है—

"जीवादीन् पदार्थान् नयन्ति प्राप्नुवन्ति कारयन्ति साधयन्ति निर्वर्तयन्ति निर्भासयन्ति उपलम्भयन्ति व्यञ्जयन्ति इति नयाः।" (१·३५)

जीव आदि पदार्थों का जो बोध कराए, वह नय है।

वाचक ने आगमिक उक्त तीन दृष्टान्तों को छोड़कर घट के दृष्टान्त से प्रत्येक नय का स्वरूप स्पष्ट किया है। इतना ही नहीं, बल्कि आगम में जो नाना पदार्थों में नयावतारणा की गई है, उसमें प्रवेश कराने की दृष्टि से जीव, नोजीव, अजीव, नोअजीव इन शब्दों का प्रत्येक नय की दृष्टि में क्या अर्थ है, तथा किस नय की दृष्टि से कितने ज्ञान अज्ञान होते हैं, इसका भी निरूपण किया है।

नूतन चिन्तन :

नयों के लक्षण में अधिक स्पष्टता और विकास तत्त्वार्थ में है, यह तो अनुयोग और तत्त्वार्थगत नयों के लक्षणों की तुलना करने वाले से छिपा नहीं रहता। किन्तु वाचक ने नय के विषय में जो विशेष विचार उपस्थित किया, जो संभवतः आगमकाल में नहीं हुआ था, वह

---

[४४] प्रो० चक्रवर्ती ने स्याद्वादमंजरीगत (का० २८) निलयन दृष्टान्त का अर्थ किया है—House-uillding (पंचास्तिकाय प्रस्तावना पृ० ५५) किन्तु उसका 'वसति' से मतलब है। और उसका विवरण जो अनुयोग में है, उससे स्पष्ट है कि प्रो० चक्रवर्ती का अर्थ भ्रान्त है।

तो यह है, कि क्या नय वस्तुतः किसी एक तत्त्व के विषय में तन्त्रान्तरीयों के नाना मतवाद हैं, या जैनाचार्यों के ही पारस्परिक मतभेद को व्यक्त करते हैं[४५] ?

इस प्रश्न के उत्तर से ही नय का स्वरूप वस्तुतः क्या है, या वाचक के समयपर्यन्त नय-विचार की व्याप्ति कहाँ तक थी ? इसका पता लगता है। वाचक ने कहा है, कि नयवाद यह तन्त्रान्तरीयों का वाद नहीं है और न जैनाचार्यों का पारस्परिक मतभेद। किन्तु वह तो **"ज्ञेयस्य तु अर्थस्याध्यवसायान्तराणि एतानि।"** (१,३५) है। ज्ञेय पदार्थ के नाना अध्यवसाय हैं। एक ही अर्थ के विषय में भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से होने वाले नाना प्रकार के निर्णय हैं। ऐसे नाना निर्णय नय-भेद से किस प्रकार होते हैं, इसे दृष्टान्त से वाचक ने स्पष्ट किया है।

एक ही अर्थ के विषय में ऐसे अनेक विरोधी निर्णय होने पर क्या विप्रतिपत्ति का प्रसंग नहीं होगा ? ऐसा प्रश्न उठाकर अनेकान्तवाद के आश्रय से उन्होंने जो उत्तर दिया है, उसी में से विरोध के शमन या समन्वय का मार्ग निकल आता है। उनका कहना है, कि एक ही लोक को महासामान्य सत् की अपेक्षा से एक; जीव और अजीव के भेद से दो; द्रव्य गुण और पर्याय के भेद से तीन; चतुर्विध दर्शन का विषय होने से चार; पांच अस्तिकाय की अपेक्षा से पांच; छह द्रव्यों की अपेक्षा से छह कहा जाता है। जिस प्रकार एक ही लोक के विषय में अपेक्षा भेद से ऐसे नाना निर्णय होने पर भी विवाद को कोई स्थान नहीं, उसी प्रकार नयाश्रित नाना अध्यवसायों में भी विवाद को अवकाश नहीं है—

"यथैता न विप्रतिपत्तयोऽथ चाध्यवसायस्थानान्तराणि एतानि, तद्वन्नयवादाः।" १,३५।

धर्मास्तिकाय आदि किसी एक तत्त्व के बोध-प्रकार मत्यादि के भेद से भिन्न होते हैं। एक ही वस्तु प्रत्यक्षादि चार प्रमाणों के द्वारा

---

[४५] **"किमेते तन्त्रान्तरीया वादिन, आहोस्वित् स्वतन्त्रा एव चोदकपक्षग्राहिणो मतिभेदेन विप्रधाविता इति।"** १,३५।

भिन्न-भिन्न प्रकार से जानी जाती है। इसमें यदि विवाद को अनवकाश है, तो नयवाद में भी विवाद नहीं हो सकता है। यह भी वाचक ने प्रतिपादन किया है—(१.३५)

वाचक के इस मन्तव्य की तुलना न्यायभाष्य के निम्न मन्तव्य से करना चाहिए। न्यायसूत्रगत—**संख्यैकान्तासिद्धिः'** (४. १, ४१) की व्याख्या करते समय भाष्यकार ने संख्यैकान्तों का निर्देश किया है और बताया है, कि ये सभी संख्याएँ सच हो सकती हैं, किसी एक संख्या का एकान्त युक्त नहीं[४६]—**"अथेमे संख्यैकान्ताः सर्वमेकं सदविशेषात्। सर्वं द्वेधा नित्यानित्यभेदात्। सर्वं त्रेधा ज्ञाता ज्ञानं ज्ञेयमिति। सर्वं चतुर्धा प्रमाता प्रमाणं प्रमेयं प्रमितिरिति। एवं यथासंभवमन्येऽपि इति।" न्यायभा० ४.१.४१.।**

वाचक के इस स्पष्टीकरण में अनेक नये वादों का वीज है—जैसे ज्ञानभेद से अर्थभेद है या नहीं? प्रमाण-संप्लव मानना योग्य है, या विप्लव? धर्मभेद से धर्मिभेद है या नहीं? सुनय और दुर्णय का भेद, आदि। इन वादों के विषय में वाद के जैन दार्शनिकों ने विस्तार से चर्चा की है।

वाचक के कई मन्तव्य ऐसे हैं, जो दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों संप्रदायों के अनुकूल नहीं। उनकी चर्चा पण्डित श्री सुखलालजी ने तत्त्वार्थ सूत्र के परिचय में की है। अतएव उस विषय में यहाँ विस्तार करना अनावश्यक है। उन्हीं मन्तव्यों के आधार पर वाचक की परम्परा का निर्णय होता है, कि वे यापनीय थे। उन मन्तव्यों में दार्शनिक दृष्टि से कोई महत्त्व का नहीं है। अतएव उनका वर्णन करना, यहाँ प्रस्तुत भी नहीं है।

---

[४६] "ते खल्विमे संख्यैकान्ता यदि विशेषकारितस्य अर्थभेदविस्तारस्य प्रत्याख्यानेन वर्तन्ते, प्रत्यक्षानुमानागमविरोधान्मिथ्यावादा भवन्ति। अथाभ्यनुज्ञानेन वर्तन्ते समानधर्मकारितोऽर्थसंग्रहो विशेषकारितश्च अर्थभेद इति एवं एकान्तत्वं जहतीति।" न्यायभा० ४.१.४३.

आचार्य कुन्दकुन्द की जैन-दर्शन को देन :

वाचक उमास्वाति ने जैन आगमिक तत्त्वों का निरूपण संस्कृत भाषा में सर्वप्रथम किया है, तो आचार्य कुन्दकुन्द ने आगमिक पदार्थों की दार्शनिक दृष्टि से तार्किक चर्चा प्राकृत भाषा में सर्वप्रथम की है, ऐसा उपलब्ध साहित्य-सामग्री के आधार पर कहा जा सकता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने जैन-तत्त्वों का निरूपण वाचक उमास्वाति की तरह मुख्यतः आगम के आधार पर नहीं, किन्तु तत्कालीन दार्शनिक विचार-धाराओं के प्रकाश में आगमिक तत्त्वों को स्पष्ट किया है, इतना ही नहीं, किन्तु अन्य दर्शनों के मन्तव्यों का यत्र-तत्र निरास करके जैन मन्तव्यों की निर्दोषता और उपादेयता भी सिद्ध की है।

वाचक उमास्वाति के तत्त्वार्थ की रचना का प्रयोजन मुख्यतः संस्कृत भाषा में सूत्र-शैली के ग्रन्थ की आवश्यकता की पूर्ति करना था। तब आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की रचना का प्रयोजन कुछ दूसरा ही था। उनके सामने तो एक महान् ध्येय था। दिगम्बर संप्रदाय की उपलब्ध जैन आगमों के प्रति अरुचि बढ़ती जा रही थी। किन्तु जब तक ऐसा ही दूसरा साधन आध्यात्मिक भूख को मिटाने वाला उपस्थित न हो, तब तक प्राचीन जैन आगमों का सर्वथा त्याग संभव न था। आगमों का त्याग अनेक कारणों[४७] से करना आवश्यक हो गया था, किन्तु दूसरे प्रबल समर्थ साधन के अभाव में वह पूर्ण रूप से शक्य न था। इसी को लक्ष्य में रख कर आचार्य कुन्दकुन्द ने दिगम्बर संप्रदाय की आध्यात्मिक भूख की मांग के लिए अपने अनेक ग्रन्थों की प्राकृत भाषा में रचना की। यही कारण है, कि आचार्य कुन्दकुन्द के विविध ग्रन्थों में ज्ञान, दर्शन और चारित्र का निरूपण प्राचीन आगमिक शैली में और आगमिक भाषा में पुनरुक्ति का दोष स्वीकार करके भी विविध प्रकार से हुआ है। उनको तो एक-एक विषय का निरूपण करने वाले स्वतन्त्र ग्रन्थ बनाना अभिप्रेत था और समग्र विषयों की संक्षिप्त संकलना करने वाले ग्रन्थ

---

[४७] विशेष रूप से वस्त्रधारण, केवली-कवलाहार और स्त्री-मुक्ति आदि के उल्लेख जैन आगमों में थे, जो दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुकूल न थे।

बनाना भी अभिप्रेत था। इतना ही नहीं, किन्तु आगम के मुख्य विषयों का यथाशक्य तत्कालीन दार्शनिक प्रकाश में निरूपण भी करना था, जिससे जिज्ञासु की श्रद्धा और बुद्धि दोनों को पर्याप्त मात्रा में संतोष मिल सके।

आचार्य कुन्दकुन्द के समय में अद्वैतवादों की बाढ़-सी आगई थी। औपनिषद ब्रह्माद्वैत के अतिरिक्त शून्याद्वैत और विज्ञानाद्वैत जैसे वाद भी दार्शनिकों में प्रतिष्ठित हो चुके थे। तार्किक और श्रद्धालु दोनों के ऊपर उन अद्वैतवादों का प्रभाव सहज ही में जम जाता था। अतएव ऐसे विरोधी वादों के बीच जैनों के द्वैतवाद की रक्षा करना कठिन था। इसी आवश्यकता में से आचार्य कुन्दकुन्द के निश्चय-प्रधान अध्यात्मवाद का जन्म हुआ है। जैन आगमों में निश्चय नय प्रसिद्ध था ही, और निक्षेपों में भावनिक्षेप भी विद्यमान था। भावनिक्षेप की प्रधानता से निश्चयनय का आश्रय लेकर, जैन तत्त्वों के निरूपण द्वारा आचार्य कुन्दकुन्द ने जैन दर्शन को दार्शनिकों के सामने एक नये रूप में उपस्थित किया। ऐसा करने से वेदान्त का अद्वैतानन्द साधकों को और तत्त्वजिज्ञासुओं को जैन दर्शन में ही मिल गया। निश्चयनय और भावनिक्षेप का आश्रय लेने पर द्रव्य और पर्याय, द्रव्य और गुण, धर्म और धर्मी, अवयव और अवयवी इत्यादि का भेद मिटकर अभेद हो जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द को इसी अभेद का निरूपण परिस्थितिवश करना था? अतएव उनके ग्रन्थों में निश्चय प्रधान वर्णन हुआ है और नैश्चयिक आत्मा के वर्णन में ब्रह्मवाद के समीप जैन आत्मवाद पहुँच गया है। आचार्य कुन्दकुन्द-कृत ग्रन्थों के अध्ययन के समय उनकी इस निश्चय और भावनिक्षेप प्रधान दृष्टि को सामने रखने से अनेक गुत्थियाँ सुलझ सकती हैं और आचार्य कुन्दकुन्द का तात्पर्य सहज ही में प्राप्त हो सकता है।

अब हम आचार्य कुन्दकुन्द के द्वारा चर्चित कुछ विषयों का निर्देश करते हैं। क्रम प्रायः वही रखा है, जो उमास्वाति की चर्चा में अपनाया है। इससे दोनों की तुलना भी हो जाएगी और दार्शनिक-विकास का क्रम भी ध्यान में आ सकेगा।

प्रमेय-निरूपण :

वाचक की तरह आचार्य कुन्दकुन्द भी तत्त्व, अर्थ, पदार्थ और तत्त्वार्थ इन शब्दों को एकार्थक मानते हैं[४८]। किन्तु वाचक ने तत्त्वों के विभाजन के अनेक प्रकारों में से सात तत्त्वों[४९] को ही सम्यग्दर्शन के विषयभूत माने हैं, जबकि आचार्य कुन्दकुन्द ने स्वसमयप्रसिद्ध सभी विभाजन प्रकारों को एक साथ सम्यग्दर्शन के विषयरूप से बता दिया है।[५०] उनका कहना है, कि षड् द्रव्य, नव पदार्थ, पंच अस्तिकाय और सात तत्त्व इनकी श्रद्धा करने से जीव सम्यग्दृष्टि होता है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने इन सभी प्रकारों के अलावा अपनी ओर से एक विभाजन का नया प्रकार का भी प्रचलित किया। वैशेषिकोंने द्रव्य, गुण और कर्म को ही अर्थ संज्ञा दी थी (८.२.३)। इसके स्थान में आचार्य ने कह दिया, कि अर्थ तो द्रव्य, गुण और पर्याय ये तीन हैं।[५१] वाचक ने जीव आदि सातों तत्त्वों को अर्थ[५२] कहा है, जबकि आचार्य कुन्दकुन्द ने स्वतन्त्र दृष्टि से उपर्युक्त परिवर्धन भी किया है। जैसा मैंने पहले बताया है, जैन आगमों में द्रव्य, गुण और पर्याय तो प्रसिद्ध ही थे। किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द ही प्रथम हैं, जिन्होंने उनको वैशेषिक दर्शनप्रसिद्ध अर्थ-संज्ञा दी।

आचार्य कुन्दकुन्द का यह कार्य दार्शनिक दृष्टि से हुआ है, यह स्पष्ट है। विभाग का अर्थ ही यह, है कि जिसमें एक वर्ग के पदार्थ दूसरे वर्ग में समाविष्ट न हों तथा विभाज्य यावत् पदार्थों का किसी न किसी वर्ग में समावेश भी हो जाए। इसीलिए आचार्य कुन्दकुन्द ने जैनशास्त्र-प्रसिद्ध अन्य विभाग प्रकारों के अलावा इस नये प्रकार से भी तात्त्विक विवेचना करना उचित समझा है।

---

[४८] पंचास्तिकाय गा० ११२, ११६। नियमसार गा० १९। दर्शनप्राभृत गा० १९।

[४९] तत्त्वार्थ सूत्र १.४।

[५०] "छद्दव्व णव पयत्था पंचत्थी, सत्त तच्च णिद्दिट्ठा। सद्दहइ ताण रूवं सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो॥" दर्शनप्रा० १९।

[५१] प्रवचनसार १.८७।

[५२] "तत्त्वानि जीवादीनि वक्ष्यन्ते। त एव चार्थाः।" तत्त्वार्थभा, १.२।

आचार्य कुन्दकुन्द को परमसंग्रहावलम्बी अभेदवाद का समर्थन करना भी इष्ट था। अतएव द्रव्य, पर्याय और गुण इन तीनों की अर्थ संज्ञा के अलावा उन्होंने केवल द्रव्य की भी अर्थ संज्ञा रखी है और गुण तथा पर्याय को द्रव्य में ही समाविष्ट कर दिया है।[५३]

अनेकान्तवाद :

आचार्य ने आगमोपलब्ध अनेकान्तवाद को और स्पष्ट किया है और प्रायः उन्हीं विषयों की चर्चा की है, जो आगम काल में चर्चित थे। विशेषता यह है, कि उन्होंने अधिक भार व्यवहार और निश्चयावलम्बी पृथक्करण के ऊपर ही दिया है। उदाहरण के लिए आगम में जहाँ द्रव्य और पर्याय का भेद और अभेद माना गया है, वहाँ आचार्य स्पष्टीकरण करते हैं कि द्रव्य और पर्याय का भेद व्यवहार के आश्रय से है, जबकि निश्चय से दोनों का अभेद है।[५४] आगम में वर्णादि का सद्भाव और असद्भाव आत्मा में माना है, उसका स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य कहते हैं, कि व्यवहार से तो ये सब आत्मा में हैं, निश्चय से नहीं हैं[५५]। आगम में शरीर और आत्मा का भेद और अभेद माना गया है। इस विषय में आचार्य ने कहा है कि देह और आत्मा का ऐक्य यह व्यवहार-नय का वक्तव्य है और दोनों का भेद यह निश्चय नय का वक्तव्य है।[५६]

द्रव्य का स्वरूप :

वाचक के 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्' 'गुणपर्यायवद्द्रव्यम्' और 'तद्भावाव्ययं नित्यम्' इन तीन सूत्रों (५.२९,३०,३७) का सम्मिलित अर्थ आचार्य कुन्दकुन्द के द्रव्य लक्षण में है।

> 'अपरिचत्तसहावेणुप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं।
> गुणवं सपज्जायं जं तं दव्वंति वुच्चंति॥"
>
> —प्रवचन० २.३

---

[५३] प्रवचन० २,१. । २.९ से।

[५४] समयसार ७ इत्यादि।

[५५] समयसार ६१ से।

[५६] समयसार ३१, ६६।

द्रव्य ही जब सत् है, तो सत् और द्रव्य के लक्षण में भेद नहीं होना चाहिए। इसी अभिप्राय से 'सत्' लक्षण और 'द्रव्य' लक्षण अलग अलग न करके एक ही द्रव्य के लक्षण रूप से दोनों लक्षणों का समन्वय आचार्य कुन्दकुन्द ने कर दिया है।[५७]

सत्, द्रव्य, सत्ता :

द्रव्य के उक्त लक्षण में जो यह कहा गया है, कि 'द्रव्य अपने स्वभाव का परित्याग नहीं करता' वह **'तद्भावाव्ययं नित्यम्'** को लक्ष्य करके है। द्रव्य का यह भाव या स्वभाव क्या है, जो त्रैकालिक है ? इस प्रश्न का उत्तर आचार्य कुन्दकुन्द ने दिया, कि **'सब्भावो हि सभावो··· दव्वस्स सव्वकालं'** (प्रवचन० २.४) तीनों काल में द्रव्य का जो सद्भाव है, अस्तित्व है, सत्ता है, वही स्वभाव है। हो सकता है, कि यह सत्ता कभी किसी गुण रूप से, कभी किसी पर्याय रूप से, उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप से उपलब्ध हो[५८]।

यह भी माना कि इन सभी में अपने अपने विशेष लक्षण हैं, तथापि उन सभी का सर्वगत एक लक्षण 'सत्' है ही[५९], इस बात को स्वीकार करना ही चाहिए। यही 'सत्' द्रव्य का स्वभाव है। अतएव द्रव्य को स्वभाव से सत् मानना चाहिए।[६०]

यदि वैशेषिकों के समान द्रव्य को स्वभाव से सत् न मानकर द्रव्यवृत्ति सत्तासामान्य के कारण सत् माना जाए, तब स्वयं द्रव्य असत् हो जाएगा, या सत् से अन्य हो जाएगा। अतएव द्रव्य स्वयं सत्ता है, ऐसा ही मानना चाहिए।[६१]

---

[५७] वाचक के दोनों लक्षणों को विकल्प से भी द्रव्य के लक्षणरूप से आचार्य कुन्दकुन्द ने निर्दिष्ट किया है-पंचास्ति० १०।

[५८] 'गुणेहिं सहपज्जवेहिं चित्तेहिं····उप्पादव्वयधुवत्तेहिं' प्रवचन० २.४।

[५९] प्रवचन० २.५।

[६०] वही २.६।

[६१] प्रवचन० २.१३। २.१८। १.६१।

यही द्रव्य सत्ता एवं परमतत्त्व है। नाना देश और काल में इसी परमतत्त्व का विस्तार है। जिन्हें हम द्रव्य, गुण या पर्याय के नाम से जानते हैं[६२]। वस्तुतः द्रव्य के अभाव में गुण या पर्याय तो होते ही नहीं[६३]। यही द्रव्य क्रमशः नाना गुणों में या पर्यायों में परिणत होता रहता है। अतएव वस्तुतः गुण और पर्याय द्रव्य से अनन्य है—द्रव्य रूप ही हैं[६४]। अतः परमतत्त्व सत्ता को द्रव्यरूप ही मानना[६५] उचित है।

आगमों में भी द्रव्य और गुण-पर्याय के अभेद का कथन मिलता है, किन्तु अभेद होते हुए भी भेद क्यों प्रतिभासित होता है? इसका स्पष्टीकरण जिस ढंग से आचार्य कुन्दकुन्द ने किया, वह उनके दार्शनिक अध्यवसाय का फल है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने अर्थ को परिणमनशील बताया है। परिणाम और अर्थ का तादात्म्य माना है। उनका कहना है, कि कोई भी परिणाम द्रव्य के बिना नहीं, और कोई द्रव्य परिणाम के बिना नहीं[६६]। जिस समय द्रव्य जिस परिणाम को प्राप्त करता है, उस समय वह द्रव्य तन्मय होता है[६७]। इस प्रकार द्रव्य और परिणाम का अविनाभाव बता कर दोनों का तादात्म्य सिद्ध किया है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने परमतत्त्व सत्ता का स्वरूप बताया है कि—(पंचा० ८)

"सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूवा अणंतपज्जया।
भंगुप्पादधुवत्ता सपडिवक्खा हवदि एक्का।"

द्रव्य, गुण और पर्याय का सम्बन्ध :

संसार के सभी अर्थों का समावेश आचार्य कुन्दकुन्द के मत से

[६२] प्रवचन० २.१५।
[६३] प्रवचन २.१८।
[६४] समयसार ३३६।
[६५] प्रवचन० २.११,१२। पंचा० ६।
[६६] प्रवचन० १.१०।
[६७] प्रवचन० १.८।

द्रव्य, गुण और पर्याय में हो जाता है[६८]। इन तीनों का परस्पर सम्बन्ध क्या है ? वाचक ने कहा है, कि द्रव्य के या द्रव्य में गुणपर्याय होते हैं (तत्त्वार्थ भाष्य ५,३७)। अतएव प्रश्न होता है, कि यहाँ द्रव्य और गुणपर्याय का कुण्डवदरवत् आधाराधेय सम्बन्ध है, या दंड-दंडीवत् स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध है ? या वैशेषिकों के समान समवाय सम्बन्ध है ? वाचक ने इस विषय में स्पष्टीकरण नहीं किया।

आचार्य कुन्दकुन्द ने इसका स्पष्टीकरण करने के लिए प्रथम तो पृथक्त्व और अन्यत्व की व्याख्या की है—

"पविभत्तपदेसत्तं पुधत्तमिदि सासणं हि वीरस्स।
अण्णत्तमतब्भावो ण तब्भवं होदि कथमेगं॥"
—प्रवचन० २.१४

जिन दो वस्तुओं के प्रदेश भिन्न होते हैं, वे पृथक् कही जाती हैं। किन्तु जिनमें अतद्भाव होता है, अर्थात् वह यह नहीं है, ऐसा प्रत्यय होता है, वे अन्य कही जाती हैं।

द्रव्य, गुण और पर्याय में प्रदेश-भेद तो नहीं हैं। अतएव वे पृथक् नहीं कहे जा सकते, किन्तु अन्य तो कहे जा सकते हैं, क्योंकि 'जो द्रव्य है वह गुण नहीं' तथा 'जो गुण है वह द्रव्य नहीं' ऐसा प्रत्यय होता है[६९]। इसी का विशेष स्पष्टीकरण उन्होंने यों किया है, कि यह कोई नियम नहीं है, कि जहाँ अत्यन्त भेद हो, वहीं अन्यत्व का व्यवहार हो। अभिन्न में भी व्यपदेश, संस्थान, संख्या और विषय के कारण भेदज्ञान हो सकता है[७०]। और समर्थन किया है कि द्रव्य और गुण-पर्याय में भेद व्यवहार होने पर भी वस्तुतः भेद नहीं। दृष्टांत देकर इस बात को समझाया है कि स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध सम्बन्धियों के पृथक् होने पर भी हो सकता है और एक होने पर भी हो सकता है। जैसे धन और धनी में तथा ज्ञान और

---

[६८] प्रवचन० १.८७।
[६९] प्रवचन० २.१६।
[७०] पंचास्तिकाय ५२।

ज्ञानी में[७१]। ज्ञानी से ज्ञानगुण को, धनी से धन के समान, अत्यन्त भिन्न नहीं माना जा सकता। क्योंकि ज्ञान और ज्ञानी अत्यन्त भिन्न हों, तो ज्ञान और ज्ञानी–आत्मा ये दोनों अचेतन हो जाएँगे[७२]। आत्मा और ज्ञान में समवाय सम्बन्ध मानकर वैशेषिकों ने आत्मा को ज्ञानी माना है। किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है, कि ज्ञान के समवाय सम्बन्ध के कारण भी आत्मा ज्ञानी नहीं हो सकता[७३]। किन्तु गुण और द्रव्य को अपृथग्भूत अयुतसिद्ध ही मानना चाहिए[७४]। आचार्य ने वैशेषिकों के समवाय[७५]लक्षण-गत अयुतसिद्ध शब्द को स्वाभिप्रेत अर्थ में घटाया है। क्योंकि वैशेषिकों ने अयुतसिद्ध में समवाय मानकर भेद माना है, जबकि आचार्य कुन्दकुन्द ने अयुतसिद्ध में तादात्म्य माना है। आचार्य ने स्पष्ट कहा है, कि दर्शन-ज्ञान गुण आत्मा से स्वभावतः भिन्न नहीं, किन्तु व्यपदेश भेद के कारण पृथक् (अन्य) कहे जाते हैं[७६]।

इसी अभेद को उन्होंने अविनाभाव सम्बन्ध के द्वारा भी व्यक्त किया है। वाचक ने इतना तो कहा है, कि गुण-पर्याय वियुक्त द्रव्य नहीं होता। उसी सिद्धान्त को आचार्य कुन्दकुन्द ने पल्लवित करके कहा है कि द्रव्य के बिना पर्याय नहीं और पर्याय के बिना द्रव्य नहीं, तथा गुण के बिना द्रव्य नहीं और द्रव्य के बिना गुण नहीं। भाव–वस्तु, द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक है[७७]।

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य :

सत् को वाचक ने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त कहा है। किन्तु यह

---

[७१] पंचास्तिकाय ५३।

[७२] वही ५४।

[७३] वही ५५।

[७४] वही ५६।

[७५] वैशे० ७.२.१३। प्रशस्त० समवायनिरूपण।

[७६] पंचास्ति० ५८।

[७७] "पज्जयविजुदं दव्वं दव्वविजुत्ता य पज्जया नत्थि। दोण्हं अणण्णभूदं भावं समणा परूविंति ॥ दव्वेण विणा ण गुणा गुणेहिं दव्वं विणा ण संभवदि। अव्वदिरित्तो भावो दव्वगुणाणं हवदि जह्मा ॥" पंचा० १२,१३।

प्रश्न होता है कि उत्पादन आदि का परस्पर और द्रव्य-गुण-पर्याय के साथ कैसा सम्बन्ध है ?

आचार्य कुन्दकुन्द ने स्पष्ट किया है, कि उत्पत्ति नाश के विना नहीं और नाश उत्पत्ति के विना नहीं। जब तक किसी एक पर्याय का नाश नहीं, दूसरे पर्याय की उत्पत्ति सम्भव नहीं और जब तक किसी की उत्पत्ति नहीं, दूसरे का नाश भी सम्भव नहीं[७८]। इस प्रकार उत्पत्ति और नाश का परस्पर अविनाभाव आचार्य ने बताया है।

उत्पत्ति और नाश के परस्पर अविनाभाव का समर्थन करके ही आचार्यने सन्तोप नहीं किया, किन्तु दार्शनिकों में सत्कार्यवाद-असत्कार्यवाद को लेकर जो विवाद था, उसे सुलझाने की दृष्टि से कहा है, कि ये उत्पाद और व्यय तभी घट सकते हैं, जब कोई न कोई ध्रुव अर्थ माना जाए[८१]। इस प्रकार उत्पाद आदि तीनों का अविनाभाव सम्बन्ध जब सिद्ध हुआ, तब अभेद दृष्टि का अवलम्बन लेकर आचार्य ने कह दिया, कि एक ही समय में एक ही द्रव्य में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का समवाय होने से द्रव्य ही उत्पादादित्रय रूप है[८०]।

आचार्य ने उत्पाद आदि त्रय और द्रव्य गुण-पर्याय का सम्बन्ध बताते हुए यह कहा है, कि उत्पाद और विनाश ये द्रव्य के नहीं होते, किन्तु गुण-पर्याय के होते हैं[७९]। आचार्य का यह कथन द्रव्य और गुणपर्याय के व्यवहार नयाश्रित भेद के आश्रय से है, इतना ही नहीं, किन्तु सांख्य-संमत आत्मा की कूटस्थता तथा नैयायिक-वैशेपिक संमत आत्म-द्रव्य की नित्यता का भी समन्वय करने का प्रयत्न इस कथन में है। बुद्धिप्रति-बिम्ब या गुणान्तरोत्पत्ति के होते हुए भी जैसे आत्मा को उक्त दार्शनिकों ने उत्पन्न या विनष्ट नहीं माना है, वैसे प्रस्तुत में आचार्य ने द्रव्य को भी

---

[७८] प्रवचन० २.८।

[७९] प्रवचन० २.८।

[८०] प्रवचन० २.१०।

[८१] पंचा० ११,१५।

उत्पाद और व्यय-शील नहीं माना है। द्रव्य-नय के प्राधान्य से जब वस्तुदर्शन होता है, तब हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं।

किन्तु वस्तु केवल द्रव्य अर्थात् गुण-पर्याय शून्य नहीं है, और न स्वभिन्न गुण पर्यायों का अधिष्ठानमात्र। वह तो वस्तुतः गुणपर्यायसमय है। हम **पर्याय-नय** के प्राधान्य से वस्तु को एकरूपता के साथ नानारूप में भी देखते हैं। अनादि-अनन्तकाल प्रवाह में उत्पन्न और विनष्ट होने वाले नानागुण-पर्यायों के बीच हम संकलित ध्रुवता भी पाते हैं। यह ध्रुवांश कूटस्थ न होकर सांख्यसंमत प्रकृति की तरह परिणामीनित्य प्रतीत होता है। यही कारण है, कि आचार्य ने पर्यायों में केवल उत्पाद और व्यय ही नहीं, किन्तु स्थिति भी मानी है[८२]।

सत्कार्यवाद-असत्कार्यवाद का समन्वय :

सभी कार्यों के मूल में एकरूप कारण को मानने वाले दार्शनिकों ने, चाहे वे सांख्य हों या प्राचीन वेदान्ती भर्तृप्रपञ्च आदि या मध्यकालीन वल्लभाचार्य[८३] आदि, सत्कार्यवाद को माना है। उनके मत में कार्य अपने-अपने कारण में सत् होता है। तात्पर्य यह है कि असत् की उत्पत्ति नहीं, और सत् का विनाश नहीं। इसके विपरीत न्याय वैशेषिक और पूर्वमीमांसा का मत है, कि कार्य अपने कारण में सत् नहीं होता। पहले असत् ऐसा अर्थात् अपूर्व ही उत्पन्न होता है[८४]। तात्पर्य यह हुआ कि असत् की उत्पत्ति और उत्पन्न सत् का विनाश होता है।

आगमों के अभ्यास से हमने देखा है, कि द्रव्य और पर्याय दृष्टि से एक ही वस्तु में नित्यानित्यता सिद्ध की गई है। उसी तत्त्व का आश्रय लेकर आचार्य कुन्दकुन्द ने सत्कार्यवाद–परिणामवाद और असत्कार्यवाद–आरम्भवाद का समन्वय करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने द्रव्य-नय का आश्रय लेकर सत्कार्यवाद का समर्थन किया है, कि "**भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स उप्पादो**।" (पंचा० १५) द्रव्यदृष्टि से

---

[८२] प्रवचन० २.९। पंचा० ११।

[८३] प्रमाणमी० प्रस्ता० पृ० ७।

[८४] वही पृ० ७।

देखा जाए, तो भाव-वस्तु का कभी नाश नहीं होता, और अभाव की उत्पत्ति नहीं होती। अर्थात् असत् ऐसा कोई उत्पन्न नहीं होता। द्रव्य कभी नष्ट नहीं होता और जो कुछ उत्पन्न होता है वह द्रव्यात्मक, होने से पहले सर्वथा असत् था, यह नहीं कहा जा सकता। जैसे जीव द्रव्य नाना पर्यायों को धारण करता है, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि वह नष्ट हुआ, या नया उत्पन्न हुआ। अतएव द्रव्यदृष्टि से यही मानना उचित है, कि—"एवं सदो विणासो असदो जीवस्स नत्थि उप्पादो।" पंचा० १६।

इस प्रकार द्रव्यदृष्टि से सत्कार्यवाद का समर्थन करके पर्याय-नय के आश्रय से आचार्य कुन्दकुन्द ने असत्कार्यवाद का भी समर्थन किया कि "एवं सदो विणासो असदो जीवस्स होइ उप्पादो॥" पंचा० ६०। गुण और पर्यायों में उत्पाद और व्यय होते हैं[८५]। अतएव यह मानना पड़ेगा, कि पर्याय-दृष्टि से सत् का विनाश और असत् की उत्पत्ति होती है। जीव का देव पर्याय जो पहले नहीं था अर्थात् असत् था, वह उत्पन्न होता है, और सत्—विद्यमान ऐसा मनुष्य पर्याय नष्ट भी होता है।

आचार्य का कहना है कि यद्यपि ये दोनों वाद अन्योन्य विरुद्ध दिखाई देते हैं, किन्तु नयों के आश्रय से वस्तुतः कोई विरोध नहीं[८६]।

द्रव्यों का भेद-अभेद :

वाचक ने यह समाधान तो किया कि धर्मआदि अमूर्त हैं। अतएव उन सभी की एकत्र वृत्ति हो सकती है। किन्तु एक दूसरा प्रश्न यह भी हो सकता है कि यदि इन सभी की वृत्ति एकत्र है, वे सभी परस्पर प्रविष्ट हैं, तब उन सभी की एकता क्यों नहीं मानी जाए? इस प्रश्न का समाधान आचार्य कुन्दकुन्द ने किया, कि छहों द्रव्य अन्योन्य में प्रविष्ट हैं, एक दूसरे को अवकाश भी देते हैं, इनका नित्य सम्मेलन भी है, फिर भी उन सभी में एकता नहीं हो सकती, क्योंकि वे अपने स्वभाव का

[८५] "गुणपज्जएसु भावा उप्पादवये पकुव्वन्ति।" १५।

[८६] "इदि जिणवरेहिं भणिदं अण्णोण्णविरुद्धमविरुद्धं॥" पंचा० ६०। पंचा०

परित्याग नहीं करते[८७]। स्वभाव भेद के कारण एकत्र वृत्ति होने पर भी उन सभी का भेद बना रहता है।

धर्म, अधर्म और आकाश ये तीनों अमूर्त हैं और भिन्नावगाह नहीं हैं, तब तीनों के बजाय एक आकाश का ही स्वभाव ऐसा क्यों न माना जाए, जो अवकाश, गति और स्थिति में कारण हो, यह मानने पर तीन द्रव्य के बजाय एक आकाश द्रव्य से ही काम चल सकता है—इस शंका का समाधान भी आचार्य ने दिया है, कि यदि आकाश को अवकाश की तरह गति और स्थिति में भी कारण माना जाए, तो ऊर्ध्वगति स्वभाव जीव लोकाकाश के अन्त पर स्थिर क्यों हो जाते हैं? इसलिए आकाश के अतिरिक्त धर्म-अधर्म द्रव्यों को मानना चाहिए। दूसरी बात यह भी है, कि यदि धर्म-अधर्म द्रव्यों को आकाशातिरिक्त न माना जाए, तब लोकालोक का विभाग भी नहीं बनेगा[८८]।

इस प्रकार स्वभावभेद के कारण पृथगुपलब्धि होने से तीनों को पृथक्—अन्य सिद्ध करके आचार्य का अभेद पक्षपाती मानस संतुष्ट नहीं हुआ, अतएव तीनों का परिमाण समान होने से तीनों को अपृथग्भूत भी कह दिया है[८९]।

स्याद्वाद एवं सप्तभङ्गी :

वाचक के तत्त्वार्थ में स्याद्वाद का जो रूप है, वह आगमगत स्याद्वाद के विकास का सूचक नहीं है। भगवती-सूत्र की तरह वाचक ने भी भंगों में एकवचन आदि वचनभेदों को प्राधान्य दिया है। किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में सप्तभंगी का वही रूप है, जो वाद के सभी दार्शनिकों में देखा जाता है। अर्थात् भंगों में आचार्य ने वचनभेद को महत्त्व नहीं दिया है। आचार्य ने प्रवचनसार में (२.२३) अवक्तव्य भंग को तृतीय स्थान दिया है, किन्तु पञ्चास्तिकाय में उसका स्थान चतुर्थ

---

[८७] "अण्णोण्णं पविसंता दिता ओगासमण्णमण्णस्स।
मेलंता वि य णिच्चं सगं सभावं ण विजहंति॥" पंचा० ७।

[८८] पंचा० ९९—१०२।

[८९] पंचा० १०३।

रखा है, (गा० १४) दोनों ग्रन्थों में चार भंगों का ही शब्दतः उपादान है और शेष तीन भंगों की योजना करने की सूचना की है। इस सप्त-भंगी का समर्थन आचार्य ने भी द्रव्य और पर्यायनय के आश्रय से किया है (प्रवचन २.१६)।

मूर्तामूर्त-विवेक :

मूल वैशेषिक-सूत्रों में द्रव्यों का साधर्म्य-वैधर्म्य मूर्तत्व-अमूर्तत्व धर्म को लेकर बताया नहीं है। इसी प्रकार गुणों का भी विभाग मूर्त-गुण अमूर्तगुण उभयगुण रूप से नहीं किया है परन्तु प्रशस्तपाद में ऐसा हुआ है। अतएव मानना पड़ता है, कि प्रशस्तपाद के समय में ऐसी निरूपण की पद्धति प्रचलित थी।

जैन आगमों में और वाचक के तत्त्वार्थ में द्रव्यों के साधर्म्य वैधर्म्य प्रकरण में रूपी और अरूपी शब्दों का प्रयोग देखा जाता है। किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द ने उन शब्दों के स्थान में मूर्त और अमूर्त शब्द का प्रयोग किया है[90]। इतना ही नहीं, किन्तु गुणों को भी मूर्त और अमूर्त ऐसे विभागों में विभक्त किया है[91]। आचार्य कुन्दकुन्द का यह वर्गीकरण वैशेषिक प्रभाव से रहित है, यह नहीं कहा जा सकता।

आचार्य कुन्दकुन्द ने मूर्त की जो व्याख्या की है, वह अपूर्व तो है, किन्तु निर्दोष है ऐसा नहीं कहा जा सकता। उन्होंने कहा है कि जो इंद्रियग्राह्य है, वह मूर्त है और शेष अमूर्त है[92]। इस व्याख्या के स्वीकार करने पर परमाणु पुद्गल को जिसे स्वयं आचार्य ने मूर्त कहा है और इन्द्रियग्राह्य कहा है, अमूर्त मानना पड़ेगा[93]। परमाणु में रूप एवं रस आदि होने से ही स्कन्ध में वे होते हैं और इसीलिए यह प्रत्यक्ष होता है। यदि यह मानकर परमाणु में इन्द्रियग्राह्यता की योग्यता का स्वीकार

---

[90] पंचा० १०४।

[91] प्रवचन० २. ३८,३९।

[92] पंचा० १०६। प्रवचन० २. ३९।

[93] नियमसार २६। पंचा० ८४।

किया जाए, तो वह मूर्त कहा जा सकता है। इस प्रकार लक्षण की निर्दोषता भी घटाई जा सकती है।

पुद्गल द्रव्य की व्याख्या :

आचार्य ने व्यवहार और निश्चय नय से पुद्गल द्रव्य की जो व्याख्या की है, वह अपूर्व है। उनका कहना है कि निश्चय नय की अपेक्षा से परमाणु ही पुद्गल-द्रव्य कहा जाना चाहिए और व्यवहार नय की अपेक्षा से स्कन्ध को पुद्गल कहना चाहिए[९४]।

पुद्गल द्रव्य की जब यह व्याख्या की, तब पुद्गल के गुण और पर्यायों में भी आचार्य को स्वभाव और विभाव ऐसे दो भेद करना आवश्यक हुआ। अतएव उन्होंने कहा है, कि परमाणु के गुण स्वाभाविक हैं और स्कन्ध के गुण वैभाविक हैं। इसी प्रकार परमाणु का अन्य निरपेक्ष परिणमन स्वभाव पर्याय है और परमाणु का स्कन्ध रूप परिणमन अन्य सापेक्ष होने से विभाव पर्याय है[९५]।

प्रस्तुत में अन्य निरपेक्ष परिणमन को जो स्वभाव-पर्याय कहा गया है, उसका अर्थ इतना ही समझना चाहिए, कि वह परिणमन काल भिन्न निमित्त कारण की अपेक्षा नहीं रखता। क्योंकि स्वयं आचार्य कुन्दकुन्द के मत से भी सभी प्रकार के परिणामों में काल कारण होता ही है।

आगे के दार्शनिकों ने यह सिद्ध किया है, कि किसी भी कार्य की निष्पत्ति सामग्री से होती है, किसी एक कारण से नहीं। इसे ध्यान में रख कर आचार्य कुन्दकुन्द के उक्त शब्दों का अर्थ करना चाहिए।

पुद्गल स्कन्ध :

आचार्य कुन्दकुन्द ने स्कन्ध के छह भेद बताए हैं, जो वाचक के तत्त्वार्थ में तथा आगमों में उस रूप में देखे नहीं जाते। वे छह भेद ये हैं-

---

[९४] नियमसार २६।
[९५] नियमसार २७,२८।

१. अति स्थूलस्थूल—पृथ्वी, पर्वत आदि ।
२. स्थूल—घृत, जल, तैल आदि ।
३. स्थूल सूक्ष्म—छाया, आतप आदि ।
४. सूक्ष्म-स्थूल—स्पर्शन, रसन, घ्राण और श्रोत्रेन्द्रिय के विषय-भूत स्कन्ध ।
५. सूक्ष्म—कार्मण वर्गणा प्रायोग्य स्कन्ध ।
६. अति सूक्ष्म—कार्मण वर्गणा के भी योग्य जो न हों, ऐसे अति सूक्ष्म स्कन्ध ।

परमाणु-चर्चा :

आगम वर्णित द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव परमाणु की तथा उसकी नित्यानित्यता विषयक चर्चा हमने पहले की है। वाचक ने परमाणु के विषय में 'उक्तं च' कह करके किसी के परमाणु लक्षण को उद्धृत किया है, वह इस प्रकार है—

"कारणमेव तदन्त्यं सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः ।
एकरसगन्धवर्णो द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च ॥"

इस लक्षण में निम्न बातें स्पष्ट हैं—

१. द्विप्रदेश आदि सभी स्कन्धों का अन्त्यकारण परमाणु है ।
२. परमाणु सूक्ष्म है ।
३. परमाणु नित्य है ।
४. परमाणु में एक रस, एक गन्ध, एक वर्ण, दो स्पर्श होते हैं ।
५. परमाणु की सिद्धि कार्य से होती है ।

इन पांच बातों के अलावा वाचक ने 'भेदादणुः' (५.२७) इस सूत्र से परमाणु की उत्पत्ति भी बताई है। अतएव यह स्पष्ट है, कि वाचक ने परमाणु की नित्यानित्यता को स्वीकार किया है, जो आगम में प्रतिपादित है ।

परमाणु के सम्बन्ध में आचार्य कुन्दकुन्द ने परमाणु के उक्त लक्षण को और भी स्पष्ट किया है। इतना ही नहीं किन्तु उसे दूसरे

दार्शनिकों की परिभाषा में समझाने का प्रयत्न भी किया है। परमाणु के मूल गुणों में शब्द को स्थान नहीं है, तब पुद्गल शब्द रूप कैसे और कब होता है, (पञ्चा० ८६) में इस बात का भी स्पष्टीकरण किया है।

आचार्य कुन्दकुन्द के परमाणु लक्षण में निम्न बातें हैं[१९]—

१. सभी स्कन्धों का अंतिम भाग परमाणु है।
२. परमाणु शाश्वत है।
३. अशब्द है, फिर भी शब्द का कारण है।
४. अविभाज्य एवं एक है।
५. मूर्त है।
६. चतुर्धातु का कारण है और कार्य भी है।
७. परिणामी है।
८. प्रदेशभेद न होने पर भी वह वर्णआदि को अवकाश देता है।
९. स्कन्धों का कर्ता और स्कंधान्तर से स्कन्ध का भेदक है।
१०. काल और संख्या का प्रविभक्ता—व्यवहारनियामक भी परमाणु है।
११. एक रस, एक वर्ण, एक गन्ध और दो स्पर्शयुक्त है।
१२. भिन्न होकर भी स्कन्ध का घटक है।
१३. आत्मआदि है, आत्ममध्य है, आत्मअन्त है
१४. इन्द्रियाग्राह्य है।

आचार्य ने 'धादु चदुक्कस्स कारणं' (पचा० ८५) अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये चार धातुओं का मूल कारण परमाणु है यह कह करके यह साफ कर दिया है, कि जैसा वैशेषिक या चार्वाक मानते हैं, वे धातुएँ मूल तत्त्व नहीं, किन्तु सभी का मूल एक लक्षण परमाणु ही है।

आत्म-निरूपण :

निश्चय और व्यवहार—जैन आगमों में आत्माको शरीर से भिन्न भी कहा है और अभिन्न भी। जीव का ज्ञान परिणाम भी माना है और गत्यादि भी, जीव को कृष्णवर्ण भी कहा है और अवर्ण भी कहा है और

[१९] पंचा० ८४,८५,८७,८८। नियमसार २५-२७।

जीव को नित्य भी कहा है। और अनित्य भी, जीव को अमूर्त कह कर भी उसके नारक आदि अनेक मूर्त भेद बताए हैं। इस प्रकार जीव के शुद्ध और अशुद्ध दोनों रूपों का वर्णन आगमों में विस्तार से है। कहीं-कहीं द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नयों का आश्रय लेकर विरोध का समन्वय भी किया गया है। वाचक ने भी जीव के वर्णन में सकर्मक और अकर्मक जीव का वर्णन मात्र कर दिया है। किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द ने आत्मा के आगमोक्त वर्णन को समझने की चाबी बता दी है, जिसका उपयोग करके आगम के प्रत्येक वर्णन को हम समझ सकते हैं कि आत्मा के विषय में आगम में जो अमुक बात कही गई वह किस दृष्टि से है। जीव का जो शुद्ध रूप आचार्य ने बताया है, वह आगम काल में अज्ञात नहीं था। शुद्ध और अशुद्ध स्वरूप के विषय में आगम काल के आचार्यों को कोई भ्रम नहीं था। किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द के आत्मनिरूपण की जो विशेषता है, वह यह है, कि इन्होंने स्वसामयिक दार्शनिकों को प्रसिद्ध निरूपण शैली को जैन आत्मनिरूपण में अपनाया है। दूसरों के मन्तव्यों को, दूसरों की परिभाषाओं को अपने ढंग से अपनाकर या खण्डन करके जैन मन्तव्य को दार्शनिक रूप देने का प्रबल प्रयत्न किया है।

औपनिषद दर्शन, विज्ञानवाद और शून्यवाद में वस्तु का निरूपण दो दृष्टिओं से होने लगा था। एक परमार्थ-दृष्टि और दूसरी व्यावहारिक दृष्टि। तत्त्व का एक रूप पारमार्थिक और दूसरा सांवृतिक वर्णित है। एक भूतार्थ है तो दूसरा अभूतार्थ। एक अलौकिक है, तो दूसरा लौकिक। एक शुद्ध है, तो दूसरा अशुद्ध। एक सूक्ष्म है, तो दूसरा स्थूल। जैन आगम में जैसा हमने पहले देखा व्यवहार और निश्चय ये दो नय या दृष्टियाँ क्रमशः स्थूल-लौकिक और सूक्ष्म-तत्त्वग्राही मानी जाती रहीं हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द ने आत्मनिरूपण उन्हीं दो दृष्टियों का आश्रय लेकर किया है। आत्मा के पारमार्थिक शुद्ध रूप का वर्णन निश्चय नय के आश्रय से और अशुद्ध या लौकिक—स्थूल आत्मा का वर्णन व्यवहार नय के आश्रय से उन्होंने किया है।[९७]

---

[९७] समय० ६ से, ३१ से, ६१ से। पंचा० १३४। नियम० ३ से। भावप्रा० ६४, १४६। प्रवचन० २.२,८०,१००।

बहिरात्मा, अन्तरात्मा, एवं परमात

माण्डूक्योपनिषद में आत्मा को चार प्रकार का माना है—अन्तः प्रज्ञ, वहिष्प्रज्ञ, उभयप्रज्ञ और अवाच्य। किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द ने वहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा ऐसे तीन प्रकार वतलाए हैं।[९८] बाह्य पदार्थों में जो आसक्त है, इन्द्रियों के द्वारा जो अपने शुद्ध स्वरूप से भ्रष्ट हुआ है, तथा जिसे देह और आत्मा का भेद ज्ञान नहीं, जो शरीर को ही आत्मा समझता है, ऐसा विपथगामी मूढ़ात्मा वहिरात्मा है। सांख्यों के प्राकृतिक, वैकृतिक और दाक्षणिक वन्ध का समावेश इसी वाह्यात्मा में हो जाता है।[९९]

जिसे भेदज्ञान तो हो गया है, पर कर्मवश सशरीर है और जो कर्मो के नाश में प्रयत्नशील है, ऐसा मोक्षमार्गारूढ़ अन्तरात्मा है। शरीर होते हुए भी वह समझता है, कि यह मेरा नहीं, मैं तो इससे भिन्न हूँ। ध्यान के बल से कर्म-क्षय करके आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को जव प्राप्त करता है, तब वह परमात्मा है।

परमात्मवर्णन में समन्वय :

परमात्म-वर्णन में आचार्य कुन्दकुन्द ने अपनी समन्वय शक्ति का परिचय दिया है। अपने काल में स्वयंभू की प्रतिष्ठा को देखकर स्वयंभू शब्द का प्रयोग परमात्मा के लिए जैनसंमत अर्थ में उन्होंने कर दिया है।[१००] इतना ही नहीं, किन्तु कर्म-विमुक्त शुद्ध आत्मा के लिए शिव, परमेष्ठिन्, विष्णु, चतुर्मुख, बुद्ध एवं परमात्मा[१०१] जैसे शब्दों का प्रयोग करके यह सूचित किया है, कि तत्वतः देखा जाए, तो परमात्मा का रूप एक ही है, नाम भले ही नाना हों।

---

[९८] मोक्षप्रा० ४ से। नियमसार १४९ से।

[९९] सांख्यत० ४४।

[१००] प्रवचन० १.१६।

[१०१] "णाणी सिव परमेट्ठी सव्वण्हू विण्हू चउमुहो बुद्धो।
अप्पो विय परमप्पो कम्मविमुक्को य होइ फुडं॥" भावप्रा० १४९

परमात्मा के विषय में आचार्य ने जब यह कहा, कि वह न कार्य है और न कारण, तब बौद्धों के असंस्कृत निर्वाण की, वेदान्तियों के ब्रह्मभाव की तथा सांख्यों के कूटस्थ-पुरुष मुक्त-स्वरूप की कल्पना का समन्वय उन्होंने किया है।[१०२]

तत्कालीन नाना विरोधी वादों का सुन्दर समन्वय उन्होंने परमात्मा के स्वरूप वर्णन के बहाने कर दिया है। उससे पता चलता है, कि वे केवल पुराने शाश्वत और उच्छेदवाद से ही नहीं, बल्कि नवीन विज्ञानाद्वैत और शून्यवाद से भी परिचित थे। उन्होंने परमात्मा के विषय में कहा है—

"सस्सदमध उच्छेदं भव्वमभव्वं च सुण्णमिदरं च।
विण्णाणमविण्णाणं ण वि जुज्जदि असदि सब्भावे॥"

—पञ्चा० ३७

यद्यपि उन्होंने जैनागमों के अनुसार आत्मा को काय-परिमाण भी माना है, फिर भी उपनिषद् और दार्शनिकों में प्रसिद्ध आत्मसर्वगतत्व—विभुत्व का भी अपने ढंग से समर्थन किया है, कि—

"आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं।
णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वगयं॥
सव्वगदो जिण वसहो सव्वे विय तग्गया जगदि अट्ठा।
णाणमयादो य जिणो विसयादो तस्स ते भणिया॥"

—प्रवचन० १-२३,२६

यहाँ सर्वगत शब्द कायम रखकर अर्थ में परिवर्तन किया गया है, क्योंकि उन्होंने स्पष्ट ही कहा है, कि ज्ञान या आत्मा सर्वगत है। इसका मतलब यह नहीं, कि ज्ञानी ज्ञेय में प्रविष्ट है, या व्याप्त है, किन्तु जैसे चक्षु अर्थ से दूर रह कर भी उसका ज्ञान कर सकती है, वैसे आत्मा भी सर्व पदार्थों को जानता भर है—प्रवचन० १.२८—३२।

अर्थात् दूसरे दार्शनिकों ने सर्वगत शब्द का अर्थ, गम धातु को गत्यर्थक मानकर सर्वव्यापक या विभु, ऐसा किया है, जब कि आचार्य ने

[१०२] पंचा० ३६।

गमधातु को ज्ञानार्थक मानकर सर्वगत का अर्थ किया है-सर्वज्ञ। शब्द वही रहा, किन्तु अर्थ जैनाभिप्रेत वन गया[103]।

जगत्कर्तृत्व :

आचार्य ने विष्णु के जगत्कर्तृत्व के मन्तव्य का भी समन्वय जैन दृष्टि से करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने कहा है, कि व्यवहार-नय के आश्रय से जैनसंमत जीवकर्तृत्व में और लोकसंमत विष्णु के जगत्कर्तृत्व में विशेष अन्तर नहीं है। इन दोनों मन्तव्यों को यदि पारमार्थिक माना जाए, तो दोष यह होगा कि दोनों के मत से मोक्ष की कल्पना असंगत हो जाएगी[104]।

कर्तृत्वाकर्तृत्वविवेक :

सांख्यों के मत से आत्मा में कर्तृत्व नहीं[105] है, क्योंकि उसमें परिणमन नहीं। कर्तृत्व प्रकृति में है, क्योंकि वह प्रसवधर्मा है[106]। पुरुष वैसा नहीं। तात्पर्य यह है, कि जो परिणमनशील हो, वह कर्ता हो सकता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने भी आत्मा को सांख्यमत के समन्वय की दृष्टि से अकर्ता तो कहा ही है, किन्तु अकर्तृत्व का तात्पर्य जैन दृष्टि से उन्होंने वताया है, कि आत्मा पुद्‌गल कर्मों का अर्थात् अनात्म-परिणमन का कर्ता नहीं[107]। जो परिणमनशील हो वह कर्ता है। इस सांख्यसंमत व्याप्ति के वल से आत्मा को कर्ता है[108] भी कहा है क्योंकि वह परिणमनशील है। सांख्यसंमत आत्मा की कूटस्थता—अपरिणमनशीलता आचार्य को मान्य नहीं। उन्होंने जैनागम प्रसिद्ध आत्मपरिणमन का समर्थन किया है[109] और सांख्यों का निरास करके आत्मा को स्वपरिणामों का कर्ता माना है[110]।

---

[103] वौद्धों ने भी विभुत्व का स्वाभिप्रेत अर्थ किया है, कि "विभुत्वं पुनर्ज्ञान-प्रहाणप्रभावसंपन्नता" मध्यान्तविभागटीका पृ० ८३।

[104] समयसार ३५०-३५२।

[105] सांख्यका० १९।

[106] वही ११।

[107] समयसार ८१-८८।

[108] वही ८६, ९८। प्रवचन० २.९२ से। नियमसार १८।

[109] प्रवचन १.४६। १.८-से।

[110] समयसार १२८ से।

कर्तृत्व की व्यावहारिक व्याख्या लोक-प्रसिद्ध भाषा प्रयोग की दृष्टि से होती है, इस बात को स्वीकार करके भी आचार्य ने बताया है कि नैश्चयिक या पारमार्थिक कर्तृत्व की व्याख्या दूसरी ही करना चाहिए। व्यवहार की भाषा में हम आत्मा को कर्म का भी कर्ता कह सकते हैं[111] किन्तु नैश्चयिक दृष्टि से किसी भी परिणाम या कार्य का कर्ता स्वद्रव्य ही है, पर द्रव्य नहीं[112]। अतएव आत्मा को ज्ञान आदि स्वपरिणामों का[113] ही कर्ता मानना चाहिए। आत्मेतर कर्मआदि यावत् कारणों को अपेक्षा कारण या निमित्त कहना चाहिए[114]।

वस्तुतः दार्शनिकों की दृष्टि से जो उपादान कारण है, उसी को आचार्य ने पारमार्थिक दृष्टि से कर्ता कहा है और अन्य कारणों को, बौद्ध दर्शन प्रसिद्ध हेतु, निमित्त या प्रत्यय शब्द से कहा है।

जिस प्रकार जैनों को **ईश्वरकर्तृत्व** मान्य नहीं है,[115] उसी प्रकार सर्वथा कर्मकर्तृत्व भी मान्य नहीं है। आचार्य की दार्शनिक दृष्टि ने यह दोष देख लिया, कि यदि सर्वकर्तृत्व की जवाबदेही ईश्वर से छिनकर कर्म के ऊपर रखी जाए, तो पुरुष की स्वाधीनता खंडित हो जाती है। इतना ही नहीं, किन्तु ऐसा मानने पर जैन के कर्मकर्तृत्व में और सांख्यों के प्रकृति कर्तृत्व में भेद भी नहीं रह जाता और आत्मा सर्वथा अकारक—अकर्ता हो जाता है। ऐसी स्थिति में हिंसा या अब्रह्मचर्य का दोष आत्मा में न मानकर कर्म में ही मानना पड़ेगा[116]। अतएव मानना यह चाहिए कि आत्मा के परिणामों का स्वयं आत्मा कर्ता है और कर्म अपेक्षा कारण है तथा कर्म के परिणामों में स्वयं कर्म कर्त्ता है और आत्मा अपेक्षा है[117]।

---

[111] समयसार १०५,११२-११५।

[112] समयसार ११०,१११।

[113] समयसार १०७,१०६।

[114] समयसार ८६-८८,३३६।

[115] समयसार ३५०-३५२।

[116] समयसार ३३६-३७४।

[117] समयसार ८६-८८, ३३६।

जब तक मोह के कारण से जीव परद्रव्यों को अपना समझ कर उनके परिणामों में निमित्त बनता है, तब तक संसार-वृद्धि निश्चित है[११८]। जब भेदज्ञान के द्वारा अनात्मा को पर समझता है, तब वह कर्म में निमित्त भी नहीं बनता और उसकी मुक्ति अवश्य होती है[११९]।

शुभ, अशुभ एवं शुद्ध अध्यवसाय :

सांख्यकारिका में कहा है कि धर्म—पुण्य से ऊर्ध्वगमन होता है, अधर्म—पाप से अधोगमन होता है, किन्तु ज्ञान से मुक्ति मिलती है[१२०]। इसी बात को आचार्य ने जैन-परिभाषा का प्रयोग करके कहा है, कि आत्मा के तीन अध्यवसाय होते हैं—शुभ, अशुभ और शुद्ध। शुभाध्यवसाय का फल स्वर्ग है, अशुभ का नरक आदि और शुद्ध का मुक्ति है[१२१]। इस मत की न्याय-वैशेषिक के साथ भी तुलना की जा सकती है। उनके मत से भी धर्म और अधर्म ये दोनों संसार के कारण हैं और धर्माधर्म से मुक्त शुद्ध चैतन्य होने पर ही मुक्तिलाभ होता है। भेद यही है, कि वे मुक्त आत्मा को शुद्ध रूप तो मानते हैं, किन्तु ज्ञानमय नहीं।

संसार-वर्णन :

आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों से यह जाना जाता है, कि वे सांख्य दर्शन से पर्याप्त मात्रा में प्रभावित हैं। जब वे आत्मा के अकर्तृत्व आदि का समर्थन करते हैं[१२२] तब वह प्रभाव स्पष्ट दिखता है। इतना ही नहीं, किन्तु सांख्यों की ही परिभाषा का प्रयोग करके उन्होंने संसार वर्णन भी किया है। सांख्यों के अनुसार प्रकृति और पुरुष का बन्ध ही संसार है। जैनागमों में प्रकृतिबंध नामक बंध का एक प्रकार माना गया है। अतएव

---

[११८] समयसार ७४-७५, ८६, ४१७-४१६।

[११९] वही ७६-७६, १००, १०४, ३४३।

[१२०] "धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण। ज्ञानेन चापवर्गः" सांख्यका० ४४।

[१२१] प्रवचन० १.६, ११, १२, १३, २.८९। समयसार १५५-१६१।

[१२२] समयसार ८०, ८१ ३४८,।

आचार्य ने अन्य शब्दों की अपेक्षा प्रकृति शब्द को संसार-वर्णन प्रसंग में प्रयुक्त करके सांख्य और जैन दर्शन की समानता की ओर संकेत किया है। उन्होंने कहा है—

"चेदा दु पयडियट्ठं उप्पजदि विणस्सदि।
पयडी वि चेदयट्ठं उपज्जदि विणस्सदि॥
एवं वंधो दुण्हंपि अण्णोण्णपच्चयाण हवे।
अप्पणो पयडीए य संसारो तेण जायदे॥"

—समयसार ३४०-४१

सांख्यों ने पङ्ग्वंधन्याय से प्रकृति और पुरुप के संयोग से जो सर्ग माना है उसकी तुलना यहाँ करणीय है।

"पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पङ्ग्वन्ध वदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः।"

—सांख्यका० २१

दोष-वर्णन :

संसार-चक्र की गति रुकने से मोक्षलब्धि कैसे होती है, इसका वर्णन दार्शनिक सूत्रों में विविध रूप से आता है, किन्तु सभी का तात्पर्य एक ही है कि अविद्या—मोह की निवृत्ति से ही मोक्ष प्राप्त होता है। न्याय-सूत्र के अनुसार मिथ्याज्ञान एवं मोह ही सभी अनर्थों का मूल है। मिथ्या ज्ञान से राग और द्वेष और अन्य दोष की परम्परा चलती है। दोष से शुभ और अशुभ प्रवृत्ति होती है। शुभ से धर्म और अशुभ से अधर्म होता है और उसी के कारण जन्म होता है और जन्म से दुःख प्राप्त होता है। यही संसार है। इसके विपरीत जब तत्त्व ज्ञान अर्थात् सम्यग्ज्ञान होता है, तब मिथ्या ज्ञान—मोह का नाश होता है और उसके नाश से उत्तरोत्तर का भी निरोध हो जाता है[123] और इस प्रकार संसार-चक्र रुक जाता है। न्याय-सूत्र में सभी दोषों का समावेश राग, द्वेष और मोह इन तीनों में कर दिया है[124] और इन तीनों में भी मोह

[123] न्यायसू० १.१.२। और न्यायभा०।

[124] न्यायसू० ४.१.३।

को ही सबसे प्रबल माना है, क्योंकि यदि मोह नहीं तो अन्य कोई दोष उत्पन्न ही नहीं होते[१२५]। अतएव तत्त्व-ज्ञान से वस्तुतः मोह की निवृत्ति होने पर संसार निर्मूल हो जाता है। योगसूत्र में क्लेश—दोषों का वर्गीकरण प्रकारान्तर से है[१२६], किन्तु सभी दोषों का मूल अविद्या—मिथ्या ज्ञान एवं मोह में ही माना गया है[१२७]। योगसूत्र के अनुसार क्लेशों से कर्माशय—पुण्यापुण्य—धर्माधर्म होता है[१२८] और कर्माशय से उसका फल जाति-देह, आयु और भोग होता है[१२९]। यही संसार है। इस संसार-चक्र को रोकने का एक ही उपाय है, कि भेद-ज्ञान से—विवेक ख्याति से अविद्या का नाश किया जाए। उसी से कैवल्य प्राप्ति होती है[१३०]।

सांख्यों की प्रकृति त्रिगुणात्मक है[१३१]—सत्त्व, रजस् और तमोरूप है। दूसरे शब्दों में प्रकृति सुख, दुःख और मोहात्मक है, अर्थात् प्रीति—राग, अप्रीति—द्वेष और विषाद—मोहात्मक है[१३२]। सांख्यों ने[१३३] विपर्यय से बन्ध—संसार माना है। सांख्यों के अनुसार पांच विपर्यय वही हैं, जो योगसूत्र के अनुसार क्लेश है[१३४]। तत्त्व के अभ्यास से जब अविपर्यय हो जाता है, तब केवलज्ञान—भेदज्ञान हो जाता है[१३५]। इसी से प्रकृति निवृत्त हो जाती है, और पुरुष कैवल्य लाभ करता है।

बौद्ध दर्शन का प्रतीत्यसमुत्पाद प्रसिद्ध ही है, उसमें भी संसार चक्र के मूल में अविद्या ही है। उसी अविद्या के निरोध से संसार-चक्र

---

[१२५] "तेषां मोहः पापीयान् नामूढस्येतरोत्पत्तेः।" न्यायसू० ४.१.६।

[१२६] "अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः।"

[१२७] "अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषाम्" २.४।

[१२८] योग० २.१२।

[१२९] वही २.१३।

[१३०] वही० २.२५, २६।

[१३१] सांख्यका० ११।

[१३२] सांख्यका० १२।

[१३३] सांख्यका० ४४।

[१३४] वही ४७-४८।

[१३५] वही ६४।

रुक जाता है[१३६]। सभी दोषों का संग्रह बौद्धों ने भी राग, द्वेष और मोह में किया है[१३७]। बौद्धों ने भी राग द्वेष के मूल में मोह ही को माना है[१३८]। यही अविद्या है।

जैन आगमों में दोष वर्णन दो प्रकार से हुआ है। एक तो शास्त्रीय प्रकार है, जो जैन कर्म-शास्त्र की विवेचना के अनुकूल है और दूसरा प्रकार लोकादर द्वारा अन्य तैर्थिकों में प्रचलित ऐसे दोष-वर्णन का अनुसरण करता है।

कर्म शास्त्रीय परम्परा के अनुसार कषाय और योग ये ही दो बंध हेतु हैं, और उसी का विस्तार करके कभी-कभी मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार और कभी-कभी इनमें प्रमाद मिलाकर पांच हेतु बताए जाते हैं[१३९]। कषायरहित योग बन्ध का कारण होता नहीं है, इसीलिए वस्तुतः कषाय ही बन्ध का कारण है। इसका स्पष्ट शब्दों में वाचक ने इस प्रकार निरूपण किया है।

"सकषायत्वात् जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलान् आदत्ते। स बन्धः।" तत्त्वार्थ० ८.२,३।

उक्त शास्त्रीय निरूपण प्रकार के अलावा तैर्थिक संमत मत को भी जैन आगमों में स्वीकृत किया है। उसके अनुसार राग, द्वेष और मोह ये तीन संसार के कारणरूप से जैन आगमों में बताए गए हैं और उनके त्याग का प्रतिपादन किया गया है[१४०]। जैन-संमत कषाय के चार प्रकारों को राग और द्वेष में समान्वित करके यह भी कहा गया है कि राग और दोष ये दो ही दोष हैं[१४१]। दूसरे दार्शनिकों की तरह यह भी स्वीकृत किया है, कि राग और द्वेष ये भी मूल में मोह है—

---

[१३६] बुद्धवचन पृ० ३०।

[१३७] बुद्धवचन पृ० २२। अभिधम्म ३.५।

[१३८] बुद्धवचन टि० पृ० ४।

[१३९] तत्त्वार्थसूत्र (पं० सुखलाल जी) ८.१।

[१४०] उत्तराध्ययन २१.१९। २३ ४३। २८.२०। २९.७१। ३७.२,९।

[१४१] "दोहिं ठाणेहिं पापकम्मा बंधंति। तं जहा—रागेण य दोसेण य। रागे दुविहे पण्णत्ते तं जहा माया य लोभे य। दोसे.... कोहे य माणे य।" स्था० २. उ० २। प्रज्ञापनापद २३। उत्त० ३०.१।

"रागो य दोसो वि य कम्मबीयं कम्मं च मोहप्पभवं वयन्ति।" उत्तरा० ३२.७।

जैन कर्मशास्त्र के अनुसार मोहनीय कर्म के दो भेद हैं दर्शन-मोह और चारित्र मोह। दूसरे दार्शनिकों ने जिसे अविद्या, अज्ञान, तमस्, मोह या मिथ्यात्व कहा है, वही जैन संमत दर्शनमोह है और दूसरों के राग और द्वेप का अन्तर्भाव जैन-संमत चारित्र मोह में है। जैन संमत ज्ञानावरणीय कर्म से जन्य अज्ञान में और दर्शनान्तर संमत अविद्या मोह या मिथ्याज्ञान में अत्यन्त वैलक्षण्य है, इसका ध्यान रखना चाहिए। क्योंकि अविद्या से उनका तात्पर्य है, जीव को विपथगामी करने वाला मिथ्यात्व या मोह, किन्तु ज्ञानवरणीयजन्य अज्ञान में ज्ञान का अभाव मात्र विवक्षित है। अर्थात् दर्शनान्तरीय—अविद्या कदाग्रह का कारण होती है, अनात्मा में आत्मा के अध्यास का कारण बनती है, जब कि जैन-संमत उक्त अज्ञान जानने की अशक्ति को सूचित करता है। एक—अविद्या के कारण संसार बढ़ता ही है, जब कि दूसरा—अज्ञान संसार को बढ़ाता ही है, ऐसा नियम नहीं है।

नीचे दोपों का तुलनात्मक कोष्ठक दिया जाता है—

जैन	नैयायिक	सांख्य		योग	बौद्ध
मोहनीय	दोष	गुण	विपर्यय	क्लेश	अकुशलहेतु
१ दर्शन मोह	मोह	तमोगुण	तमस् मोह	अविद्या अस्मिता	मोह
२ चारित्र मोह					
माया लोभ	राग	सत्वगुण	महामोह	राग	राग
क्रोध मान	द्वेष	रजोगुण	तामिस्र अन्धतामिस्र	द्वेष अभिनिवेश	द्वेष

आचार्य कुन्दकुन्द ने जैन परिभाषा के अनुसार संसारवर्धक दोषों का वर्णन किया तो है[१४२], किन्तु अधिकतर दोषवर्णन सर्वसुगमता की दृष्टि से किया है। यही कारण है, कि उनके ग्रन्थों में राग, द्वेष और मोह इन तीन मौलिक दोषों का बार-बार जिक्र आता है[१४३] और मुक्ति के लिए इन्हीं दोषों को दूर करने के लिए भार दिया गया है।

भेद-ज्ञान :

सभी आस्तिक दर्शनों के अनुसार विशेष कर अनात्मा से आत्मा का विवेक करना या भेदज्ञान करना, यही सम्यग्ज्ञान है, अमोह है। बौद्धों ने सत्कायदृष्टि का निवारण करके मूढदृष्टि के त्याग का जो उपदेश दिया है, उसमें भी रूप, विज्ञान आदि में आत्म-बुद्धि के त्याग की ओर ही लक्ष्य दिया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने भी अपने ग्रन्थों में भेदज्ञान कराने का प्रयत्न किया है। वे भी कहते हैं, कि आत्मा मार्गणास्थान, गुणस्थान, जीवस्थान, नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य, और देव, नहीं है। वह बाल, वृद्ध, और तरुण नहीं है। वह राग द्वेष, मोह नहीं है; क्रोध, मान, माया और लोभ नहीं है। वह कर्म, नोकर्म नहीं है। उसमें वर्ण आदि नहीं है इत्यादि भेदाभ्यास करना चाहिए[१४४]। शुद्धात्मा का यह भेदाभ्यास जैनागमों में भी विद्यमान है ही। उसे ही पल्लवित करके आचार्य ने शुद्धात्मस्वरूप का वर्णन किया है।

तत्त्वाभ्यास होने पर पुरुष को होने वाले विशुद्ध ज्ञान का वर्णन सांख्यों ने किया है, कि—

> "एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
> अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥"
>
> —सांख्यका० ६४

---

[१४२] समयसार ६४,६६,११६,१८५,१८८। पंचा० ४७,१४७ इत्यादि। नियमसार ८१।

[१४३] प्रवचन १.८४,८८। पंचा० १३५,१३६,१४९,१५३, १५६। समयसार १६५,१८९,१९१,२०१,३०६,३०७, ३०९,३१०। नियमसार ५७,८० इत्यादि।

[१४४] नियमसार ७०-८३,१०६। समयसार ६,२२,२५-६० ४२०-४३३। प्रवचन० २.९९ से।

इसी प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द ने भी आत्मा और अनात्मा, बन्ध और मोक्ष का वर्णन करके साधक को उपदेश दिया है, कि आत्मा और बन्ध दोनों के स्वभाव को जानकर जो बन्धन में नहीं रमण करता, वह मुक्त हो जाता है[१६०]। बद्ध आत्मा भी प्रज्ञा के सहारे आत्मा और अनात्मा का भेद जान लेता है[१६१]। उन्होंने कहा है—

"पण्णाए घेतव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो।
पण्णाए घेतव्वो जो दट्ठा सो अहं तु णिच्छयदो॥
पण्णाए घेतव्वो जो णादा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णादव्वा॥
—समयसार ३२५-२७

आचार्य के इस वर्णन में आत्मा के द्रष्टृत्व और ज्ञातृत्व की जो बात कही गई है, वह सांख्य संमत पुरुष के द्रष्टृत्व की याद दिलाती है[१६२]।

प्रमाण-चर्चा :

आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थों में स्वतन्त्रभाव से प्रमाण की चर्चा तो नहीं की है। और न उमास्वाति की तरह शब्दतः पाँच ज्ञानों को प्रमाण संज्ञा ही दी है। फिर भी ज्ञानों का जो प्रासंगिक वर्णन है, वह दार्शनिकों की प्रमाणचर्चा से प्रभावित है ही। अतएव ज्ञानचर्चा को ही प्रमाणचर्चा मान कर प्रस्तुत में वर्णन किया जाता है। इतना तो किसी से छिपा नहीं रहता, कि वाचक उमास्वाति की ज्ञानचर्चा से आचार्य कुन्दकुन्द की ज्ञानचर्चा में दार्शनिक विकास की मात्रा अधिक है। यह बात आगे की चर्चा से स्पष्ट हो सकेगी।

अद्वैत-दृष्टि :

आचार्य कुन्दकुन्द का श्रेष्ठ ग्रन्थ समयसार है। उसमें उन्होंने तत्त्वों का विवेचन नैश्चयिक दृष्टि का अवलम्बन लेकर किया है। खास

---

[१६०] समयसार ३२१।
[१६१] वही ३२२।
[१६२] सांख्यका० १९,६६।

उद्देश्य तो है–आत्मा के निरुपाधिक शुद्ध स्वरूप का प्रतिपादन। किन्तु उसी के लिए अन्य तत्त्वों का भी पारमार्थिक रूप बताने का आचार्य ने प्रयत्न किया है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप का वर्णन करते हुए आचार्य ने कहा है, कि व्यवहार दृष्टि के आश्रय से यद्यपि आत्मा और उसके ज्ञान आदि गुणों में पारस्परिक भेद का प्रतिपादन किया जाता है, फिर भी निश्चय दृष्टि से इतना ही कहना पर्याप्त है, कि जो ज्ञाता है, वही आत्मा है या आत्मा ज्ञायक है, अन्य कुछ नहीं [१४८]। इस प्रकार आचार्य की अभेदगामिनी दृष्टि ने आत्मा के सभी गुणों का अभेद ज्ञान-गुण में कर दिया है और अन्यत्र स्पष्टतया समर्थन भी किया है, कि संपूर्ण ज्ञान ही ऐकान्तिक सुख है [१४९]। इतना ही नहीं, किन्तु द्रव्य और गुण में अर्थात् ज्ञान और ज्ञानी में भी कोई भेद नहीं है, ऐसा प्रतिपादन किया है[१५०]। उनका कहना है कि आत्मा कर्ता हो, ज्ञान करण हो, यह बात भी नहीं, किन्तु **"जो जाणदि सो णाणं ण हवदि णाणेण जाणगो आदा।"** प्रवचन० १.३५। उन्होंने आत्मा को ही उपनिषद् की भाषा में सर्वस्व बताया है और उसी का अवलम्बन मुक्ति है, ऐसा प्रतिपादन किया है[१५१]।

आचार्य कुन्दकुन्द की अभेद दृष्टि को इतने से भी संतोष नहीं हुआ। उनके सामने विज्ञानाद्वैत तथा आत्माद्वैत का आदर्श भी था। विज्ञानाद्वैतवादियों का कहना है, कि ज्ञान में ज्ञानातिरिक्त बाह्य पदार्थों का प्रतिभास नहीं होता, स्व का ही प्रतिभास होता है। ब्रह्माद्वैत का भी यही अभिप्राय है, कि संसार में ब्रह्मातिरिक्त कुछ नहीं है। अतएव सभी प्रतिभासों में ब्रह्म ही प्रतिभासित होता है।

इन दोनों मतों के समन्वय की दृष्टि से आचार्य ने कह दिया, कि निश्चय दृष्टि से केवल ज्ञानी आत्मा को ही जानता है, बाह्य पदार्थों

---

[१४८] समयसार ६,७।

[१४९] प्रवचन० १.५९,६०।

[१५०] समयसार १०,११, ४३३ पंचा० ४०,४९ देखो प्रस्तावना पृ० १२१, १२२।

[१५१] समयसार १६-२१। नियमसार ९५-१००।

को नहीं[१५२]। ऐसा कह करके तो आचार्य ने जैन दर्शन और अद्वैतवाद का अन्तर बहुत कम कर दिया है, और जैन दर्शन को अद्वैतवाद के निकट रख दिया है।

आचार्य कुन्दकुन्दकृत सर्वज्ञ की उक्त व्याख्या अपूर्व है और उन्हीं के कुछ अनुयायियों तक सीमित रही है। दिगम्बर जैन दार्शनिक अकलंकादि ने भी इसे छोड़ ही दिया है।

ज्ञान की स्व-पर-प्रकाशकता :

दार्शनिकों में यह एक विवाद का विषय रहा है, कि ज्ञान को स्वप्रकाशक, परप्रकाशक या स्वपरप्रकाशक माना जाए। वाचक ने इस चर्चा को ज्ञान के विवेचन में छेड़ा ही नहीं है। संभवतः आचार्य कुन्दकुन्द ही प्रथम जैन आचार्य हैं, जिन्होंने ज्ञान को स्वपरप्रकाशक मान कर इस चर्चा का सूत्रपात जैन दर्शन में किया। आचार्य कुन्दकुन्द के बाद के सभी आचार्यों ने आचार्य के इस मन्तव्य को एक स्वर से माना है।

आचार्य की इस चर्चा का सार नीचे दिया जाता है जिससे उनकी दलीलों का क्रम ध्यान में आ जाएगा—(नियमसार—१६०-१७०)।

प्रश्न—यदि ज्ञान को परद्रव्यप्रकाशक, दर्शन को आत्मा का—स्वद्रव्य का (जीव का) प्रकाशक और आत्मा को स्वपरप्रकाशक माना जाए तो क्या दोष है? (१६०)

उत्तर—यही दोष है, कि ऐसा मानने पर ज्ञान और दर्शन का अत्यन्त वैलक्षण्य होने से दोनों को अत्यन्त भिन्न मानना पड़ेगा। क्योंकि ज्ञान तो परद्रव्य को जानता है, दर्शन नहीं। (१६१)

दूसरी आपत्ति यह है, कि स्वपरप्रकाशक होने से आत्मा तो पर का भी प्रकाशक है। अतएव वह दर्शन से जो कि परप्रकाशक नहीं, भिन्न ही सिद्ध होगा। (१६२)

---

१५२ "जाणादि पस्सदि सव्वं ववहारणयेण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं॥' नियमसार १५८

अतएव मानना यह चाहिए, कि ज्ञान व्यवहार-नय से पर-प्रकाशक है, और दर्शन भी तथा आत्मा भी व्यवहार-नय से ही पर-प्रकाशक है, और दर्शन भी। (१६३)

किन्तु निश्चय-नय की अपेक्षा से ज्ञान स्व प्रकाशक है, और दर्शन भी तथा आत्मा स्वप्रकाशक है, और दर्शन भी है। (१६४)

प्रश्न—यदि निश्चय नय को ही स्वीकार किया जाए और कहा जाए कि केवल ज्ञानी आत्म-स्वरूप को ही जानता है, लोकालोक को नहीं तब क्या दोष है? (१६५)

उत्तर—जो मूर्त और अमूर्त को, जीव और अजीव को, स्व और सभी को जानता है, उसके ज्ञान को अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष कहा जाता है और जो पूर्वोक्त सकल द्रव्यों को उनके नाना पर्यायों के साथ नहीं जानता, उसके ज्ञान को परोक्ष कहा जाता है। अतएव यदि एकान्त निश्चय-नय का आग्रह रखा जाए तो केवल ज्ञानी को प्रत्यक्ष नहीं, किन्तु परोक्ष ज्ञान होता है, यह मानना पड़ेगा। (१६६—१६७)

प्रश्न—और यदि व्यवहार नय का ही आग्रह रख कर ऐसा कहा जाए कि केवल ज्ञानी लोकालोक को तो जानता है, किन्तु स्वद्रव्य आत्मा को नहीं जानता, तब क्या दोष होगा? (१६८)

उत्तर—ज्ञान ही तो जीव का स्वरूप है। अतएव पर द्रव्य को जानने वाला ज्ञान स्वद्रव्य आत्मा को न जाने, यह कैसे संभव है और यदि ज्ञान स्वद्रव्य आत्मा को नहीं जानता है, ऐसा आग्रह हो, तब यह मानना पड़ेगा, कि ज्ञान जीव स्वरूप नहीं, किन्तु उससे भिन्न है। वस्तुतः देखा जाए, तो ज्ञान ही आत्मा है और आत्मा ही ज्ञान है। अतएव व्यवहार और निश्चय दोनों के समन्वय से यही कहना उचित है, कि ज्ञान स्वपरप्रकाशक है और दर्शन भी। (१६९—१७०)

सम्यग्ज्ञान :

वाचक ने सम्यग्ज्ञान का अर्थ किया है—अव्यभिचारि, प्रशस्त और संगत। किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द ने सम्यग्ज्ञान की जो व्याख्या की है,

उसमें दार्शनिक प्रसिद्ध समारोप का व्यवच्छेद अभिप्रेत है। उन्होंने कहा है—

"संसयविमोहविब्भमविवज्जियं होदि सण्णाणं ॥"

—नियमसार ५१

संशय, विमोह और विभ्रम से वर्जित ज्ञान सम्यग्ज्ञान है।

एक दूसरी बात भी ध्यान देने योग्य है। विशेषकर बौद्ध आदि दार्शनिकों ने सम्यग्ज्ञान के प्रसंग में हेय और उपादेय शब्द का प्रयोग किया है। आचार्य कुन्दकुन्द भी हेयोपादेय तत्त्वों के अधिगम को सम्यग्ज्ञान कहते हैं।[१५३]

स्वभावज्ञान और विभावज्ञान :

वाचक ने पूर्व परम्परा के अनुसार मति, श्रुत, अवधि और मनः पर्याय ज्ञानों को क्षायोपशमिक और केवल को क्षायिक ज्ञान कहा है। किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द के दर्शन की विशेषता यह है, कि वे सर्वगम्य परिभाषा का उपयोग करते हैं। अतएव उन्होंने क्षायोपशमिक ज्ञानों के लिए विभाव ज्ञान और क्षायिक ज्ञान के लिए स्वभाव ज्ञान—इन शब्दों का प्रयोग किया है[१५४]। उनकी व्याख्या है, कि कर्मोपाधिवर्जित जो पर्याय हों, वे स्वाभाविक पर्याय हैं और कर्मोपाधिक जो पर्याय हो, वे वैभाविक पर्याय हैं[१५५]। इस व्याख्या के अनुसार शुद्ध आत्मा का ज्ञानोपयोग स्वभावज्ञान है और अशुद्ध आत्मा का ज्ञानोपयोग विभावज्ञान है।

प्रत्यक्ष-परोक्ष :

आचार्य कुन्दकुन्द ने वाचक की तरह प्राचीन आगमों की व्यवस्था के अनुसार ही ज्ञानों में प्रत्यक्षत्व-परोक्षत्व की व्यवस्था की है। पूर्वोक्त स्वपरप्रकाश की चर्चा के प्रसंग में प्रत्यक्ष-परोक्ष ज्ञान की जो व्याख्या दी गई है, वही प्रवचनसार (१.४०.४१,५४-५८) में भी है, किन्तु प्रवचनसार में उक्त व्याख्याओं को युक्ति से भी सिद्ध करने का

---

[१५३] "अधिगमभावो णाणं हेयोपादेयतच्चाणं।" नियमसार ५२। सुत्तपाहुड ५। नियमसार ३८।

[१५४] नियमसार १०,११,१२।

[१५५] नियमसार १५।

प्रयत्न किया है। उनका कहना है, कि दूसरे दार्शनिक इन्द्रियजन्य ज्ञानों को प्रत्यक्ष मानते हैं, किन्तु वह प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है? क्योंकि इन्द्रियाँ तो अनात्मरूप होने से परद्रव्य हैं। अतएव इन्द्रियों के द्वारा उपलब्ध वस्तु का ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इन्द्रियजन्य ज्ञान के लिए परोक्ष शब्द ही उपयुक्त है, क्योंकि पर से होने वाले ज्ञान ही को तो परोक्ष कहते हैं[१५६]।

ज्ञप्ति का तात्पर्य :

ज्ञान से अर्थ जानने का मतलब क्या है? क्या ज्ञान अर्थरूप हो जाता है अथवा ज्ञान और ज्ञेय का भेद मिट जाता है? या जैसा अर्थ का आकार होता है, वैसा आकार ज्ञान का हो जाता है? या ज्ञान अर्थ में प्रविष्ट हो जाता है? या अर्थ ज्ञान में प्रविष्ट हो जाता है? या ज्ञान अर्थ में उत्पन्न होता है? इन प्रश्नों का उत्तर आचार्य ने अपने ढंग से देने का प्रयत्न किया है।

आचार्य का कहना है, कि ज्ञानी ज्ञान स्वभाव है और अर्थ ज्ञेय स्वभाव। अतएव भिन्न स्वभाव होने से ये दोनों स्वतन्त्र हैं एक की वृत्ति दूसरे में नहीं है[१५७]। ऐसा कह करके वस्तुतः आचार्य ने यह बताया है, कि संसार में मात्र विज्ञानाद्वैत नहीं, बाह्यार्थ भी हैं। उन्होंने दृष्टान्त दिया है, कि जैसे चक्षु अपने में रूप का प्रवेश न होने पर भी रूप को जानती है, वैसे ही ज्ञान बाह्यार्थों को विषय करता है[१५८]। दोनों में विषय-विषयी भावरूप सम्बन्ध को छोड़ कर और कोई सम्बन्ध नहीं है। 'अर्थों में ज्ञान है' इसका तात्पर्य बतलाते हुए आचार्य ने इन्द्रनील मणि का दृष्टान्त दिया है, और कहा है, कि जैसे दूध के बर्तन में रखा हुआ इन्द्रनील मणि अपनी दीप्ति से दूध के रूप का अभिभव करके उसमें रहता है, वैसे ही ज्ञान भी अर्थों में है। तात्पर्य यह है, कि दूधगत मणि स्वयं द्रव्यतः सम्पूर्ण दूध में व्याप्त नहीं है, फिर भी उसकी दीप्ति के कारण समस्त दूध नील वर्ण का दिखाई देता है, उसी प्रकार ज्ञान सम्पूर्ण अर्थ में द्रव्यतः नहीं

---

[१५६] प्रवचनसार ५७,५८।

[१५७] प्रवचन० १ २८।

[१५८] प्रवचन० १.२८,२९।

होता है, तथापि विचित्र शक्ति के कारण अर्थ को जान लेता है। इसीलिए अर्थ में ज्ञान है, ऐसा कहा जाता है[१५९]। इसी प्रकार, यदि अर्थ में ज्ञान है, तो ज्ञान में भी अर्थ है, यह भी मानना उचित है। क्योंकि यदि ज्ञान में अर्थ नहीं, तो ज्ञान किसका होगा[१६०]? इस प्रकार ज्ञान और अर्थ का परस्पर में प्रवेश न होते हुए भी विषयविषयीभाव के कारण 'ज्ञान में अर्थ' और 'अर्थ में ज्ञान' इस व्यवहार की उपपत्ति आचार्य ने बतलाई है।

ज्ञान-दर्शन का यौगपद्य :

वाचक की तरह आचार्य कुन्दकुन्द ने भी केवली के ज्ञान और दर्शन का यौगपद्य माना है। विशेषता यह है, कि आचार्य ने यौगपद्य के समर्थन में दृष्टान्त दिया है, कि जैसे सूर्य के प्रकाश और ताप युगपद् होते हैं, वैसे ही केवली के ज्ञान और दर्शन का यौगपद्य है—

> "जुगवं वट्टइ णाणं केवलणाणिस्स दंसणं तहा
> दिणयर पयासतापं जह वट्टइ तह मुणेयव्वं ॥" नियमसार १५९।

सर्वज्ञ का ज्ञान :

आचार्य कुन्दकुन्द ने अपनी अभेद दृष्टि के अनुरूप निश्चय-दृष्टि से सर्वज्ञ की नयी व्याख्या की है और भेद-दृष्टि का अवलम्बन करने वालों के अनुकूल होकर व्यवहार-दृष्टि से सर्वज्ञ की वही व्याख्या की है, जो आगमों में तथा वाचक के तत्त्वार्थ में है। उन्होंने कहा है—

> "जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं।
> केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ॥"
>
> —नियमसार १५८

व्यवहार-दृष्टि से कहा जाता है, कि केवली सभी द्रव्यों को जानते हैं, किन्तु परमार्थतः वह आत्मा को ही जानता है।

सर्वज्ञ के व्यावहारिक ज्ञान की वर्णना करते हुए उन्होंने इस बात को बलपूर्वक कहा है, कि त्रैकालिक सभी द्रव्यों और पर्यायों का

---

[१५९] प्रवचन० १.३०।

[१६०] वही ३१।

ज्ञान सर्वज्ञ को युगपद् होता है, ऐसा ही मानना चाहिए[१६१]। क्योंकि यदि वह त्रैकालिक द्रव्यों और उनके पर्यायों को युगपद् न जानकर क्रमशः जानेगा, तब तो वह किसी एक द्रव्य को भी उनके सभी पर्यायों के साथ नहीं जान सकेगा[१६२]। और जब एक ही द्रव्य को उसके अनन्त पर्यायों के साथ नहीं जान सकेगा, तो वह सर्वज्ञ कैसे होगा[१६३]? दूसरी बात यह भी है, कि यदि अर्थों की अपेक्षा करके ज्ञान क्रमशः उत्पन्न होता है, ऐसा माना जाए, तब कोई ज्ञान नित्य, क्षायिक और सर्व-विषयक सिद्ध होगा नहीं[१६४]। यही तो सर्वज्ञ-ज्ञान का माहात्म्य है, कि वह नित्य त्रैकालिक सभी विषयों को युगपत् जानताहै[१६५]।

किन्तु जो पर्याय अनुत्पन्न हैं और विनष्ट हैं, ऐसे असद्भूत पर्यायों को केवलज्ञानी किस प्रकार जानता है? इस प्रश्न का उत्तर उन्होंने दिया है, कि समस्त द्रव्यों के सद्भूत और असद्भूत सभी पर्याय विशेष रूप से वर्तमानकालिक पर्यायों की तरह स्पष्ट प्रतिभासित होते हैं[१६६]। यही तो उस ज्ञान की दिव्यता है, कि वह अजात और नष्ट दोनों पर्यायों को जान लेता है[१६७]।

मतिज्ञान :

आचार्य कुन्दकुन्द ने मतिज्ञान के भेदों का निरूपण प्राचीन परम्परा के अनुकूल अवग्रह आदि रूप से करके ही संतोष नहीं माना, किन्तु अन्य प्रकार से भी किया है। वाचक ने एक जीव में अधिक से अधिक चार ज्ञानों का यौगपद्य मानकर भी कहा है, कि उन चारों का उपयोग तो क्रमशः ही होगा[१६८]। अतएव यह तो निश्चित है, कि वाचक ने

[१६१] प्रवचन० १.४७।
[१६२] प्रवचन० १.४८।
[१६३] वही १.४९।
[१६४] वही १.५०।
[१६५] वही १.५१।
[१६६] प्रवचन० १.३७,३८।
[१६७] वही १.३९।
[१६८] तत्त्वार्थ भा० १.३१।

मतिज्ञान आदि के लब्धि और उपयोग ऐसे दो भेदों को स्वीकार किया ही है। किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द ने मतिज्ञान के उपलब्धि, भावना और उपयोग ये तीन भेद भी किए हैं[१६९]। प्रस्तुत में उपलब्धि, लब्धि-समानार्थक नहीं है। वाचक का मति उपयोग-उपलब्धि शब्द से विवक्षित जान पड़ता है। इन्द्रियजन्य ज्ञानों के लिए दार्शनिकों में उपलब्धि शब्द प्रसिद्ध ही है। उसी शब्द का प्रयोग आचार्य ने उसी अर्थ में प्रस्तुत किया है। इन्द्रियजन्य ज्ञान के बाद मनुष्य उपलब्ध विषय में संस्कार दृढ़ करने के लिए जो मनन करता है, वह भावना है। इस ज्ञान में मन की मुख्यता है। इसके बाद उपयोग है। यहाँ उपयोग शब्द का अर्थ केवल ज्ञान-व्यापार नहीं, किन्तु भावित विषय में आत्मा की तन्मयता ही उपयोग शब्द से आचार्य को इष्ट है, यह जान पड़ता है।

श्रुतज्ञान :

वाचक ने 'प्रमाणनयैरधिगमः' (१.६) इस सूत्र में नयों को प्रमाण से पृथक् रखा है। वाचक ने पाँच ज्ञानों के साथ प्रमाणों का अभेद तो बताया ही है[१७०], किन्तु नयों को किस ज्ञान में समाविष्ट करना, इसकी चर्चा नहीं की है। आचार्य कुन्दकुन्द ने श्रुत के भेदों की चर्चा करते हुए नयों को भी श्रुत का एक भेद बतलाया है। उन्होंने श्रुत के भेद इस प्रकार किए हैं—लब्धि, भावना, उपयोग और नय[१७१]।

आचार्य ने सम्यग्दर्शन की व्याख्या करते हुए कहा है, कि आप्त-आगम और तत्त्व की श्रद्धा सम्यग्दर्शन है[१७२]। आप्त के लक्षण में अन्य गुणों के साथ क्षुधा-तृषा आदि का अभाव भी बताया है। अर्थात् उन्होंने आप्त की व्याख्या दिगम्बर मान्यता के अनुसार की है[१७३]। आगम की

---

[१६९] पंचास्ति० ४२।

[१७०] तत्त्वार्थ० १.१०।

[१७१] पंचा० ४३।

[१७२] नियमसार ५।

[१७३] नियमसार ६।

व्याख्या में उन्होंने वचन को पूर्वापरदोषरहित कहा है[१७४], उस से उनका तात्पर्य दार्शनिकों के पूर्वापर विरोध दोष के राहित्य से है।

नय-निरूपण :

व्यवहार और निश्चय—आचार्य कुन्दकुन्द ने नयों के नैगम आदि भेदों का विवरण नहीं किया है। किन्तु आगमिक व्यवहार और निश्चय नय का स्पष्टीकरण किया है और उन दोनों नयों के आधार से मोक्षमार्ग का और तत्त्वों का पृथक्करण किया है। आगम में निश्चय और व्यवहार की जो चर्चा है, उस का निर्देश हमने पूर्व में किया है। निश्चय और व्यवहार की व्याख्या आचार्य ने आगमानुकूल ही की है, किन्तु उन नयों के आधार से विचारणीय विषयों की अधिकता आचार्य के ग्रन्थों में स्पष्ट है। उन विषयों में आत्मा आदि कुछ विषय तो ऐसे हैं, जो आगम में भी हैं, किन्तु आगमिक वर्णन में यह नहीं बताया गया, कि यह वचन अमुक नय का है। आचार्य के विवेचन के प्रकाश में यदि आगमों के उन वाक्यों का बोध किया जाए, तो यह स्पष्ट हो जाता है, कि आगम के वे वाक्य कौन से नय के आश्रय से प्रयुक्त हुए हैं। उक्त दो नयों की व्याख्या करते हुए आचार्य ने कहा है—

"ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणयो।"
—समयसार १३

व्यवहार नय अभूतार्थ है और शुद्ध अर्थात् निश्चय नय भूतार्थ है।

तात्पर्य इतना ही है, कि वस्तु के पारमार्थिक तात्त्विक शुद्ध स्वरूप का ग्रहण निश्चय नय से होता है और अशुद्ध अपारमार्थिक या लौकिक स्वरूप का ग्रहण व्यवहार से होता है। वस्तुतः छह द्रव्यों में जीव और पुद्गल इन दो द्रव्यों के विषय में सांसारिक जीवों को भ्रम होता है। जीव संसारावस्था में प्रायः पुद्गल से भिन्न उपलब्ध नहीं होता है। अतएव साधारण लोग जीव में अनेक ऐसे धर्मों का अध्यास कर देते हैं, जो वस्तुतः उसके नहीं होते। इसी प्रकार पुद्गल के विषय में भी विपर्यास कर देते

---

[१७४] नियमसार ८, १८६।

हैं। इसी विपर्यास की दृष्टि से व्यवहार को अभूतार्थग्राही कहा गया है और निश्चय को भूतार्थग्राही। परन्तु आचार्य इस बात को भी मानते ही हैं, कि विपर्यास भी निर्मूल नहीं है। जीव अनादि काल से मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति इन तीनों परिणामों से परिणत होता है[१७५]। इन्हीं परिणामों के कारण यह संसार का सारा विपर्यास है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। यदि हम संसार का अस्तित्व मानते हैं, तो व्यवहार नय के विषय का भी अस्तित्व मानना पड़ेगा। वस्तुतः निश्चय नय भी तभी तक एक स्वतन्त्र नय है, जब तक उसका प्रतिपक्षी व्यवहार विद्यमान है। यदि व्यवहार नय नहीं, तो निश्चय भी नहीं। यदि संसार नहीं तो मोक्ष भी नहीं। संसार एवं मोक्ष जैसे परस्पर सापेक्ष हैं, वैसे ही व्यवहार और निश्चय भी परस्पर सापेक्ष हैं[१७६]। आचार्य कुन्दकुन्द ने परम तत्त्व का वर्णन करते हुए इन दोनों नयों की सापेक्षता को ध्यान में रख कर ही कह दिया है, कि वस्तुतः तत्त्व का वर्णन न निश्चय से हो सकता है, न व्यवहार से। क्योंकि ये दोनों नय अमर्यादित को, अवाच्य को, मर्यादित और वाच्य बनाकर वर्णन करते हैं। अतएव वस्तु का परम शुद्ध स्वरूप तो पक्षातिक्रान्त है। वह न व्यवहारग्राह्य है और न निश्चयग्राह्य। जैसे जीव को व्यवहार के आश्रय से बद्ध कहा जाता है, और निश्चय के आश्रय से अबद्ध कहा जाता है। स्पष्ट है, कि जीव में अबद्ध का व्यवहार भी बद्ध की अपेक्षा से हुआ है। अतएव आचार्य ने कह दिया, कि वस्तुतः जीव न बद्ध है और न अबद्ध, किन्तु पक्षातिक्रान्त है। यही समयसार है, यही परमात्मा है[१७७]। व्यवहार नय के निराकरण

---

[१७५] समयसार ९६।

[१७६] समयसार० तात्पर्य० पृ० ६७।

[१७७] "कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं।
पक्खातिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो॥"

—समयसार १५२

"दोण्णवि णयाण भणियं जाणइ णवरं तु समयपडिबद्धो।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचि वि णयपक्खपरिहीणो॥"

—समय० १५३

के लिए निश्चय नय का अवलम्बन है, किन्तु निश्चयनयावलम्बन ही कर्तव्य की इतिश्री नहीं है। उसके आश्रय से आत्मा के स्वरूप का बोध करके उसे छोड़ने पर ही तत्त्व का साक्षात्कार संभव है।

आचार्य के प्रस्तुत मत के साथ नागार्जुन के निम्न मत की तुलना करनी चाहिए—

"शून्यता सर्वदृष्टीनां प्रोक्ता निःसरणं जिनैः।
येषां तु शून्यतादृष्टिस्तानसाध्यान् बभाषिरे ॥"

—माध्य० १३.८

शून्यमिति न वक्तव्यमशून्यमिति वा भवेत्।
उभयं नोभयं चेति प्रज्ञप्त्यर्थं तु कथ्यते ॥"

—माध्य० २२.११

प्रसंग से नागार्जुन और आचार्य कुन्दकुन्द की एक अन्य बात भी तुलनीय है, जिसका निर्देश भी उपयुक्त है। आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है—

"जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा दु गाहेदुं।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवदेसणमसक्कं ॥"

—समयसार ८

ये ही शब्द नागार्जुन के कथन में भी हैं—

"नान्यया भाषया म्लेच्छः शक्यो ग्राहयितुं यथा।
न लौकिकमृते लोकः शक्यो ग्राहयितुं तथा ॥"

—माध्य० पृ० ३७०

आचार्य ने अनेक विषयों की चर्चा उक्त दोनों नयों के आश्रय से की है, जिनमें से कुछ ये हैं—ज्ञानआदि गुण और आत्मा का सम्बन्ध[१७८], आत्मा और देह का सम्बन्ध[१७९], जीव और अध्यवसाय, गुणस्थान आदि सम्बन्ध[१८०], मोक्षमार्ग ज्ञानादि[१८१], आत्मा[१८२], कर्तृत्व[१८३], आत्मा

[१७८] समय० ७,१६,३० से।

[१७९] समयसार ३२ से।

[१८०] समयसार ६१ से।

[१८१] पंचा० १६७ से। नियम० १८ से। दर्शन प्रा० २०।

[१८२] समय० ६,१६ इत्यादि; नियम ४६।

[१८३] समय० २४,६० आदि; नियम ०१८।

और कर्म, क्रियाभोग[१८४]; बद्धत्व-अबद्धत्व[१८५] मोक्षोपयोगी लिंग[१८६]; बंध-विचार[१८७]; सर्वज्ञत्व[१८८] एवं पुद्गल[१८९] आदि।

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर :

सिद्धसेन दिवाकर को 'सन्मति प्रकरण' की प्रस्तावना में (पृ०४३) पण्डित सुखलाल जी और पण्डित बेचरदास जी ने विक्रम की पांचवी शताब्दी के आचार्य माने हैं। उक्त पुस्तक के अंग्रेजी संस्करण में मैंने सूचित किया था, कि धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक आदि ग्रन्थ के प्रकाश में सिद्धसेन के समय को शायद परिवर्तित करना पड़े, पांचवी के स्थान में छठी-सातवीं शताब्दी में सिद्धसेन की स्थिति मानना पड़े। किन्तु अभी-अभी पण्डित सुखलाल जी ने सिद्धसेन के समय की पुनः चर्चा की है[१९०]। उसमें उन्होंने सिद्ध किया है, कि सिद्धसेन को पांचवी शताब्दी का ही विद्वान् मानना चाहिए। उनका मुख्य तर्क है, कि पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि में सिद्धसेन की द्वात्रिंशिका का उद्धरण है[१९१]। अतएव पांचवी के उत्तरार्ध से छठी के पूर्वार्ध तक में माने जाने वाले पूज्यपाद से पूर्ववर्ती होने के कारण सिद्धसेन को विक्रम पांचवी शताब्दी का ही विद्वान् मानना चाहिए। इस तर्क के रहते, अब सिद्धसेन के समय की उत्तरावधि पांचवी शताब्दी से आगे नहीं बढ़ सकती। उन्हें पांचवीं शताब्दी से अर्वाचीन नहीं माना जा सकता।

वस्तुतः सिद्धसेन के समय की चर्चा के प्रसंग में न्यायावतारगत कुछ शब्दों और सिद्धान्तों को लेकर प्रो० जेकोबी ने यह सिद्ध करने की

---

[१८४] समय० ३८६ से।

[१८५] समय० १५१।

[१८६] समय० ४४४।

[१८७] प्रवचन २.९७।

[१८८] नियम० १५८।

[१८९] नियम० २९।

[१९०] 'श्री सिद्धसेन दिवाकरना समयनो प्रश्न' भारतीय विद्या वर्ष ३ पृ० १५२

[१९१] सर्वार्थसिद्धि ७.१३ में सिद्धसेन की तीसरी द्वात्रिंशिका का १६ वाँ पद्य [illegible]त है।

चेष्टा की थी,[१९२] कि सिद्धसेन धर्मकीर्ति के बाद हुए हैं। प्रो० वैद्य ने भी उन्हीं का अनुसरण किया[१९३]। कुछ विद्वानों ने न्यायावतार के नवम श्लोक के लिए कहा, कि वह समन्तभद्रकृत रत्नकरण्ड का है, अतएव सिद्धसेन समन्तभद्र के बाद हुए। इस प्रकार सिद्धसेन के समय के निश्चय में न्यायावतार ने काफी विवाद खड़ा किया है। अतएव न्यायावतार का विशेष रूप से तुलनात्मक अध्ययन करके निश्चयपूर्वक यह कहा जा सकता है, कि सिद्धसेन को धर्मकीर्ति के पहले का विद्वान् मानने में कोई समर्थ बाधक प्रमाण नहीं है। रत्नकरण्ड के विषय में तो अब प्रो० हीरालाल ने यह सिद्ध किया है, कि वह समन्तभद्रकृत नहीं है,[१९४] फिर उसके आधार से यह कहना, कि सिद्धसेन समन्त भद्र के बाद हुए, युक्तियुक्त नहीं हो सकता है।

अतएव पण्डित सुखलाल जी के द्वारा निर्णीत विक्रम की पांचवी शताब्दी में सिद्धसेन की स्थिति निर्बाध प्रतीत होती है।

सिद्धसेन की प्रतिभा :

आचार्य सिद्धसेन के जीवन और लेखन के सम्बन्ध में 'सन्मति तर्क प्रकरणम्' के समर्थ सम्पादकों ने पर्याप्त मात्रा में प्रकाश डाला है[१९५]। जैन दार्शनिक साहित्य की एक नयी धारा प्रवाहित करने में सिद्धसेन सर्व प्रथम हैं। इतना ही नहीं, किन्तु जैन साहित्य के भंडार में संस्कृत भाषा में काव्यमय तर्क-पूर्ण स्तुति-साहित्य को प्रस्तुत करने में भी सिद्धसेन सर्व-प्रथम हैं। पण्डित सुखलालजी ने उनको प्रतिभा-मूर्ति कहा है, यह अत्युक्ति नहीं। सिद्धसेन का प्राकृत ग्रन्थ सन्मति देखा जाए, या उनकी

---

[१९२] समराइच्चकहा, प्रस्तावना पृ० ३।

[१९३] न्यायावतार प्रस्तावना पृ० १८।

[१९४] अनेकान्त वर्ष० ८ किरण १-३।

[१९५] 'सन्मति प्रकरण' (गुजराती) की प्रस्तावना। उसी का अंग्रेजी-संस्करण-जैन श्वे० कोन्फरन्स द्वारा प्रकाशित। 'प्रतिभामूर्ति हुआ है, सिद्धसेन'—भारतीय विद्या तृतीय भाग पृ० ९।

द्वात्रिंशिकाएँ देखी जाएँ, पद-पद पर सिद्धसेन की प्रतिभा का पाठक को साक्षात्कार होता है। जैन साहित्य की जो न्यूनता थी, उसी की पूर्ति की ओर उनकी प्रतिभा का प्रयाण हुआ है। चर्वित-चर्वण उन्होंने नहीं किया। टीकाएँ उन्होंने नहीं लिखीं, किन्तु समय की गति-विधि को देख कर जैन आगमिक साहित्य से ऊपर उठ कर तर्क-संगत अनेकान्तवाद के समर्थन में उन्होंने अपना बल लगाया। फलस्वरूप 'सन्मति—तर्क' जैसा शासन-प्रभावक ग्रन्थ उपलब्ध हुआ।

सन्मति तर्क में अनेकान्त-स्थापना :

'नागार्जुन, असंग, वसुवन्धु और दिग्नाग ने भारतीय दार्शनिक परम्परा को एक नयी गति प्रदान की है। नागार्जुन ने तत्कालीन बौद्ध और बौद्धेतर सभी दार्शनिकों के सामने अपने शून्यवाद को उपस्थित करके वस्तु को सापेक्ष सिद्ध किया। उनका कहना था, कि वस्तु न भाव रूप है, न अभाव-रूप, न भावाभाव-रूप, और न अनुभय-रूप। वस्तु को कैसा भी विशेषण देकर उसका रूप वताया नहीं जा सकता, वस्तु निःस्वभाव है, यही नागार्जुन का मन्तव्य था। असङ्ग और वसुवन्धु इन दोनों भाइयों ने वस्तु-मात्र को विज्ञान-रूप सिद्ध किया और वाह्य जड़ पदार्थों का अपलाप किया। वसुवन्धु के शिष्य दिग्नाग ने भी उनका समर्थन किया और समर्थन करने के लिए बौद्ध दृष्टि से नवीन प्रमाण शास्त्र की भी नींव रखी। इसी कारण से वह बौद्ध न्यायशास्त्र का पिता कहा जाता है। उसने प्रमाण-शास्त्र के बल पर सभी वस्तुओं की क्षणिकता के बौद्ध सिद्धान्त का भी समर्थन किया।

बौद्ध विद्वानों के विरुद्ध में भारतीय सभी दार्शनिकों ने अपने-अपने पक्ष की सिद्धि करने के लिए पूरा बल लगाया। नैयायिक वात्स्यायन ने नागार्जुन और अन्य दार्शनिकों का खण्डन करके आत्मा आदि प्रमेयों की भावरूपता और सभी का पार्थक्य सिद्ध किया। मीमांसक शबर ने विज्ञानवाद और शून्यवाद का निरास किया तथा वेदापौरुषेयता सिद्ध की। वात्स्यायन और शबर दोनों ने बौद्धों के 'सर्वं क्षणिकम्' सिद्धान्त की आलोचना करके आत्मा आदि पदार्थों की नित्यता की रक्षा की। सांख्यों ने

भी अपने पक्ष की रक्षा के लिए प्रयत्न किया। इन सभी को अकेले दिग्नाग ने उत्तर दे करके फिर विज्ञानवाद का समर्थन किया तथा बौद्ध-संमत सर्व वस्तुओं की क्षणिकता का सिद्धान्त स्थिर किया।

ईसा की प्रथम शताब्दी से लेकर पांचवी शताब्दी तक की इस दार्शनिकवादों की पृष्ठभूमि को यदि ध्यान में रखें, तो प्रतीत होगा, कि जैन दार्शनिक सिद्धसेन का आविर्भाव यह एक आकस्मिक घटना नहीं, किन्तु जैन साहित्य के क्षेत्र में भी दिग्नाग के जैसे एक प्रतिभा-सम्पन्न विद्वान् की आवश्यकता ने ही प्रतिभा-मूर्ति सिद्धसेन को उत्पन्न किया है।

आगमगत अनेकान्तवाद और स्याद्वाद का वर्णन पूर्व में हो चुका है। उससे पता चलता है, कि भगवान् महावीर का मानस अनेकान्तवादी था। आचार्यो ने भी अनेकान्तवाद को कैसे विकसित किया, यह भी मैंने बताया है। आचार्य सिद्धसेन ने जब अनेकान्तवाद और स्याद्वाद के प्रकाश में उपर्युक्त दार्शनिकों के वाद-विवादों को देखा, तब उनकी प्रतिभा की स्फूर्ति हुई और उन्होंने अनेकान्तवाद की स्थापना का श्रेष्ठ अवसर समझकर सन्मति-तर्क नामक ग्रन्थ लिखा। वे प्रबल वादी तो थे ही। इस बात की साक्षी उनकी वादद्वात्रिंशिकाएं (७ और ८) दे रही हैं। अतएव उन्होंने जैन सिद्धान्तों को तार्किक भूमिका पर ले जा करके एक वादी की कुशलता से दार्शनिकों के बीच अनेकान्तवाद की स्थापना की। सिद्धसेन की विशेषता यह है, कि उन्होंने तत्कालीन नाना वादों को सन्मति तर्क में विभिन्न नयवादों में सन्निविष्ट कर दिया। अद्वैतवादों को उन्होंने द्रव्यार्थिक नय के संग्रहनयरूप प्रभेद में समाविष्ट किया। क्षणिक-वादी बौद्धों की दृष्टि को सिद्धसेन ने पर्यायनयान्तर्गत ऋजुसूत्रनयानुसारी बताया। सांख्य दृष्टि का समावेश द्रव्यार्थिक नय में किया और काणाद-दर्शन को उभयनयाश्रित सिद्ध किया। उनका तो यहाँ तक कहना है, कि संसार में जितने वचन प्रकार हो सकते हैं, जितने दर्शन एवं नाना मतवाद हो सकते हैं, उतने ही नयवाद हैं। उन सब का समागम ही अनेकान्त-वाद है—

"जावइया वयणवहा तावइया चेव होन्ति णयवाया।
जावइया णयवाया तावइया चेव परसमया॥

जं काविलं दरिसणं एयं दव्वट्ठियस्स वत्तव्वं।
सुद्धोअणतणअस्स उ परिसुद्धो पज्जवविअप्पो ॥
दोहि वि णयेहि णीयं सत्थमुलूएण तहवि मिच्छत्तं।
जं सविसअप्पहाणत्तणेण अण्णोण्णनिरवेक्खा ।"

—सन्मति० ३.४७-४६

सिद्धसेन ने कहा है, कि सभी नयवाद, सभी दर्शन मिथ्या हैं, यदि वे एक दूसरे को परस्पर अपेक्षा न करते हों और अपने मत को ही सर्वथा ठीक समझते हों। संग्रहनयावलम्बी सांख्य या पर्यायनयावलम्बी बौद्ध अपनी दृष्टि से वस्तु को नित्य या अनित्य कहें, तब तक वे मिथ्या नहीं, किन्तु सांख्य जब यह आग्रह रखे, कि वस्तु सर्वथा नित्य ही है और वह किसी भी प्रकार अनित्य हो ही नहीं सकती, या बौद्ध यदि यह कहे कि वस्तु सर्वथा क्षणिक ही है, वह किसी भी प्रकार से अक्षणिक हो ही नहीं सकती, तब सिद्धसेन का कहना है, कि उन दोनों ने अपनी मर्यादा का अतिक्रमण किया है, अतएव वे दोनों मिथ्यावादी हैं (सन्मति १.२८)। सांख्य की दृष्टि संग्रहावलम्बी है, अभेदगामी है। अतएव वह वस्तु को नित्य कहे, यह स्वाभाविक है, उसकी वही मर्यादा है, और बौद्ध पर्यायानुगामी या भेददृष्टि होने से वस्तु को क्षणिक या अनित्य कहे, यह भी स्वाभाविक है, उसकी वही मर्यादा है। किन्तु वस्तु का सम्पूर्ण दर्शन न तो केवल द्रव्य-दृष्टि में पर्यवसित है और न पर्यायदृष्टि में (सन्मति १०.१२,१३); अतएव सांख्य या बौद्ध को परस्पर मिथ्यावादी कहने का स्वातन्त्र्य नहीं। नानावाद या दर्शन अपनी-अपनी दृष्टि से वस्तु-तत्त्व का दर्शन करते हैं, इसलिए नयवाद कहे जाते हैं। किन्तु वे तो परमत के निराकरण में भी तत्पर हैं, इसलिए मिथ्या हैं (सन्मति १.२८)। द्रव्यार्थिक नय सम्यग् है, किन्तु तदवलम्वी सांख्यदर्शन मिथ्या है, क्योंकि उसने उस नय का आश्रय लेकर एकान्त नित्य पक्ष का अवलम्बन लिया। इसी प्रकार पर्यायनय के सम्यक् होते हुए भी यदि बौद्ध उसका आश्रय लेकर एकान्त अनित्य पक्ष को ही मान्य रखे, तब वह मिथ्यावाद बन जाता है। इसीलिए सिद्धसेन ने कहा है, कि जैसे वैडूर्यमणि जब तक पृथक्-पृथक् होते हैं, वैडूर्यमणि होने के कारण कीमती होते हुए भी

उनको रत्नावली हार नहीं कहा जाता, किन्तु वे ही किसी एक सूत्र में सुव्यवस्थित हो जाते हैं, तब रत्नावली हार की संज्ञा को प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार नयवाद भी जब तक अपने-अपने मत का ही समर्थन करते हैं और दूसरों के निराकरण में ही तत्पर रहते हैं, वे सम्यग्दर्शन नाम के योग्य नहीं। किन्तु अनेकान्तवाद, जो कि उन नयवादों के समूह रूप है, सम्यग्दर्शन है। क्योंकि अनेकान्तवाद में सभी नयवादों को वस्तु-दर्शन में अपना-अपना स्थान दिया गया है, वे सभी नयवाद एकसूत्रबद्ध हो गए हैं, उनका पारस्परिक विरोध लुप्त हो गया है (सन्मति १.२२—२५), अतएव अनेकान्तवाद वस्तु का सम्पूर्ण दर्शन होने से सम्यग्दर्शन है। इस प्रकार हम देखते हैं, कि सिद्धसेन' ने अनेक युक्तियों से अनेकान्तवाद को स्थिर करने की चेष्टा सन्मति तर्क में की है।

जैन न्यायशास्त्र की आधार-शिला :

जैसे दिग्नाग ने बौद्धसंमत विज्ञानवाद और एकान्त क्षणिकता को सिद्ध करने के लिए पूर्व परम्परा में थोड़ा बहुत परिवर्तन करके बौद्ध प्रमाणशास्त्र को व्यवस्थित रूप दिया, उसी प्रकार सिद्धसेन ने भी न्यायावतार में जैन न्यायशास्त्र की नींव न्यायावतार की रचना करके रखी[१९६]। जैसे दिग्नाग ने अपनी पूर्व परंपरा में परिवर्तन भी किया है, उसी प्रकार न्यायावतार में भी सिद्धसेन ने पूर्व परम्परा का सर्वथा अनुकरण न करके अपनी स्वतन्त्र बुद्धि एवं प्रतिभा से काम लिया है।

न्यायावतार की तुलना करते हुए मैंने न्यायावतार की रचना का आधार क्या है? उसका निर्देश, उपलब्ध सामग्री के आधार पर, यत्र-तत्र किया है। उससे इतना तो स्पष्ट है, कि सिद्धसेन ने जैन दृष्टिकोण को अपने सामने रखते हुए भी लक्षण-प्रणयन में दिग्नाग के ग्रन्थों का पर्याप्त मात्रा में उपयोग किया है और स्वयं सिद्धसेन के लक्षणों

---

[१९६] विशेष विवेचन के लिए देखो, पण्डित सुखलालजी कृत न्यायावतारविवेचन की प्रस्तावना।

का उपयोग अनुगामी जैनाचार्यों ने अत्यधिक मात्रा में किया है, यह भी स्पष्ट है।

आगम युग के जैन दर्शन के पूर्वोक्त प्रमाण तत्त्व के विवरण से यह स्पष्ट है, कि आगम में मुख्यतः चार प्रमाणों का वर्णन आया है। किन्तु आचार्य उमास्वाति ने प्रमाण के दो भेद-प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे किए और उन्हीं दो में पांच ज्ञानों को विभक्त कर दिया। आचार्य सिद्धसेन ने भी प्रमाण तो दो ही रखे—प्रत्यक्ष और परोक्ष। किन्तु उनके प्रमाण-निरूपण में जैन परम्परा-संमत पांच ज्ञानों की मुख्यता नहीं। किन्तु लोकसंमत प्रमाणों की मुख्यता है। उन्होंने प्रत्यक्ष की व्याख्या में लौकिक और लोकोत्तर दोनों प्रत्यक्षों का समावेश कर दिया है और परोक्ष में अनुमान और आगम का। इस प्रकार सिद्धसेन ने आगम में मुख्यतः वर्णित चार प्रमाणों का नहीं, किन्तु सांख्य और प्राचीन बौद्धों का अनुकरण करके प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम का वर्णन किया है।

न्यायशास्त्र या प्रमाणशास्त्र में दार्शनिकों ने प्रमाण, प्रमाता, प्रमेय और प्रमिति—इन चार तत्त्वों के निरूपण को प्राधान्य दिया है। आचार्य सिद्धसेन ही प्रथम जैन दार्शनिक हैं, जिन्होंने न्यायावतार जैसी छोटी-सी कृति में जैनदर्शन-संमत इन चारों तत्त्वों की व्याख्या करने का सफल व्यवस्थित प्रयत्न किया है। उन्होंने प्रमाण का लक्षण किया है, और उसके भेद-प्रभेदों का भी लक्षण किया है। विशेषतः अनुमान के विषय में तो उसके हेत्वादि सभी अंग-प्रत्यंगों की संक्षेप में मार्मिक चर्चा की है।

जैन न्यायशास्त्र की चर्चा प्रमाणनिरूपण में ही उन्होंने समाप्त नहीं की, किन्तु नयों का लक्षण और विषय बताकर जैन न्यायशास्त्र की विशेषता की ओर भी दार्शनिकों का ध्यान खींचा है।

इस छोटी-सी कृति में सिद्धसेन स्वमतानुसार न्यायशास्त्रोपयोगी प्रमाणादि पदार्थों की व्याख्या करके ही सन्तुष्ट नहीं हुए, किन्तु परमत का निराकरण भी संक्षेप में करने का उन्होंने प्रयत्न किया है। लक्षण-प्रणयन में दिग्नाग जैसे बौद्धों का यत्र-तत्र अनुकरण करके भी उन्हीं के

'सर्वमालम्बने भ्रान्तम्' तथा पक्षाप्रयोग के सिद्धान्तों का युक्तिपूर्वक खण्डन किया है। बौद्धों ने जो हेतु-लक्षण किया था, उसके स्थान में अन्तर्व्याप्ति के बौद्ध सिद्धान्त से ही फलित होने वाला 'अन्यथानुपपत्ति-रूप' हेतुलक्षण अपनाया, जो आज तक जैनाचार्यों के द्वारा प्रमाणभूत माना जाता है। इस प्रकार सिद्धसेन ने अनेकान्तवाद में और तर्क एवं न्यायवाद अनेक मौलिक देन दी हैं, जिनका यहाँ पर संक्षेप में ही उल्लेख किया गया है।

**

पुरातनैर्या नियता व्यवस्थितिस्तथैव सा किं परिचिन्त्य सेत्स्यति।
तथेति वक्तुं मृतरूढगौरवादहं न जातः प्रथयन्तु विद्विषः॥

पुराने पुरुषों ने जो व्यवस्था निश्चित की है, वह विचार की कसौटी पर क्या वैसी ही सिद्ध होती है? यदि समीचीन सिद्ध हो, तो हम उसे समीचीनता के नाम पर मान सकते हैं, प्राचीनता के नाम पर नहीं। यदि वह समीचीन सिद्ध नहीं होती, तो केवल मरे हुए पुरुषों के झूठे गौरव के कारण 'हाँ में हाँ' मिलाने के लिए मैं उत्पन्न नहीं हुआ हूँ। मेरी इस सत्य-प्रियता के कारण यदि विरोधी बढ़ते हैं, तो बढ़ें।

वहुप्रकाराः स्थितयः परस्परं विरोधयुक्ताः कथमाशु निश्चयः ।
विशेषसिद्धावियमेव नेति वा पुरातन-प्रेमजडस्य युज्यते ॥

पुरानी परम्पराएँ अनेक प्रकार की हैं, उनमें परस्पर विरोध भी है। अतः बिना समीक्षा किए प्राचीनता के नाम पर, यों ही झटपट निर्णय नहीं दिया जा सकता। किसी कार्य विशेष की सिद्धि के लिए "यही प्राचीन व्यवस्था ठीक है, अन्य नहीं' यह वात केवल पुरातनप्रेमी जड़ ही कह सकते हैं।

जनोऽयमन्यस्य स्वयं पुरातनः पुरातनैरेव समो भविष्यति ।
पुरातनेष्वित्यनवस्थितेषु कः पुरातनोक्तान्यपरीक्ष्य रोचयेत् ॥

आज जिसे हम नवीन कहकर उड़ा देना चाहते हैं, वही व्यक्ति मरने के बाद नयी पीढ़ी के लिए पुराना हो जाएगा, जब कि प्राचीनता इस प्रकार अस्थिर है, तब विना विचार किए पुरानी वातों को कौन पसन्द कर सकता है ?

यदेव किञ्चित् विषमप्रकल्पितं पुरातनैरुक्तमिति प्रशस्यते ।
विनिश्चिताप्यद्य मनुष्यवाक्कृतिर्न पठ्यते यत्स्मृति-मोह एव सः ॥

कितनी ही असम्बद्ध और असंगत बातें प्राचीनता के नाम पर, प्रशंसित हो रही हैं, और चल रही हैं। परन्तु आज के मनुष्य की प्रत्यक्ष सिद्ध बोधगम्य और युक्तिप्रवण रचना भी नवीनता के कारण दुरदुराई जा रही है। यह तो प्रत्यक्ष के ऊपर अतीत की स्मृति की विजय है। यह मात्र स्मृति-मूढ़ता है।

—आचार्य सिद्धसेन दिवाकर

परिशिष्ट
एक

दार्शनिक साहित्य विकास-क्रम

दार्शनिक साहित्य का विकास-क्रम

जैन दर्शन के साहित्यिक विकास को चार युगों में विभक्त किया जा सकता है।

१. आगम-युग—भगवान महावीर के निर्वाण से लेकर करीब एक हजार वर्ष का अर्थात् विक्रम पांचवी शताब्दी तक का।

२. अनेकान्त-व्यवस्था-युग—विक्रम पांचवी शताब्दी से आठवीं तक का।

३. प्रमाण-व्यवस्था-युग—विक्रम आठवीं से सत्रहवीं तक का।

४. नवीन न्याय-युग—विक्रम सत्रहवीं से आधुनिक समय-पर्यन्त।

आगम-युग :

भगवान महावीर के उपदेशों का संग्रह, गणधरों ने अङ्गों की रचना के रूप में प्राकृत भाषा में किया, वे आगम कहलाए। उन्हीं के आधार से अन्य स्थविरों ने शिष्यों के हितार्थ और भी साहित्य विषय-विभाग करके उसी शैली में ग्रथित किया, वह उपाङ्ग, प्रकीर्णक, छेद और मूल के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अलावा अनुयोगद्वार और नन्दी की रचना की गई। आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्या-प्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरौपपातिक दशा, प्रश्नव्याकरण दशा, एवं विपाक—ये ग्यारह अङ्ग उपलब्ध हैं, और बारहवां दृष्टिवाद विच्छिन्न है। औपपातिक, राजप्रश्नीय, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, कल्पिका, कल्पावतंसिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका और वृष्णिदशा—ये बारह उपाङ्ग हैं। आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन तथा

पिण्डनिर्युक्ति—ये चार मूलसूत्र हैं। निशीथ, बृहत्कल्प, व्यवहार, दशाश्रुत स्कन्ध, पञ्चकल्प और महानिशीथ—ये छह छेद सूत्र हैं। चतुःशरण, आतुरप्रत्याख्यान, भक्तपरिज्ञा, संस्तारक, तन्दुलवैचारिक, चन्द्रवेध्यक, देवेन्द्रस्तव, गणिविद्या, महाप्रत्याख्यान और वीरस्तव—ये दश प्रकीर्णक हैं।

आगमों का अन्तिम संस्करण वीरनिर्वाण के ९८० वर्ष बाद (मतान्तर से ९९३ वर्ष के बाद) वलभी में देवर्धि के समय में हुआ। कालक्रम से आगमों में परिवर्धन हुआ है, किन्तु इसका मतलब यह नहीं है, कि आगम सर्वांशतः देवर्धि की ही रचना है और उसका समय भी वही है, जो देवर्धि का है। आगमों में आचाराङ्ग और सूत्रकृताङ्ग के प्रथम श्रुतस्कन्ध अवश्य ही पाटलीपुत्र के संस्करण का फल है। भगवती के अनेक प्रश्नोत्तर और प्रसङ्गों की संकलना भी उसी संस्करण के अनुकूल हुई हो, तो कोई आश्चर्य नहीं। पाटलीपुत्र का संस्करण भगवान् के निर्वाण के बाद करीब डेढ़ सौ वर्ष बाद हुआ। विक्रम पांचवी शताब्दी में वलभी में जो संस्करण हुआ, वही आज हमारे सामने है, किन्तु उसमें जो संकलन हुआ, वह प्राचीन वस्तुओं का ही हुआ है। केवल नन्दीसूत्र तत्कालीन रचना है, और कुछ ऐसी घटनाओं का जिक्र मिलाया गया है, जो वीरनिर्वाण के बाद छह सौ से भी अधिक वर्ष बाद घटी हों। यदि ऐसे कुछ अपवादों को छोड़ दें, तो अधिकांश ईसवी सन् के पूर्व का है, इसमें सन्देह नहीं।

आगम में तत्कालीन सभी विद्याओं का समावेश हुआ है। दर्शन से सम्बद्ध आगम ये हैं—सूत्रकृताङ्ग, स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग, भगवती (व्याख्या-प्रज्ञप्ति), प्रज्ञापना, राजप्रश्नीय, जीवाभिगम, नन्दी और अनुयोगद्वार।

सूत्रकृताङ्ग में सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में मतान्तरों का निषेध किया है। किसी ईश्वर या ब्रह्म आदि ने इस विश्व को नहीं बनाया, इस बात का स्पष्टीकरण किया गया है। आत्मा शरीर से भिन्न है और वह एक स्वतन्त्र द्रव्य है, इस बात को बलपूर्वक प्रतिपादित करके भूतवादियों का खण्डन किया गया है। अद्वैतवाद का निषेध करके नानात्मवाद का प्रतिपादन किया है। क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद और अज्ञानवाद

का निराकरण करके शुद्ध क्रियावाद की स्थापना की गई है। स्थानाङ्ग तथा समवायाङ्ग में ज्ञान, प्रमाण, नय, निक्षेप इन विषयों का संक्षेप में संग्रह यत्र-तत्र हुआ है। किन्तु नन्दीसूत्र में तो जैन दृष्टि से ज्ञान का विस्तृत निरूपण हुआ है। अनुयोगद्वार-सूत्र में शब्दार्थ करने की प्रक्रिया का विस्तृत वर्णन है, तथा प्रमाण, निक्षेप और नय का निरूपण भी प्रसङ्ग से उसमें हुआ है। प्रज्ञापना में आत्मा के भेद, उन के ज्ञान, ज्ञान के साधन, ज्ञान के विषय और उन की नाना अवस्थाओं का विस्तृत निरूपण है। जीवाभिगम में भी जीव के विषय में अनेक ज्ञातव्य बातों का संग्रह है। राजप्रश्नीय में प्रदेशी नामक नास्तिक राजा के प्रश्न करने पर पार्श्व-सन्तानीय श्रमण केशी ने जीव का अस्तित्व सिद्ध किया है। भगवती में ज्ञान-विज्ञान की अनेक बातों का संग्रह हुआ है और अनेक अन्य तीर्थिक मतों का निरास भी किया गया है।

आगम-युग में इन दार्शनिक विषयों का निरूपण राजप्रश्नीय को छोड़ दें, तो युक्ति-प्रयुक्ति-पूर्वक नहीं किया गया है, यह स्पष्ट है। प्रत्येक विषय का निरूपण, जैसे कोई द्रष्टा देखी हुई बात बता रहा हो, इस ढङ्ग से हुआ है। किसी व्यक्ति ने शङ्का की हो और उसकी शङ्का का समाधान युक्तियों से हुआ हो, यह प्रायः नहीं देखा जाता। वस्तु का निरूपण उसके लक्षण द्वारा नहीं, किन्तु भेद-प्रभेद के प्रदर्शन-पूर्वक किया गया है। आज्ञा-प्रधान या श्रद्धा-प्रधान उपदेश-शैली यह आगम-युग की विशेषता है।

उक्त आगमों को दिगम्बर आम्नाय नहीं मानता। बारहवें अङ्ग के अंशभूत पूर्व के आधार से आचार्यों द्वारा ग्रथित षट्खण्डागम, कषाय-यपाहुड और महाबन्ध—ये दिगम्बरों के आगम हैं। इनका विषय जीव और कर्म तथा कर्म के कारण जीव की जो नाना अवस्थाएँ होती हैं, यही मुख्य रूप से हैं।

उक्त आगमों में से कुछ के ऊपर भद्रबाहु ने निर्युक्तियाँ विक्रम पाँचवीं शताब्दी में की हैं। निर्युक्ति के ऊपर विक्रम सातवीं शताब्दी में भाष्य बने। ये दोनों पद्य में प्राकृत भाषा में ग्रथित हैं। इन निर्युक्तियों

और उनके भाष्य के आधार से प्राकृत गद्य में चूर्णि नामक टीकाओं की रचना विक्रम आठवीं शताब्दी में हुई। सर्वप्रथम संस्कृत टीका के रचयिता जिनभद्र हैं। उनके बाद कोट्टाचार्य, और फिर हरिभद्र हैं। हरिभद्र का समय विक्रम ७५७-८२७ मुनि श्री जिनविजयजी ने निश्चित किया है—यह ठीक प्रतीत होता है।

निर्युक्ति से लेकर संस्कृत टीकाओं तक उत्तरोत्तर तर्कप्रधान शैली का मुख्यतः आश्रय लेकर आगमिक बातों का निरूपण किया गया है। हरिभद्र के बाद शीलाङ्क, अभयदेव और मलयगिरि आदि आचार्य हुए। इन्होंने टीकाओं में तत्कालीन दार्शनिक मन्तव्यों का पर्याप्त मात्रा में ऊहापोह किया है।

दिगम्बर आम्नाय के आगमों के ऊपर भी चूर्णियाँ लिखी गई हैं। विक्रम दशवीं शताब्दी में वीरसेनाचार्य ने वृहत्काय टीकाएँ लिखी हैं। ये टीकाएँ भी दार्शनिक चर्चा से परिपूर्ण हैं।

आगमों में सब विषयों का वर्णन विप्रकीर्ण था, या अतिविस्तृत। अतएव सर्व विषयों का सिलसिले वार सार-संग्राहक संक्षिप्त सूत्रात्मक शैली से वर्णन करने वाला तत्त्वार्थ सूत्र नामक ग्रन्थ वाचक उमास्वाति ने बनाया। जैन धर्म और दर्शन की मान्यताओं का इस ग्रन्थ में इतने अच्छे ढंग से वर्णन हुआ है, कि जब से वह विक्रम चौथी या पांचवीं शताब्दी में बना तब से जैन विद्वानों का ध्यान विशेषतः इसकी ओर गया है। आचार्य उमास्वाति ने स्वयं इस पर भाष्य लिखा ही था। किन्तु वह पर्याप्त न था, क्योंकि समय की गति के साथ-साथ दार्शनिक चर्चाओं में गम्भीरता और विस्तार बढ़ता जाता था, जिसका समावेश करना अनिवार्य समझा गया। परिणाम यह हुआ, कि पूज्यपाद ने छठी शताब्दी में तत्त्वार्थ सूत्र पर एक स्वतंत्र टीका लिखी, जिसमें उन्होंने जैन पारिभाषिक शब्दों के लक्षण निश्चित किए और यत्र-तत्र दिग्नाग आदि बौद्ध और अन्य विद्वानों का अल्प मात्रा में खण्डन भी किया। विक्रम सातवीं आठवीं शताब्दी में अकलंक, सिद्धसेन और उनके बाद हरिभद्र ने अपने समय तक होने वाली चर्चाओं का समावेश भी आपकी अपनी टीकाओं में कर दिया। किन्तु तत्त्वार्थ

की सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक टीका श्लोकवार्तिक है, जिसके रचयिता विद्यानन्द हैं।

आगमों की तथा तत्त्वार्थ की टीकाएँ यद्यपि आगम-युग की नहीं हैं, किन्तु उनका सीधा सम्बन्ध मूल के साथ होने से यहाँ उनका संक्षिप्त परिचय करा दिया है।

अनेकान्त-व्यवस्था-युग :

नागार्जुन, असंग, वसुबन्धु और दिग्नाग ने भारतीय दार्शनिक परम्परा को एक नयी गति प्रदान की है। नागार्जुन ने तत्कालीन बौद्ध और बौद्धेतर सभी दार्शनिकों के सामने अपने शून्यवाद को उपस्थित करके वस्तु को सापेक्ष सिद्ध किया। उनका कहना था, कि वस्तु न भाव-रूप है, न अभाव-रूप, न उभय-रूप और न अनुभय-रूप। वस्तु को किसी भी विशेषण देखकर उसका रूप बताया नहीं जा सकता, वस्तु अवाच्य है। यही नागार्जुन का मन्तव्य था। असङ्ग और वसुबन्धु इन दोनों भाइयों ने वस्तु मात्र को विज्ञानरूप सिद्ध किया और बाह्य जड़ पदार्थों का अपलाप किया। वसुबंधु के शिष्य दिग्नाग ने भी उनका समर्थन किया और समर्थन करने के लिए बौद्ध दृष्टि से नवीन प्रमाण-शास्त्र की भी नींव रखी। इसी कारण से वह बौद्ध न्यायशास्त्र का पिता कहा जाता है। उसने युक्ति-पूर्वक सभी वस्तुओं की क्षणिकता वाले बौद्ध सिद्धान्त का भी समर्थन किया।

बौद्ध विद्वानों के विरुद्ध में भारतीय सभी दार्शनिकों ने अपने अपने पक्ष की सिद्धि करने के लिए पूरा बल लगाया। नैयायिक वात्स्यायन ने नागार्जुन और अन्य बौद्ध दार्शनिकों का खण्डन करके आत्मा आदि प्रमेयों की भावरूपता और उन सभी का पार्थक्य सिद्ध किया। मीमांसक शबर ने विज्ञानवाद और शून्यवाद का निरास करके वेद की अपौरुषेयता स्थिर की। वात्स्यायन और शबर दोनों ने बौद्धों के 'सर्वं क्षणिकम्' सिद्धान्त की आलोचना करके आत्मा आदि पदार्थों की नित्यता की रक्षा की। सांख्यों ने भी अपने पक्ष की रक्षा के लिए प्रयत्न किया। इन सभी को अकेले दिग्नाग ने उत्तर देकर के फिर

विज्ञानवाद का समर्थन किया तथा बौद्ध-संमत सर्व वस्तुओं की क्षणिकता का सिद्धान्त स्थिर किया।

ईसा की पाँचवीं शताब्दी तक चलने वाले दार्शनिकों के इस संघर्ष का लाभ जैन दार्शनिकों ने अपने अनेकान्तवाद की व्यवस्था कर के उठाया।

भगवान महावीर के उपदेशों में नयवाद अर्थात् वस्तु को नाना दृष्टि-बिन्दुओं से विचारणा को स्थान था। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन चार अपेक्षाओं के आधार से किसी भी वस्तु का विधान या निषेध किया जाता है, यह भी भगवान की शिक्षा थी। तथा नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चार निक्षेपों को लेकर किसी भी पदार्थ का विचार करना भी भगवान ने सिखाया था। इन भगवदुपदिष्ट तत्त्वों के प्रकाश में जब सिद्धसेन ने उपर्युक्त दार्शनिकों के वाद-विवादों को देखा, तब उन्होंने अनेकान्त व्यवस्था के लिए उपयुक्त अवसर समझ लिया और अपने सन्मतितर्क नामक ग्रंथ में तथा भगवान् की स्तुति-प्रधान बत्तीसियों में अनेकान्तवाद का प्रबल समर्थन किया। यह कार्य उन्होंने विक्रम पाँचवीं शताब्दी में किया।

सिद्धसेन की विशेषता यह है, कि उन्होंने तत्कालीन नानावादों को नयवादों में सन्निविष्ट कर दिया। अद्वैतवादियों की दृष्टि को उन्होंने जैन-सम्मत संग्रह नय कहा। क्षणिकवादी बौद्धों का समावेश ऋजुसूत्र-नय में किया। सांख्य-दृष्टि का समावेश द्रव्यार्थिक नय में किया। कणाद के दर्शन का समावेश द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक में कर दिया। उनका तो यह कहना है, कि संसार में जितने दर्शन-भेद हो सकते हैं, जितने भी वचन-भेद हो सकते हैं, उतने ही नयवाद हैं और उन सभी के समागम से ही अनेकान्तवाद फलित होता है। यह नयवाद, यह पर-दर्शन, तभी तक मिथ्या हैं, जब तक वे एक दूसरे को मिथ्या सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं, एकदूसरे के दृष्टिबिन्दु को समझने का प्रयत्न नहीं करते। अतएव मिथ्याभिनिवेश के कारण दार्शनिकों को अपने पक्ष की क्षतियों का तथा दूसरों के पक्ष की खूबियों का पता नहीं लगता। एक तटस्थ व्यक्ति ही आपस में लड़ने वाले इन वादियों के गुण-दोषों को जान सकता है। यदि स्याद्वाद या अनेकान्तवाद का अवलम्बन लिया जाए, तो कहना होगा, कि अद्वैतवाद भी एक दृष्टि से ठीक ही है। जब मनुष्य

अभेद की ओर दृष्टि करता है, और भेद की ओर उपेक्षा-शील हो जाता है, तब उसे अभेद ही अभेद नजर आता है। जैन-दृष्टि से उनका यह दर्शन द्रव्यार्थिक-नय की अपेक्षा से हुआ है, यह कहा जाएगा। किन्तु दूसरा व्यक्ति अभेदगामी दृष्टि से काम न लेकर यदि भेद-गामी दृष्टि यानी पर्यायार्थिक नय के बल से प्रवृत्त होता है, तो उसे सर्वत्र भेद ही भेद दिखाई देगा। वस्तुतः पदार्थ में भेद भी है और अभेद भी है। सांख्यों ने अभेद ही को मुख्य माना और बौद्धों ने भेद ही को मुख्य माना और वे दोनों परस्पर के खण्डन करने में प्रवृत्त हुए। अतएव वे दोनों मिथ्या हैं। किन्तु स्याद्वादी की दृष्टि में भेद दर्शन भी ठीक है और अभेद दर्शन भी। दो मिथ्या अन्त मिलकर ही स्याद्वाद होता है, फिर भी वह सम्यग् है। उसका कारण यह है, कि स्याद्वाद में उन दोनों विरुद्ध मतों का समन्वय है, दोनों विरुद्ध मतों का विरोध लुप्त हो गया है। इसी प्रकार नित्य-अनित्यवाद, हेतुवाद-अहेतुवाद, भाव-अभाववाद, सत्कार्यवाद-असत्कार्यवाद आदि नाना विरुद्धवादों का समन्वय सिद्धसेन ने किया है।

सिद्धसेन के इस कार्य मे समन्तभद्र ने भी अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन किया है। उन्होंने तत्कालीन विरोधी एकान्तवादों में दोष बताकर स्याद्वाद मानने पर ही निर्दोषता हो सकती है, इस बात को स्पष्ट किया है। उनकी विशेषता यह है, कि उन्होंने विरोधी वादों के युगल को लेकर सप्तभंगियों की योजना कैसे करना—इसका स्पष्टीकरण, भाव-अभाव, नित्य-अनित्य, भेद-अभेद, हेतुवाद-अहेतुवाद, सामान्य-विशेष आदि तत्कालीन नानावादों में सप्तभंगी की योजना बता के कर दिया है। वस्तुतः समन्तभद्र-कृत आप्त-मीमांसा अनेकान्त की व्यवस्था के लिए श्रेष्ठ ग्रंथ सिद्ध हुआ है। आप्त किसे माना जाए? इस प्रश्न के उत्तर में ही उन्होंने यह सिद्ध किया है, कि स्याद्वाद ही निर्दोष है। अतएव उस वाद के उपदेशक ही आप्त हो सकते है। दूसरों के वादों में अनेक दोषों का दर्शन करा कर उन्होंने सिद्ध किया है कि दूसरे आप्त नहीं हो सकते, क्योंकि उनका दर्शन बाधित है। समन्तभद्र के युक्त्यनुशासन में दूसरों के दर्शन में दोष बताकर उन दोषों का अभाव जैन दर्शन में सिद्ध किया

है, तथा जैन दर्शन के गुणों का सद्भाव अन्य दर्शन में नहीं है, इस बात को युक्ति-पूर्वक सिद्ध करने का सफल प्रयत्न किया है।

सन्मति के टीकाकार मल्लवादी ने नय-चक्र नामक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना, विक्रम पांचवी छठी शताव्दी में की है। अनेकान्त को सिद्ध करने वाला यह एक अद्भुत ग्रन्थ है। ग्रन्थकार ने सभी वादों के एक चक्र की कल्पना की है। जिसमें पूर्व-पूर्ववाद का उत्तर-उत्तरवाद खण्डन करता है। पूर्व-पूर्व की अपेक्षा से उतर-उतरवाद प्रवल मालूम होता है, किन्तु चक्र-गत होने से प्रत्येक वाद पूर्व में अवश्य पड़ता है। अतएव प्रत्येक वाद की प्रवलता या निर्वलता यह सापेक्ष है। कोई निर्वल ही हो, या सवल ही हो, यह एकान्त नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार सभी दार्शनिक अपने गुण-दोषों का यथार्थ प्रतिविम्व देख लेते हैं। इस स्थिति में स्याद्वाद की स्थापना अनायास स्वत: सिद्ध हो जाती है।

सिंहगणि ने सातवीं के पूर्वार्घ में इसके ऊपर १८००० श्लोक प्रमाण टीका लिखकर तत्कालीन सभी वादों की विस्तृत चर्चा की है।

इस प्रकार इस युग के मुख्य कार्य अनेकान्त की व्यवस्था करने में छोटे-मोटे सभी जैनाचार्यों ने भरसक प्रयत्न किया है और उस वाद को एक स्थिर भूमिका पर रख दिया है, कि आगे के आचार्यों के लिए केवल उस वाद के ऊपर होने वाले नये-नये आक्षेपों का उत्तर देना ही शेष रह गया है।

प्रमाणव्यवस्था-युग :

वौद्ध प्रमाण-शास्त्र के पिता दिग्नाग का जिक्र आ चुका है। उन्होंने तत्कालीन न्याय, सांख्य और मीमांसा-दर्शन के प्रमाण लक्षणों और भेद-प्रभेदों का खण्डन करके तथा वसुवन्धु की प्रमाण-विषयक विचारणा का संशोधन करके स्वतन्त्र वौद्ध प्रमाण-शास्त्र की व्यवस्था की। प्रमाण के भेद, प्रत्येक के लक्षण, प्रमेय और फल आदि सभी प्रमाण-सम्वद्ध वातों का विचार करके वौद्ध दृष्टि से स्पष्टता की और अन्य दार्शनिकों के तत्तत् पक्षों का निरास किया। परिणाम यह हुआ, कि दिग्नाग के विरोध में नैयायिक उद्द्योतकर एवं मीमांसक कुमारिल आदि

विद्वानों ने अपनी कलम चलाई और उस नये प्रकाश में अपना दर्शन परिष्कृत किया। इन सभी को तत्कालीन दार्शनिक क्षेत्र में सर्वश्रेष्ठ वादी धर्मकीर्ति ने उत्तर देकर परास्त किया। धर्मकीर्ति के वाद ग्रथित कोई भी ऐसा दार्शनिक ग्रन्थ नहीं है, जिसमें धर्मकीर्ति का जिक्र न हो। प्रायः सभी पश्चाद्भावी दार्शनिकों ने उनके पक्ष-विरोधी तर्कों का उत्तर देने का प्रयत्न किया है और स्वानुकूल तर्कों को अपना लिया है।

तदनन्तर धर्मकीर्ति की शिष्य-परम्परा ने धर्मकीर्ति के पक्ष का समर्थन किया और अन्य दार्शनिकों ने उनके पक्ष का खण्डन किया। यह वाद-प्रतिवाद जब तक बौद्ध दार्शनिक भारत छोड़कर बाहर नहीं चले गए, बराबर होता रहा।

इस दीर्घकालीन संघर्ष में जैनों ने भी भाग लिया है और अपना प्रमाण-शास्त्र व्यवस्थित किया।

न्यायावतार नामक एक छोटी-सी कृति सिद्धसेन ने बनाई थी। पात्रस्वामी ने दिग्नाग के हेतु-लक्षण के खण्डन में त्रिलक्षण-कदर्थन नामक ग्रन्थ बनाया था। और भी छोटे-मोटे ग्रन्थ बने होंगे, किन्तु वे सब काल-कवलित हो गए हैं। जैन दृष्टि से प्रमाण-शास्त्र की प्रतिष्ठा पूर्व-परम्परा के आधार से यदि किसी आचार्य ने की है, तो वह अकलंक ही है। अकलंक ने धर्मकीर्ति और उनके शिष्य धर्मोत्तर एवं प्रज्ञाकर का खण्डन करके जैन दृष्टि से प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो प्रमाणों की स्थापना की।

इन्द्रिय प्रत्यक्ष को व्यावहारिक प्रत्यक्ष कहा, तथा अवधि, मनः पर्यय और केवल ज्ञान को परमार्थिक प्रत्यक्ष कहा। यह बात उन्होंने नयी नहीं की, किन्तु जैन परम्परा के आधार से ही कही है। उन्होंने इन प्रत्यक्षों का तर्क-दृष्टि से समर्थन किया, तथा प्रत्येक के लक्षण, विषय और फल का स्पष्टीकरण किया। परोक्ष के भेद रूप से उन्होंने स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम को बताया, और प्रत्येक का प्रामाण्य समर्थित किया। स्मृति का प्रामाण्य किसी दार्शनिक ने माना नहीं था। अतएव सब दार्शनिकों की दलीलों का उत्तर देकर उसका प्रामाण्य अकलंक ने उपस्थित किया। प्रत्यभिज्ञान को अन्य दार्शनिक प्रत्यक्ष रूप मानते थे, या पृथक् स्वतन्त्र ज्ञान ही न मानते थे, तथा बौद्ध तो उसके प्रामाण्य को भी न मानता था—इन सभी का निराकरण करके उन्होंने उसका पृथक् प्रामाण्य स्थापित किया और उसी में उपमान

का समावेश कर दिया। परोक्ष के इन पाँच भेदों की व्यवस्था अकलंक की ही सूझ है। प्रायः सभी जैन दार्शनिकों ने अकलंककृत इस व्यवस्था को माना है। प्रमाण व्यवस्था के इस युग में जैनाचार्यों ने पूर्व युग की सम्पत्ति अनेकान्तवाद की रक्षा और उसका विस्तार किया। आचार्य हरिभद्र और अकलंक ने भी इस कार्य को वेग दिया। आचार्य हरिभद्र ने अनेकान्त के ऊपर होने वाले आक्षेपों का उत्तर अनेकान्त-जय-पताका लिख कर दिया। आचार्य अकलंक ने आप्त-मीमांसा के ऊपर अष्टशती नामक टीका लिखकर बौद्ध और अन्य दार्शनिकों के अक्षेपों का तर्क-संगत उत्तर दिया और उसके बाद विद्यानन्द ने अष्टसहस्री नामक महती टीका लिखकर अनेकान्त को अजेय सिद्ध कर दिया।

हरिभद्र ने जैन दर्शन के पक्ष को प्रबल बनाने के लिए और भी अनेक ग्रंथ लिखे, जिनमें शास्त्र-वार्ता-समुच्चय मुख्य हैं।

अकलंक ने प्रमाण-व्यवस्था के लिए लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय, एवं प्रमाण-संग्रह लिखा। और सिद्धिविनिश्चय नामक ग्रन्थ लिखकर उन्होंने जैन दार्शनिक मन्तव्यों को विद्वानों के सामने अकाट्य प्रमाण-पूर्वक सिद्ध कर दिया।

आचार्य विद्यानन्द ने अपने समय तक विकसित दार्शनिक वादों को तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में स्थान दिया, और उनका समन्वय करके अनेकान्तवाद की चर्चा को पल्लवित किया, तथा प्रमाण-शास्त्र-सम्बद्ध विषयों की चर्चा भी उसमें की। प्रमाण-परीक्षा नामक अपनी स्वतन्त्र कृति में दार्शनिकों के प्रमाणों की परीक्षा करके अकलंक-निर्दिष्ट प्रमाणों का समर्थन किया। उन्होंने आप्त-परीक्षा में आप्तों की परीक्षा करके तीर्थंकर को ही आप्त सिद्ध किया और अन्य बुद्ध आदि को अनाप्त सिद्ध किया।

आचार्य माणिक्यनन्दी ने अकलंक के ग्रन्थों का सार लेकर परीक्षा-मुख नामक जैन न्याय का एक सूत्रात्मक ग्रंथ लिखा।

ग्यारहवीं शताब्दी में अभयदेव और प्रभाचन्द्र ये दोनों महान् तार्किक टीकाकार हुए। एक ने सिद्धसेन के सन्मति की टीका के बहाने समूचे दार्शनिक वादों का संग्रह किया, और दूसरे ने परीक्षा-मुख की टीका प्रमेयकमल-मार्तण्ड और लघीयस्त्रय की टीका न्यायकुमुदचन्द्र में जैन प्रमाण-शास्त्र-सम्बद्ध समस्त विषयों की व्यवस्थित

चर्चा की। इन दो महान् टीकाकारों के बाद बारहवीं शताब्दी में वादिदेव सूरि ने प्रमाण और नय की विस्तृत चर्चा करने वाला स्याद्वादरत्नाकर लिखा। यह ग्रन्थ प्रमाणनयतत्त्वालोक नामक सूत्रात्मक ग्रन्थ की स्वोपज्ञ विस्तृत टीका है। इसमें वादिदेव ने प्रभाचंद्र के ग्रन्थ में जिन अन्य दार्शनिकों के पूर्वपक्षों का संग्रह नहीं हुआ था, उनका भी संग्रह करके सभी का निरास करने का प्रयत्न किया है।

वादिदेव के समकालीन आचार्य हेमचन्द्र ने मध्यम परिमाण प्रमाण-मीमांसा लिख कर एक आदर्श पाठ्य ग्रन्थ की क्षति की पूर्ति की है।

इसी प्रकार आगे भी छोटी-मोटी दार्शनिक कृतियां लिखी गईं, किन्तु उनमें कोई नयी बात नहीं मिलती। पूर्वाचार्यों की कृतियों के अनुवाद रूप ही ये कृतियाँ बनी हैं। इनमें न्याय-दीपिका उल्लेख योग्य है।

नव्यन्याय-युग :

भारतीय दार्शनिक क्षेत्र में नव्यन्याय के युग का प्रारंभ गंगेश से होता है। गंगेश का जन्म विक्रम १२५७ में हुआ। उन्होंने नवीन न्याय-शैली का विकास किया। तभी से समस्त दार्शनिकों ने उसके प्रकाश में अपने-अपने दर्शन का परिष्कार किया। किन्तु जैन दार्शनिकों में से किसी का, जब तक यशो-विजय नहीं हुए, इस ओर ध्यान नहीं गया था। फल यह हुआ कि १३ वीं शताब्दी से १७ वीं शताब्दी के अंत तक भारतीय दर्शनों की विचार-धारा का जो नया विकास हुआ, उससे जैन दार्शनिक साहित्य वंचित ही रहा। १७ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में वाचक यशोविजय ने काशी की ओर प्रयाण किया और सर्वशास्त्र वैशारद्य प्राप्त कर उन्होंने जैन दर्शन में भी नवीन न्याय की शैली से अनेक ग्रन्थ लिखे और अनेकान्तवाद के ऊपर दिए गए आक्षेपों का समाधान करने का प्रयत्न किया। उन्होंने अनेकान्तव्यवस्था लिखकर अनेकान्तवाद की पुनः प्रतिष्ठा की। और अष्टसहस्री तथा शास्त्रवार्तासमुच्चय नामक प्राचीन ग्रन्थों के ऊपर नवीन शैली की टीका लिखकर उन दोनों ग्रन्थों को आधुनिक बनाकर उनका उद्धार किया। जैन-तर्कभाषा और ज्ञानबिन्दु लिखकर जैन प्रमाणशास्त्र को परिष्कृत किया। उन्होंने नयवाद के विषय में नयप्रदीप, नयरहस्य, नयोपदेश आदि अनेक ग्रन्थ लिखे हैं।

वाचक यशोविजय ने ज्ञान-विज्ञान की प्रत्येक शाखा में कुछ न कुछ लिखकर जैन साहित्य भण्डार को समृद्ध किया है। इस नव्यन्याय युग की सप्तभंगीतरंगिणी भी उल्लेख योग्य है।

**
**

बौद्धानामृजु - सूत्रतो मतमभूद् वेदान्तिनां संग्रहात्,

सांख्यानां तत एव नैगमनयाद् योगश्च वैशेषिकः ।

शब्द-ब्रह्म-विदोऽपि-शब्द नयतः सर्वैं र्नयै र्गुम्फिता,

जैनीं दृष्टिरितीह सारतरता प्रत्यक्षमुद्वीक्ष्यते ॥

—वाचक यशोविजय

परिशिष्ट

दो

मल्लवादी और नयचक्र

आचार्य मल्लवादी और उनका नयचक्र

आचार्य अकलंक[1] और विद्यानन्द[2] के ग्रन्थों के अभ्यास के समय नयचक्र नामक ग्रन्थ के उल्लेख देखे, किन्तु उसका दर्शन नहीं हुआ। बनारस में आचार्य श्रीहीराचंद्रजी की कृपा से नयचक्रटीका की हस्तलिखित प्रति देखने को मिली। किन्तु उसमें मल्लवादिकृत नयचक्र मूल नहीं मिला। पता चला कि यही हाल सभी पोथियों का है। विजयलब्धिसूरि ग्रन्थमाला में नयचक्रटीका के आधार पर नयचक्र का उद्धार करके उसे सटीक छापा गया है। गायकवाड़ सिरीज में भी नयचक्रटीका अंशतः छापी गई है। मुनि श्री पुण्यविजयजी की प्रेरणा से मुनि श्री जम्बूविजयजी नयचक्र का उद्धार करने के लिए वर्षों से प्रयत्नशील हैं। उन्होंने उसी के लिए तिब्बती भाषा भी सीखी और नयचक्र की टीका की अनेक पोथियों के आधार पर टीका को शुद्ध करने का तथा उसके आधार पर नयचक्र मूल का उद्धार करने का प्रयत्न किया है। उनके उस प्रयत्न का सुफल विद्वानों को शीघ्र ही प्राप्त होगा। कृपा करके उन्होंने अपने संस्करण के मुद्रित पचास फोर्म पृ० ४०० देखने के लिए मुझे भेजे हैं, और कुछ ही रोज पहले मुनिराज श्री पुण्यविजयजी ने सूचना दी कि उपाध्याय यशोविजयजी के हस्ताक्षर की प्रति, जो कि उन्होंने दीमकों से खाई हुई नयचक्रटीका की प्रति के आधार पर लिखी थी, मिल गई है। आशा है मुनि श्री जम्बूविजयजी इस प्रति का पूरा उपयोग नयचक्रटीका के अमुद्रित अंश के लिए करेंगे ही एवं अपर मुद्रित अंश को भी उसके आधार पर ठीक करेंगे ही।

---

[1] न्यायविनिश्चय का० ४७७, प्रमाणसंग्रह का० ७७।

[2] श्लोकवार्तिक १. ३३. १०२ पृ० २७६।

मैंने प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ (१९४६) में अपने लेख में मल्लवादि नयचक्र का संक्षिप्त परिचय दिया ही है, किन्तु उस ग्रन्थ-रचना का वैलक्षण्य मेरे मन में तब से ही बसा हुआ है और अवसर की प्रतीक्षा में रहा कि उसके विषय में विशेष परिचय लिखूँ। दरमियान मुनि श्री जम्बूविजयजी ने श्री 'आत्मानंद प्रकाश' में नयचक्र के विषय में गुजराती में कई लेख लिखे और एक विशेषांक भी नयचक्र के विषय में निकाला है। यह सब और मेरी अपनी नोंधों के आधार पर यहाँ नयचक्र के विषय में कुछ विस्तार से लिखना है।

मल्लवादी का समय :

आचार्य मल्लवादी के समय के बारे में एक गाथा के अलावा अन्य कोई सामग्री मिलती नहीं। किन्तु नयचक्र के अन्तर का अध्ययन उस सामग्री का काम दे सकता है। नय चक्र की उत्तरावधि तो निश्चित हो ही सकती है और पूर्वावधि भी। एक ओर दिग्नाग है जिनका उल्लेख नयचक्र में है और दूसरी ओर कुमारिल और धर्मकीर्ति के उल्लेखों का अभाव है जो नयचक्र मूल तो क्या, किन्तु उसकी सिंहगणिकृत वृत्ति से भी सिद्ध है। आचार्य समन्तभद्र का समय सुनिश्चित नहीं, अतएव उनके उल्लेखों का दोनों में अभाव यहाँ विशेष साधक नहीं। आचार्य सिद्धसेन का उल्लेख दोनों में है। वह भी नयचक्र के समय-निर्धारण में उपयोगी है।

आचार्य दिग्नाग का समय विद्वानों ने ई० ३४५-४२५ के आसपास माना है। अर्थात् विक्रम सं० ४०२-४८२ है। आचार्य सिंहगणि जो नयचक्र के टीकाकार हैं अपोहवाद के समर्थक बौद्ध विद्वानों के लिए अद्यतन बौद्ध' विशेषण का प्रयोग करते हैं। उससे सूचित होता है कि दिग्नाग जैसे बौद्ध विद्वान् सिर्फ मल्लवादी के ही नहीं, किन्तु सिंहगणि के भी समकालीन हैं। यहाँ दिग्नागोत्तरकालीन बौद्ध विद्वान तो विवक्षित हो ही नहीं सकते, क्योंकि किसी दिग्नागोत्तरकालीन बौद्ध का मत मूल या टीका में नहीं है। अद्यतनबौद्ध के लिए सिंहगणि ने 'विद्वन्मन्य' ऐसा विशेषण भी दिया है। उससे यह सूचित भी होता है कि 'आजकल के

ये नये बौद्ध अपने को विद्वान तो समझते हैं, किन्तु हैं नहीं,' । समग्र रूप से "विद्वन्मन्याद्यतनबौद्ध"[3] शब्द से यह अर्थ भी निकल सकता है कि मल्लवादी और दिग्नाग का समकालीनत्व तो है ही, साथ ही मल्लवादी उन नये बौद्धों को सिंहगणि के अनुसार 'छोकरे' समझते हैं । अर्थात् समकालीन होते हुए भी मल्लवादी वृद्ध हैं और दिग्नाग युवा इस चर्चा के प्रकाश में परंपराप्राप्त गाथा का विचार करना जरूरी है ।

विजयसिंहसूरिप्रबंध[४] में एक गाथा में लिखा है कि वीर सं० ८८४ में मल्लवादी ने बौद्धों को हराया । अर्थात् विक्रम ४१४ में यह घटना घटी । इससे इतना तो अनुमान हो सकता है कि विक्रम ४१४ में मल्लवादी विद्यमान थे । आचार्य दिग्नाग के समकालीन मल्लवादी थे यह तो हम पहले ही कह चुके हैं । अत एव दिग्नाग के समय विक्रम ४०२–४८२ के साथ जैन परंपरा के द्वारा संमत मल्लवादी के समय का कोई विरोध नहीं है और इस दृष्टि से 'मल्लवादी वृद्ध और दिग्नाग युवा इस कल्पना में भी विरोध की संभावना नहीं । आचार्य सिद्धसेन की उत्तरावधि विक्रम पाँचमी शताब्दी मानी जाती है । मल्लवादी ने आचार्य सिद्धसेन का उल्लेख किया है । अत एव इन दोनों आचार्यों को भी समकालीन माना जाए, तब भी विसंगति नहीं । इस प्रकार आचार्य दिग्नाग, सिद्धसेन और मल्लवादी ये तीनों आचार्य समकालीन माने जाएँ तो उनके अद्यावधि स्थापित समय में कोई विरोध नहीं आता ।

वस्तुतः नयचक्र के उल्लेखों के प्रकाश में इन आचार्यों के समय की पुनर्विचारणा अपेक्षित है; किन्तु अभी इतने से सन्तोष किया जाता है ।

नयचक्र का महत्त्व :

जैन साहित्य का प्रारम्भ वस्तुतः कब से हुआ इसका सप्रमाण उत्तर देना कठिन है । फिर भी इतना तो अब निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि भगवान् महावीर को भी भगवान् पार्श्वनाथ के उपदेश की

---

३. नयचक्रटीका पृ० १९—"विद्वन्मन्याद्यतनबौद्धपरिक्लृप्तम्"

४. प्रभावक चरित्र—मुनिश्री कल्याणविजयजी का अनुवाद पृ० ३७, ७२ ।

परम्परा प्राप्त थी। स्वयं भगवान महावीर अपने उपदेश की तुलना भगवान् पार्श्वनाथ के उपदेश से करते हैं[५]। इससे इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि उनके समक्ष पार्श्वनाथ का श्रुत किसी न किसी रूप में था। विद्वानों की कल्पना है कि दृष्टिवाद में जो पूर्वगत के नाम से उल्लिखित श्रुत है वही पार्श्वनाथ परम्परा का श्रुत होना चाहिए। पार्श्वनाथपरंपरा से प्राप्त श्रुत को भगवान् महावीर ने विकसित किया। वह आज जैनश्रुत या जैनागम के नाम से प्रसिद्ध है।

जिस प्रकार वैदिक परंपरा में वेद के आधार पर वाद में नाना दर्शनों के विकास होने पर सूत्रात्मक दार्शनिक साहित्य की सृष्टि हुई और बौद्ध परंपरा में अभिधर्म तथा महायान-दर्शन का विकास होकर विविध दार्शनिक प्रकरण ग्रन्थों की रचना हुई, उसी प्रकार जैन साहित्य में भी दार्शनिक प्रकरण ग्रन्थों की सृष्टि हुई है।

वैदिक, बौद्ध और जैन इन तीनों परंपरा के साहित्य का विकास घात-प्रत्याघात और आदान-प्रदान के आधार पर हुआ है। उपनिषद् युग में भारतीय दार्शनिक चिन्तन परंपरा का प्रस्फुटीकरण हुआ जान पड़ता है और उसके बाद तो दार्शनिक व्यवस्था का युग प्रारंभ हो जाता है। वैदिक परंपरा में परिणामवादी सांख्यविचारधारा के विकसित और विरोधी रूप में नाना प्रकार के वेदान्तदर्शनों का आविर्भाव होता है, और सांख्यों के परिणामवाद के विरोधी के रूप में नैयायिक–वैशेषिक दर्शनों का आविर्भाव होता है। बौद्धदर्शनों का विकास भी परिणामवाद के आधार पर ही हुआ है। अनात्मवादी होकर भी पुनर्जन्म और कर्मवाद से चिपके रहने के कारण बौद्धों में सन्तति के रूप में परिणामवाद आ ही गया है; किन्तु क्षणिकवाद को उसके तर्कसिद्ध परिणामों पर पहुँचाने के लिए बौद्धदार्शनिकों ने जो चिंतन किया उसी में से एक ओर बौद्ध परंपरा का विकास सौत्रान्तिकों में हुआ जो द्रव्य का सर्वथा इनकार करते हैं; किन्तु देश और काल की दृष्टि से अत्यन्त भिन्न ऐसे क्षणों को मानते हैं और दूसरी ओर अद्वैत परंपरा में हुआ जो वेदान्त दर्शनों के ब्रह्माद्वैत

---

[५] भगवती श० ५. उद्दे० ९. सू० २२५.

की तरह विज्ञानाद्वैत और शून्याद्वैत जैसे वादों को स्वीकार करते हैं। जैनदर्शन भी परिणामवादी परंपरा का विकसित रूप है। जैनदार्शनिकों ने उपर्युक्त घात-प्रत्याघातों का तटस्थ होकर अवलोकन किया है और अपने अनेकान्तवाद की ही पुष्टि में उसका उपयोग किया है, यह तो किसी भी दार्शनिक से छिपा नहीं रह सकता है। किन्तु यहाँ देखना यह है कि उपलब्ध जैनदार्शनिक साहित्य में ऐसा कौनसा ग्रन्थ है जो सर्वप्रथम दार्शनिकों के घातप्रत्याघातों को आत्मसात् करके उसका उपयोग अनेकांत के स्थापन में ही करता है।

प्राचीन जैन दार्शनिक साहित्य सर्जन का श्रेय सिद्धसेन और समन्तभद्र को दिया जाता है। इन दोनों में कौन पूर्व है कौन उत्तर है इसका सर्वमान्य निर्णय अभी हुआ नहीं है। फिर भी प्रस्तुत में इन दोनों की कृतियों के विषय में इतना ही कहना है कि वे दोनों अपने-अपने ग्रन्थ में अनेकान्त का स्थापन करते हैं अवश्य, किन्तु दोनों की पद्धति यह है कि परस्पर विरोधी वादों में दोष बताकर अनेकान्त का स्थापन वे दोनों करते हैं। विरोधी वादों के पूर्वपक्षों को या पूर्वपक्षीय वादों की स्थापना को उतना महत्त्व या अवकाश नहीं देते जितना उनके खण्डन को। अनेकान्तवाद के लिए जितना महत्त्व उस-उस वाद के दोषों का या असंगति का है उतना महत्त्व बल्कि उससे अधिक महत्त्व उस-उस वाद के गुणों का या संगति का भी है और गुणों का दर्शन उस-उस वाद की स्थापना के बिना नहीं होता है। इस दृष्टि से उक्त दोनों आचार्यों के ग्रन्थ अपूर्ण हैं। अतएव प्राचीनकाल के ग्रन्थों में यदि अपने समय तक के सब दार्शनिक मन्तव्यों की स्थापनाओं के संग्रह का श्रेय किसी को है तो वह नयचक्र और उसकी टीका को ही मिल सकता है। अन्य को नहीं। भारतीय समग्र दार्शनिक ग्रन्थों में भी इस सर्वसंग्रह और सर्वसमालोचन की दृष्टि से यदि कोई प्राचीनतम ग्रन्थ है, तो वह नयचक्र ही है। इस दृष्टि से इस ग्रन्थ का महत्त्व इसलिए भी बढ़ जाता है कि काल-कवलित बहुत से ग्रन्थ और मतों का संग्रह और समालोचन इसी ग्रन्थ में प्राप्त है, जो अन्यत्र दुर्लभ है।

दर्शन और नय :

आचार्य सिद्धसेन ने नयों के विषय में स्पष्ट ही कहा है कि प्रत्येक नय अपने विषय की विचारणा में सच्चे होते हैं, किन्तु पर नयों की विचारणा में मोघ-असमर्थ होते हैं[६]। जितने वचनमार्ग हैं उतने ही नयवाद होते हैं और जितने नयवाद हैं उतने ही पर दर्शन हैं[७]। नयवाद को अलग-अलग लिया जाय तब वे मिथ्या हैं; क्योंकि वे अपने पक्ष को ही ठीक समझते हैं, दूसरे पक्ष का तो निरास करते हैं। किन्तु वस्तु का पाक्षिक दर्शन तो परिपूर्ण नहीं हो सकता; अतएव उस पाक्षिक दर्शन को स्वतन्त्र रूप से मिथ्या ही समझना चाहिए, किन्तु सापेक्ष हो तब ही सम्यग् समझना चाहिए[८]। अनेकान्तवाद निरपेक्षवादों को सापेक्ष वनाता है, यही उसका सम्यक्त्व है। नय पृथक् रह कर दुर्नय होते हैं, किन्तु अनेकान्तवाद में स्थान पाकर वे ही सुनय वन जाते हैं; अतएव सर्व मिथ्यावादों का समूह हो कर भी अनेकान्तवाद सम्यक् होता है[९]। आचार्य सिद्धसेन ने पृथक्-पृथक् वादों को रत्नों की उपमा दी है। पृथक्-पृथक् वैदूर्य आदि रत्न कितने ही मूल्यवान् क्यों न हों वे न तो हार की शोभा ही को प्राप्त कर सकते हैं और न हार कहला सकते हैं। उस शोभा को प्राप्त करने के लिए एक सूत्र में उन रत्नों को बँधना होगा। अनेकान्तवाद पृथक्-पृथक् वादों को सूत्रवद्ध करता है और उनकी शोभा को वढ़ाता है। उनके पार्थक्य को या पृथक् नामों को मिटा देता है और जिस प्रकार सब रत्न मिलकर रत्नावली इस नये नाम को प्राप्त करते हैं, वैसे सब नयवाद अपने-अपने नामों को खो कर अनेकान्तवाद ऐसे नये नाम को प्राप्त करते हैं। यही उन नयों का सम्यक्त्व है।[१०]

---

६ "णियवयणिज्जसच्चा सव्वनया परवियालणे मोहा"—सन्मति. १. २८.

७ "जावइया वयणवहा तावइया चेव होंति नयवाया।
जावइया णयवाया तावइया चेव परसमया॥"

—सन्मति ३. ४७

८ सन्मति. १. १३ और. २१.

९ 'जेण दुवे एगंता विभज्जमाणा अणेगन्तो॥' सन्मति १. १४। १. २५।

१० सन्मति १. २२-२५।

इसी बात का समर्थन-आचार्य जिनभद्र ने भी किया है। उनका कहना है कि नय जब तक पृथक्-पृथक् हैं, तब तक मिथ्याभिनिवेश के कारण विवाद करते हैं। यह मिथ्याभिनिवेश नयों का तब ही दूर होता है जब उन सभी को एक साथ बिठा दिया जाय। जब तक अकेले गाना हो तब तक आप कैसा ही राग अलापें यह आप की मरजी की बात है; किन्तु समूह में गाना हो तब सब के साथ सामंजस्य करना ही पड़ता है। अनेकान्तवाद विवाद करनेवाले नयों में या विभिन्न दर्शनों में इसी सामञ्जस्य को स्थापित करता है, अतएव सर्वनय का समूह हो कर भी जैनदर्शन अत्यन्त निरवद्य है, निर्दोष है[11]।

सर्वदर्शन-संग्राहक जैनदर्शन :

यह बात हुई सामान्य सिद्धान्त के स्थापन की, किन्तु इस प्रकार सामान्य सिद्धान्त स्थिर करके भी अपने समय में प्रसिद्ध सभी नयवादों को—सभी दर्शनों को जैनों के द्वारा माने गए प्राचीन दो नयों में—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक में घटाने का कार्य आवश्यक और अनिवार्य हो जाता है। आचार्य सिद्धसेन ने प्रधान दर्शनों का समन्वय कर उस प्रक्रिया का प्रारम्भ भी कर दिया है। और कह दिया है कि सांख्यदर्शन द्रव्यार्थिक नय को प्रधान मान कर, सौगतदर्शन पर्यायार्थिक को प्रधान मान कर और वैशेषिक दर्शन उक्त दोनों नयों को विषयभेद से प्रधान मान कर प्रवृत है[12]। किन्तु प्रधान-अप्रधान सभी वादों को नयवाद में यथास्थान बिठा कर सर्वदर्शनसमूहरूप अनेकान्तवाद है, इसका प्रदर्शन बाकी ही था। इस कार्य को नयचक्र के द्वारा पूर्ण किया गया है। अत एव अनेकान्तवाद वस्तुतः सर्वदर्शन-संग्रहरूप है इस तथ्य को सिद्ध करने का श्रेय यदि किसी को है तो वह नयचक्र को ही है, अन्य को नहीं।

मैंने अन्यत्र सिद्ध किया है कि भगवान् महावीर ने अपने समय के दार्शनिक मन्तव्यों का सामञ्जस्य स्थापित करके अनेकान्तवाद की स्था-

---

[11] "एवं विवयन्ति नया मिच्छाभिनिवेसओ परोप्परओ।
इयमिह सव्वनयमयं जिणमयमणवज्जमच्चन्तं॥" विशेषावश्यकभाष्य गा. ७२।

[12] सन्मति ३. ४८, ४९।

पना की है[13]। किन्तु भगवान् महावीर के बाद तो भारतीय दर्शन में तात्त्विक मन्तव्यों की बाढ़ सी आ गई है। सामान्यरूप से कह देना कि सभी नयों का—मन्तव्यों का—मतवादों का समूह अनेकान्तवाद है, यह एक बात है और उन मन्तव्यों को विशेषरूप से विचारपूर्वक अनेकान्तवाद में यथास्थान स्थापित करना यह दूसरी बात है। प्रथम बात तो अनेक आचार्यों ने कही है; किन्तु एक-एक मन्तव्य का विचार करके उसे नयान्तर्गत करने की व्यवस्था करना यह उतना सरल नहीं।

नयचक्रकालीन भारतीय दार्शनिक मन्तव्यों की पृष्ठभूमि का विचार करना, समग्र तत्त्वज्ञान के विकास में उस उस मन्तव्य का उपयुक्त स्थान निश्चित करना, नये-नये मन्तव्यों के उत्थान की अनिवार्यता के कारणों की खोज करना, मन्तव्यों के पारस्परिक विरोध और बलाबल का विचार करना—यह सब कार्य उन मन्तव्यों के समन्वय करनेवाले के लिए अनिवार्य हो जाते हैं। अन्यथा समन्वय की कोई भूमिका ही नहीं बन सकती। नयचक्र में आचार्य मल्लवादी ने यह सब अनिवार्य कार्य करके अपने अनुपम दार्शनिक पाण्डित्य का तो परिचय दिया ही है और साथ में भारतीय तत्त्वचिन्तन के इतिहास की अपूर्व सामग्री का भंडार भी आगामी पीढ़ी के लिए छोड़ने का श्रेय भी लिया है। इस दृष्टि से देखा जाय तो भारतीय समग्र दार्शनिक वाङ्मय में नयचक्र का स्थान महत्वपूर्ण मानना होगा।

नयचक्र की रचना की कथा :

भारतीय साहित्य में सूत्रयुग के बाद भाष्य का युग है। सूत्रों का युग जब समाप्त हुआ तब सूत्रों के भाष्य लिखे जाने लगे। पातञ्जलमहाभाष्य, न्यायभाष्य, शाबरभाष्य, प्रशस्तपादभाष्य, अभिधर्मकोषभाष्य, योगसूत्र का व्यासभाष्य, तत्त्वार्थाधिगमभाष्य, विशेषावश्यक-भाष्य, शांकरभाष्य, आदि। प्रथम भाष्यकार कौन है यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। इस दीर्घकालीन भाष्ययुग की रचना नयचक्र है।

---

[13] देखो प्रस्तुत पुस्तक का प्रथम द्वितीय खण्ड।

परम्परा[१४] के अनुसार नयचक्र के कर्ता आचार्य मल्लवादी सौराष्ट्र के वलभिपुर के निवासी थे । उनकी माता का नाम दुर्लभदेवी था । उनका गृहस्थ अवस्था का नाम 'मल्ल' था, किन्तु वाद में कुशलता प्राप्त करने के कारण मल्लवादी रूप से विख्यात हुए । उनके दीक्षा-गुरु का नाम जिनानन्द था जो संसार पक्ष में उनके मातुल होते थे । भृगुकच्छ में गुरु का पराभव बुद्धानन्द नामक बौद्ध विद्वान् ने किया था; अतएव वे वलभी आगए । जब 'मल्लवादी' को यह पता लगा कि उनके गुरु का वाद में पराजय हुआ है, तब उन्होंने स्वयं भृगुकच्छ जा कर वाद किया और बुद्धानन्द को पराजित किया ।

इस कथा में सम्भवतः सभी नाम कल्पित हैं । वस्तुतः आचार्य मल्लवादी का मूल नयचक्र जिस प्रकार कालग्रस्त हो गया उसी प्रकार उनके जीवन की सामग्री भी कालग्रस्त हो गई है । बुद्धानन्द और जिनानन्द ये नाम समान हैं और सिर्फ आराध्यदेवता के अनुसार कल्पित किए गए हों ऐसा संभव है । मल्लवादी का पूर्वावस्था का नाम 'मल्ल' था— यह भी कल्पना ही लगता है । वस्तुत इन आचार्य का नाम कुछ और ही होगा और 'मल्लवादी' यह उपनाम ही होगा । जो हो, परम्परा में उन आचार्य के विषय में जो एक गाथा चली आती थी, उसी गाथा को लेकर उनके जीवन की घटनाओं का वर्णन किया गया हो, ऐसा संभव है । नयचक्र की रचना के विषय में पौराणिक कथा दी गई है, उससे भी इस कल्पना का समर्थन होता है ।

पौराणिक कथा इस प्रकार है—

पंचम पूर्व ज्ञानप्रवाद में से नयचक्र ग्रन्थ का उद्धार पूर्वर्षियों ने किया था उसके बारह आरे थे । उस नयचक्र के पढ़ने पर श्रुतदेवता कुपित होती थी, अत एव आचार्य जिनानन्द ने जब कहीं बाहर जा रहे थे, मल्लवादी से कहा कि उस नयचक्र को पढ़ना नहीं । क्योंकि निषेध किया गया, मल्लवादी की जिज्ञासा तीव्र हो गई । और उन्होंने उस पुस्तक को खोल कर पढ़ा तो प्रथम 'विधिनियमभंग' इत्यादि गाथा पढ़ी ।

---

[१४] कथा के लिए देखो, प्रभावक-चरितका—मल्लवादी प्रबंध ।

उस पर विचार कर ही रहे थे, उतने में श्रुतदेवता ने उस पुस्तक को उनसे छीन लिया। आचार्य मल्लवादी दुःखित हुए, किन्तु उपाय था नहीं। अत एव श्रुतदेवता की आराधना के लिए गिरिखण्ड पर्वत की गुफा में गए और तपस्या शुरू की। श्रुतदेवता ने उनकी धारणाशक्ति की परीक्षा लेने के लिए पूछा 'मिष्ट क्या है।' मल्लवादी ने उत्तर दिया 'वाल'। पुनः छह मास के बाद श्रुतदेवी ने पूछा 'किसके साथ?' मुनिने उत्तर दिया 'गुड़ और घी के साथ।' आचार्य की इस स्मरणशक्ति से प्रसन्न हो कर श्रुतदेवता ने वर मांगने को कहा। आचार्य ने कहा कि नयचक्र वापस दे दें। तब श्रुतदेवी ने उत्तर दिया कि उस ग्रन्थ को प्रकट करने से द्वेषी लोग उपद्रव करते हैं, अत एव वर देती हूँ कि तुम **विधिनियमभंग** इत्यादि तुम्हें ज्ञात एक गाथा के आधार पर ही उसके संपूर्ण अर्थ का ज्ञान कर सकोगे। ऐसा कह कर देवी चली गई। इसके बाद आचार्य ने नयचक्र ग्रन्थ की दस हजार श्लोकप्रमाण रचना की। नयचक्र के उच्छेद को परम्परा श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में समान रूप से प्रचलित है। आचार्य मल्लवादी की कथा में जिस प्रकार नयचक्र के उच्छेद को वर्णित किया गया है यह तो हमने निर्दिष्ट कर ही दिया है। श्रीयुत प्रेमीजी ने माइल्ल धवल के नयचक्र की एक गाथा[१५] अपने लेख में उद्धृत की है, उससे पता चलता है कि दिगम्बर परंपरा में भी नयचक्र के उच्छेद की कथा है। जिस प्रकार श्वेताम्बर परंपरा में मल्लवादी ने नयचक्र का उद्धार किया यह मान्यता रूढ़ है, उसी प्रकार मुनि देवसेन ने भी नयचक्र का उद्धार किया है ऐसी मान्यता माइल्ल धवल के कथन से फलित होती है। इससे यह कहा जा सकता है कि यह लुप्त नयचक्र श्वेताम्बर दिगम्बर को समान रूप से मान्य होगा।

कथा का विश्लेषण—नयचक्र और पूर्व:

विद्यमान नयचक्रटीका के आधार पर नयचक्र का जो

---

[१५] **"दुसमीरणेण पोयं पेरियसंतं जहा ति(चि)रं नट्टं।
सिरिदेवसेण मुणिणा तय नयचक्कं पुणो रइयं"
देखो जैन साहित्य और इतिहास पृ. १६५।**

स्वरूप फलित होता है वह ऐसा है कि प्रारम्भ में 'विधिनियम' इत्यादि एक गाथासूत्र है। और उसी गाथासूत्र के भाष्य के रूप में नयचक्र का समग्र गद्यांश है। स्वयं आचार्य मल्लवादी ने अपनी कृति को पूर्वमहोदधि में उठने वाले नयतरंगों के बिन्दुरूप कहा है–पृ. ९। नयचक्र के इस स्वरूप को समक्ष रखकर उक्त पौराणिक कथा का निर्माण हुआ जान पड़ता है। इस ग्रन्थ का 'पूर्वगत' श्रुत के साथ जो सम्बन्ध जोड़ा गया है, वह उसके महत्त्व को बढ़ाने के लिए भी हो सकता है और वस्तुस्थिति का द्योतन भी हो सकता है, क्योंकि पूर्वगत श्रुत में नयों का विवरण विशेष रूप से था हो। और प्रस्तुत ग्रन्थ में पुरुष-नियति आदि कारणवाद की जो चर्चा है वह किसी लुप्त परंपरा का द्योतन तो अवश्य करती है; क्योंकि उन कारणों के विषय में ऐसी विस्तृत और व्यवस्थित प्राचीन चर्चा अन्यत्र कहीं नहीं मिलती। श्वेता-श्वतर उपनिषद् में कारणवादों का संग्रह एक कारिका में किया गया है[१६]; किन्तु उन वादों की युक्तियों का विस्तृत और व्यवस्थित निरूपण अन्यत्र जो दुर्लभ है, वह इस नयचक्र में ही मिलता है। इस दृष्टि से इसमें पूर्व परंपरा का अंश सुरक्षित हो तो कोई आश्चर्य नहीं और इसी लिए इसका महत्त्व भी अत्यधिक है।

आचार्य मल्लवादी ने अपनी कृति का सम्बन्ध पूर्वगत श्रुत के साथ जो जोड़ा है वह निराधार भी नहीं लगता। पूर्वगत यह अंश दृष्टिवादान्तर्गत है। ज्ञानप्रवाद नामक पंचम पूर्व का विषय ज्ञान है। नय यह श्रुतज्ञान का एक अंश माना जाता है। इस दृष्टि से नयचक्र का आधार पूर्वगत श्रुत हो सकता है। किन्तु पूर्वगत के अलावा दृष्टि-वाद का 'सूत्र' भी नयचक्र की रचना में सहायक हुआ होगा। क्योंकि 'सूत्र' के जो बाईस भेद बताए गए हैं उन में ऋजुसूत्र, एवंभूत और समभिरूढ़ का उल्लेख है। और इन ही बाईस सूत्रों को स्वसमय, आजीवकमत और त्रैराशिकमत के साथ भी जोड़ा गया है[१७]। यह सूचित

---

[१६] श्वेताश्वतर १. २.।

[१७] देखो, नंदीसूत्रगत दृष्टिवाद का परिचय–सूत्र ५६।

करता है कि दृष्टिवाद के सूत्रांश के साथ भी इसका संवन्ध है। संभव है इस सूत्रांश का विषय ज्ञानप्रवाद में अन्य प्रकार से समाविष्ट कर लिया गया हो। इस विषय में निश्चित कुछ भी कहना कठिन है। फिर भी दृष्टिवाद की विषय-सूची देख कर इतना ही निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि नयचक्र का जो दृष्टिवाद के साथ सम्वन्ध जोड़ा गया है, वह निराधार नहीं।

नयचक्र का उच्छेद क्यों ?

नयचक्र पठन–पाठन में नहीं रहा यह तो पूर्वोक्त कथा से सूचित होता है। ऐसा क्यों हुआ ? यह प्रश्न विचारणीय है। नयचक्र में ऐसी कौनसी वात होगी, जिसके कारण उसके पढ़ने पर श्रुतदेवता कुपित होती थी ? यह विचारणीय है।

इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमें दृष्टिवाद के उच्छेद के कारणों की खोज करनी होगी। जिसका यह स्थान नहीं। यहाँ तो इतना ही कहना पर्याप्त है कि दृष्टिवाद में अनेक ऐसे विषय थे जो कुछ व्यक्ति के लिए हितकर होने के वजाय अहितकर हो सकते थे। उदाहरण के लिए विद्याएँ योग्य व्यक्ति के हाथ में रहने से उनका दुरुपयोग होना संभव नहीं, किन्तु वे ही यदि अस्थिर व्यक्ति के हाथ में हों तो दुरुपयोग संभव है। यह स्थूलभद्र की कथा से सूचित होता ही है। उन्होंने अपनी विद्यासिद्धि का अनावश्यक प्रदर्शन कर दिया और वे अपने संपूर्ण दृष्टिवाद के पाठन के अधिकार से वंचित कर दिए गए। जैन-दर्शन को सर्वनयमय कहा गया है। यह मान्यता निराधार नहीं। दृष्टिवाद के नयविवरण में संभव है कि आजीवक आदि मतों की सामग्री का वर्णन हो और उन मतों का नयदृष्टि से समर्थन भी हो। उन मतों के ऐसे मन्तव्य जिनको जैनदर्शन में समाविष्ट करना हो, उनकी युक्तिसिद्धता भी दर्शित की गई हो। यह सव कुशाग्रवुद्धि पुरुष के लिए ज्ञान-सामग्री का कारण हो सकता है और जड़वुद्धि के लिए जैनदर्शन में अनास्था का भी कारण हो सकता है। यदि नयचक्र उन मतों का संग्राहक हो तो जो आपत्ति दृष्टिवाद के अध्ययन में है वही नयचक्र के भी

अध्ययन में उठ सकती है। श्रुतदेवता की आपत्तिदर्शक कथा का मूल इसमें संभव है। अतएव नये नयचक्र की रचना भी आवश्यक हो जाती है, जिसमें कुछ परिमार्जन किया गया हो। आचार्य मल्लवादी ने अपने नयचक्र में ऐसा परिमार्जन करने का प्रयत्न किया हो यह संभव है। किन्तु उसकी जो दुर्गति हुई और प्रचार में से वह भी प्रायः लुप्त-सा हो गया उसका कारण खोजा जाए, तो पता लगेगा कि परिमार्जन का प्रयत्न होने पर भी जैनदर्शन की सर्वनयमयता का सिद्धान्त उसके भी उच्छेद में कारण हुआ है।

नयचक्र की विशेषता :

नयचक्र और अन्य ग्रन्थों की तुलना की जाय तो एक बात अत्यन्त स्पष्ट होती है कि जब नयचक्र के बाद के ग्रन्थ नयों के अर्थात् जैनेतर दर्शनों के मत का खण्डन ही करते हैं, तब नयचक्र में एक तटस्थ न्यायाधीश की तरह नयों के गुण और दोष दोनों की समीक्षा की गई है।

नयों के विवेचन की प्रक्रिया का भेद भी नयचक्र और अन्य ग्रन्थों में स्पष्ट है[१८]। नयचक्र में वस्तुतः दूसरे जैनेतर मतों को ही नय के रूप में वर्णित किया गया है और उन मतों के उत्तर पक्ष जो कि स्वयं भी एक जैनेतर पक्ष ही होते हैं—उनके द्वारा भी पूर्वपक्ष का मात्र खण्डन ही नहीं; किन्तु पूर्व पक्ष में जो गुण हैं उनके स्वीकार की ओर निर्देश भी किया गया है। इस प्रकार उत्तरोत्तर जैनेतर मतों को ही नय मान कर समग्र ग्रन्थ की रचना हुई है। सारांश यह है कि नय यह कोई स्वतः जैनमन्तव्य नहीं, किन्तु जैनेतर मन्तव्य जो लोक में प्रचलित थे उन्हीं को नय मान कर उनका संग्रह विविध नयों के रूप में किया गया है और किस प्रकार जैनदर्शन सर्वनयमय है यह सिद्ध किया गया है। अथवा मिथ्यामतों का समूह होकर भी जैनमत किस प्रकार सम्यक् है और मिथ्यामतों के समूह का अनेकान्तवाद में किस प्रकार साम-

---

[१८] देखो लघीयस्त्रय, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, प्रमाणनयतत्त्वालोक आदि।

ञ्जस्य होता है, यह दिखाना नयचक्र का उद्देश्य है। किन्तु नयचक्र के बाद के ग्रन्थ में नयवाद की प्रक्रिया बदल जाती है। निश्चित जैनमन्तव्य की भित्ति पर ही अनेकान्तवाद के प्रासाद की रचना होती है। जैन-संमत वस्तु के स्वरूप के विषय में अपेक्षाभेद से किस प्रकार विरोधी मन्तव्य समन्वित होते हैं यह दिखाना नयविवेचन का उद्देश्य हो जाता है। उसमें प्रासंगिक रूप से नयाभास के रूप में जैनेतर दर्शनों की चर्चा है। दोनों विवेचना की प्रक्रिया का भेद यही है कि नयचक्र में परमत ही नयों के रूप में रखे गए हैं और अन्य में स्वमत ही नयों के रूप में रखे गए हैं। स्वमत को नय और परमत को नयाभास कहा गया है। जब कि नयचक्र में परमत ही नय और नयाभास कैसे बनते हैं यह दिखाना इष्ट है। प्रक्रिया का यह भेद महत्त्वपूर्ण है। और वह महावीर और नयचक्रोत्तर काल के बीच की एक विशेष विचारधारा की ओर संकेन करता है।

वस्तु को अनेक दृष्टि से देखना एक बात है अर्थात् एक ही व्यक्ति विभिन्न दृष्टि से एक ही वस्तु को देखता है—यह एक बात है और अनेक व्यक्तियों ने जो अनेक दृष्टि से वस्तु-दर्शन किया है, उनकी उन सभी दृष्टियों को स्वीकार करके अपना दर्शन पुष्ट करना यह दूसरी बात है। नयचक्र की विचारधारा इस दूसरी बात का समर्थन करती है। और नयचक्रोत्तरकालीन ग्रन्थ प्रथम बात का समर्थन करते हैं। दूसरी बात में यह खतरा है कि दर्शन दूसरों का है, जैनदर्शन मात्र उनको स्वीकार कर लेता है। जैन दार्शनिक की अपनी सूझ. अपना निजी दर्शन कुछ भी नहीं। वह केवल दूसरों का अनुसरण करता है, स्वयं दर्शन का विधाता नहीं बनता। यह एक दार्शनिक की कमजोरी समझी जायगी कि उसका अपना कोई दर्शन नहीं। किन्तु प्रथम बात में ऐसा नहीं होता। दार्शनिक का अपना दर्शन है। उसकी अपनी दृष्टि है। अतएव उक्त खतरे से बचने के लिए नयचक्रोत्तरकालोन ग्रन्थों ने प्रथम बात को ही प्रश्रय दिया हो तो आश्चर्य नहीं। और जैनदर्शन की सर्वनयमयता-सर्वमिथ्यादर्शनसमूहता का सिद्धान्त गौण हो गया हो, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। उत्तरकाल में नय-विवेचन है, परमत-विवेचन नहीं।

जब जैन दार्शनिकों ने यह नया मार्ग अपनाया तब प्राचीन पद्धति से लिखे गए प्रकरण ग्रन्थ गौण हो जाएँ, यह स्वाभाविक है। यही कारण है कि नयचक्र पठन-पाठन से वंचित होकर क्रमशः काल-कवलित हो गया—यह कहा जाय तो अनुचित नहीं होगा। नयचक्र के पठन-पाठन में से लुप्त होने का एक दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि नयचक्र की युक्तियों का उपयोग करके अन्य सारात्मक सरल ग्रन्थ बन गएं, तब भाव और भाषा की दृष्टि से क्लिष्ट और विस्तृत नयचक्र की उपेक्षा होना स्वाभाविक है। नयचक्र की उपेक्षा का यह भी कारण हो सकता है कि नयचक्रोत्तरकालीन कुमारिल और धर्मकीर्ति जैसे प्रचण्ड दार्शनिकों के कारण भारतीय दर्शनों का जो विकास हुआ उससे नयचक्र वंचित था। नयचक्र की इन दार्शनिकों के बाद कोई टीका भी नहीं लिखी गई, जिससे वह नये विकास को आत्मसात् कर लेता।

नयचक्र का परिचय :

नयचक्रोत्तरकालीन ग्रन्थों ने नयचक्र की परिभाषाओं को भी छोड़ दिया है। सिद्धसेन दिवाकर ने प्रसिद्ध सात नय को ही दो मूल नय में समाविष्ट किया है। किन्तु मल्लवादी ने, क्योंकि नयविचार को एक चक्र का रूप दिया, अतएव चक्र की कल्पना के अनुकूल नयों का वर्गीकरण किया है जो अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। आचार्य मल्लवादी की प्रतिभा की प्रतीति भी चक्र-रचना से ही विद्वानों को हो जाती है।

चक्र के बारह आरे होते हैं। मल्लवादी ने सात नय के स्थान में बारह नयों की कल्पना की है, अतएव नयचक्र का दूसरा नाम द्वादशार-नयचक्र भी है। वे ये हैं—

१. विधिः।
२. विधि-विधिः (विधेर्विधिः)।
३. विध्युभयम् (विधेर्विधिश्च नियमश्च)।
४. विधिनियमः (विधेर्नियमः)।
५. विधिनियमौ (विधिश्च नियमश्च)।

६. विधिनियमविधिः (विधिनियमयोर्विधिः) ।
७. उभयोभयम् (विधिनियमयोर्विधिनियमौ) ।
८. उभयनियमः (विधिनियमयोर्नियमः) ।
९. नियमः ।
१०. नियमविधिः (नियमस्य विधिः) ।
११. नियमोभयम् (नियमस्य विधिनियमौ) ।
१२. नियम-नियमः (नियमस्य नियमः)[१९] ।

चक्र के आरे एक तुम्ब या नाभि में संलग्न होते हैं उसी प्रकार ये सभी नय स्याद्वाद या अनेकान्त रूप तुम्ब या नाभि में संलग्न हैं। यदि ये आरे तुम्ब में प्रतिष्ठित न हों तो बिखर जायेंगे। उसी प्रकार ये सभी नय यदि स्याद्वाद में स्थान नहीं पाते तो उनकी प्रतिष्ठा नहीं होती। अर्थात् अभिप्रायभेदों को, नयभेदों को या दर्शनभेदों को मिलाने वाला स्याद्वादतुम्ब नयचक्र में महत्त्व का स्थान पाता है[२०]।

दो आरों के बीच चक्र में अन्तर होता है। उसके स्थान में आचार्य मल्लवादी ने पूर्व नय का खण्डन भाग रखा है। अर्थात् जब तक पूर्व नय में कुछ दोष न हो तब तक उत्तर नय का उत्थान ही नहीं हो सकता है। पूर्व नय के दोषों का दिग्दर्शन कराना यह दो नयरूप आरों के बीच का अन्तर है। जिस प्रकार अन्तर के बाद ही नया आरा आता है उसी प्रकार पूर्व नय के दोषदर्शन के बाद ही नया नय अपना मत स्थापित करता है[२१]। दूसरा नय प्रथम नय का निरास करेगा और अपनी स्थापना करेगा, तीसरा दूसरे का निरास और अपनी स्थापना करेगा। इस प्रकार क्रमशः होते-होते ग्यारहवें नय का निरास कर के अपनी स्थापना बारहवाँ नय करता है। यह निरास और स्थापना यहीं समाप्त नहीं होतीं। क्योंकि नयों के चक्र की रचना आचार्य ने की है अतएव बारहवें नय के बाद प्रथम नय का स्थान आता है, अतएव वह

---

[१९] नयचक्र पृ० १० ।
[२०] आत्मानंद प्रकाश ४५. ७. पृ० १२१ ।
[२१] श्री आत्मानंद प्रकाश ४५. ७. पृ० १२२ ।

भी बारहवें नय की स्थापना को खण्डित करके अपनी स्थापना करता है। इस प्रकार ये बारहों नय पूर्व-पूर्व की अपेक्षा प्रबल और उत्तर-उत्तर की अपेक्षा निर्बल हैं। कोई भी ऐसा नहीं जिसके पूर्व में कोई न हो और उत्तर में भी कोई न हो। अतएव नयों के द्वारा संपूर्ण सत्य का साक्षात्कार नहीं होता। इस तथ्य को नयचक्र की रचना करके आचार्य मल्लवादी ने मार्मिक ढंग से प्रस्थापित किया है। और इस प्रकार यह स्पष्ट कर दिया है कि स्याद्वाद ही अखंड सत्य के साक्षात्कार में समर्थ है, विभिन्न मतवाद या नय नहीं।

तुम्ब हो, आरे हों किन्तु नेमि न हो तो वह चक्र गतिशील नहीं बन सकता और न चक्र ही कहला सकता है अत एव नेमि भी आवश्यक है। इस दृष्टि से नयचक्र के पूर्ण होने में भी नेमि आवश्यक है। प्रस्तुत नयचक्र में तीन अंश में विभक्त नेमि की कल्पना की गई है। प्रत्येक अंश को मार्ग कहा गया है। प्रथम चार आरे को जोड़नेवाला प्रथम मार्ग आरे के द्वितीय चतुष्क को जोड़ने वाला द्वितीय मार्ग और आरों के तृतीय चतुष्क को जोड़नेवाला तृतीय मार्ग है। मार्ग के तीन भेद करने का कारण यह है कि प्रथम के चार विधिभंग हैं। द्वितीय चतुष्क उभय-भंग है और तृतीय चतुष्क नियमभंग है। ये तीनों मार्ग क्रमशः नित्य, नित्यानित्य और अनित्य की स्थापना करते हैं[२२]। नेमि को लोहवेष्टन से मंडित करने पर वह और भी मजबूत बनती है अतएव चक्र को वेष्टित करने वाले लोहपट्ट के स्थान में सिंहगणि-विरचित नयचक्रवालवृत्ति है। इस प्रकार नयचक्र अपने यथार्थ रूप में चक्र है।

नयों के द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ऐसे दो भेद प्राचीन काल से प्रसिद्ध हैं। नैगमादि सात नयों का समावेश भी उन्हीं दो नयों में होता है। मल्लवादी ने द्वादशारनयचक्र की रचना की तो उन बारह नयों का संबंध उक्त दो नयों के साथ बतलाना आवश्यक था। अत एव आचार्य ने स्पष्ट कर दिया है कि विधि आदि प्रथम के छह नय द्रव्या-र्थिक नय के अन्तर्गत हैं और शेष छह पर्यायार्थिक नय के अन्तर्गत

---

२२ श्री आत्मानंद प्रकाश ४५. ७. पृ० १२३.।

हैं[२३]। आचार्य ने प्रसिद्ध नैगमादि सात नयों के साथ भी इन बारह नयों का सम्बन्ध बतलाया है। तदनुसार विधि आदि का सम्बन्ध इस प्रकार है[२४]। १ व्यवहार नय, २–४ संग्रह नय, ५–६ नैगम नय, ७ ऋजुसूत्र नय, ८–९ शब्दनय, १० समभिरूढ़, ११–१२ एवंभूत नय।

नयचक्र की रचना का सामान्य परिचय कर लेने के बाद अब यह देखें कि उनमें नयों–दर्शनों का किस क्रम से उत्थान और निरास है।

(१) सर्व प्रथम द्रव्यार्थिक के भेदरूप व्यवहार नय के आश्रय से अज्ञानवाद का उत्थान है। इस नय का मन्तव्य है कि लोकव्यवहार को प्रमाण मानकर अपना व्यवहार चलाना चाहिए। इसमें शास्त्र का कुछ काम नहीं। शास्त्रों के झगड़े में पड़ने से तो किसी बात का निर्णय हो नहीं सकता है। और तो और ये शास्त्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण का भी निर्दोष लक्षण नहीं कर सके। वसुबन्धु के प्रत्यक्ष लक्षण में दिङ्नाग ने दोष दिखाया है और स्वयं दिङ्नाग का प्रत्यक्ष लक्षण भी अनेक दोषों से दूषित है। यही हाल, सांख्यों के वार्षगण्यकृत प्रत्यक्ष लक्षण का और वैशेषिक के प्रत्यक्ष का है। प्रमाण के आधार पर ये दार्शनिक वस्तु को एकान्त सामान्य विशेष और उभयरूप मानते हैं, किन्तु उनकी मान्यता में विरोध है। सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद का भी ये दार्शनिक समर्थन करते हैं किन्तु ये वाद भी ठीक नहीं। कारण होने पर भी कार्य होता ही है यह भी नियम नहीं। शब्दों के अर्थ जो व्यवहार में प्रचलित हों उन्हें मान कर व्यवहार चलाना चाहिए। किसी शास्त्र के आधार पर शब्दों के अर्थ का निर्णय हो नहीं सकता है। अत एव व्यवहार नय का निर्णय है कि वस्तुस्वरूप उसके यथार्थरूप में कभी जाना नहीं जा सकता है–अत एव उसे जानने का प्रयत्न भी नहीं करना चाहिए। इस प्रकार व्यवहारनय के एक भेदरूप से प्रथम आरे में अज्ञानवाद का उत्थान है। इस अज्ञानवाद का यह भी अर्थ है कि पृथ्वी आदि सभी वस्तुएँ अज्ञान-

---

[२३] वही ४५. ७. पृ० १२३।

[२४] वही ४५. ७. पृ० १२४।

प्रतिबद्ध हैं। जो अज्ञान विरोधी ज्ञान है वह भी अवबोधरूप होने से संशयादि के समान ही है अर्थात् उसका भी अज्ञान से वैशिष्ट्य सिद्ध नहीं है।

इस मत के पुरस्कर्ता के वचन को उद्धृत किया गया है कि "को ह्येतद् वेद ? किं वा एतेन ज्ञातेन ?" यह वचन प्रसिद्ध नासदीय सूक्त के आधार पर है। जिसमें कहा गया है—"को अद्धा वेद क इह प्रवोचन् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।......यो अस्याध्यक्ष परमे व्योमन् सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥ ६–७ ॥" टीकाकार सिंहगणि ने इसी मत के समर्थन में वाक्यपदीय की कारिका[२५] उद्धृत की है जिसके अनुसार भर्तृहरि का कहना है कि अनुमान से किसी भी वस्तु का अंतिम निर्णय हो नहीं सकता। जैनग्रन्थों में दर्शनों को अज्ञानवाद, क्रियावाद, अक्रियावाद और विनयवादों में जो विभक्त किया गया है उसमें से यह प्रथम वाद है, यह टीकाकार ने स्पष्ट किया है तथा आगम के कौन से वाक्य से यह मत संबद्ध है यह दिखाने के लिए आचार्य मल्लवादी ने प्रमाणरूप से भगवती का निम्न वाक्य उद्धृत किया है—"आता भंते णाणे अण्णाणे ? गोतमा, णाणे नियमा आता, आता पुण सिया णाणे, सिया अण्णाणे" भगवती १२. ३. ४६७।

इस नय का तात्पर्य यह है कि जब वस्तुतत्त्व पुरुष के द्वारा जाना ही नहीं जा सकता, तब अपौरुषेय शास्त्र का आश्रय तत्त्वज्ञान के लिए नहीं, किन्तु क्रिया के लिए करना चाहिए। इस प्रकार इस अज्ञानवाद को वैदिक कर्मकाण्डी मीमांसक मत के रूप में फलित किया गया है। मीमांसक सर्वशास्त्र का या वेद का तात्पर्य क्रियोपदेश में मानता है। सारांश यह है कि शास्त्र का प्रयोजन यह बताने का है कि यदि आप की कामना अमुक अर्थ प्राप्त करने की है तो उसका साधनं अमुक क्रिया है। अतएव शास्त्र क्रिया का उपदेश करता है। जिसके अनुष्ठान से आप की फलेच्छा पूर्ण हो सकती है। यह मीमांसक मत विधिवाद के नाम से

---

[२५] 'यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः। अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ॥'
—वाक्यपदीय १. ३४.

प्रसिद्ध भी है। अतएव आचार्य ने द्रव्यार्थिक नय के एक भेद व्यवहार नय के उपभेदरूप से विधिभंगरूप प्रथम अर में मीमांसक के इस मत को स्थान दिया है।

इस अर में विज्ञानवाद, अनुमान का नैरर्थक्य आदि कई प्रारंभिक विषयों की भी चर्चा की गई है, किन्तु उन सबके विषय में ब्योरेवार लिखने का यह स्थान नहीं है।

(२) द्वितीय अर के उत्थान में मीमांसक ने उक्त विधिवाद या अपौरुषेय शास्त्र द्वारा क्रियोपदेश के समर्थन में अज्ञानवाद का जो आश्रय लिया है उसमें त्रुटि यह दिखलाई गई है कि यदि लोकतत्त्व पुरुषों के द्वारा अज्ञेय ही है तो अज्ञानवाद के द्वारा सामान्य-विशेषादि एकान्तवादों का जो खण्डन किया गया वह उन तत्त्वों को जानकर या बिना जाने ? जान कर कहने पर स्ववचन विरोध है और बिना जाने तो खण्डन हो कैसे सकता है ? तत्त्व को जानना यह यदि निष्फल हो तो शास्त्रों में प्रतिपादित वस्तुतत्त्व का प्रतिषेध अज्ञानवादी ने जो किया वह भी क्यों ? शास्त्र क्रिया का उपदेश करता है यह मान लिया जाय तब भी जो संसेव्य विषय है उसके स्वरूप का ज्ञान तो आवश्यक ही है; अन्यथा इष्टार्थ में प्रवृत्ति ही कैसे होगी ? जिस प्रकार यदि वैद्य को औषधि के रस-वीर्य-विपाकादि का ज्ञान न हो, तो वह अमुक रोग में अमुक औषधि कार्यकर होगी यह नहीं कह सकता वैसे ही अमुक याग करने से स्वर्ग मिलेगा यह भी बिना जाने कैसे कहा जा सकता है ? अतएव कार्यकारण के अतीन्द्रिय सम्बन्ध को कोई जानने वाला हो तब ही वह स्वर्गादि के साधनों का उपदेश कर सकता है, अन्यथा नहीं। इस दृष्टि से देखा जाय तो सांख्यादि शास्त्र या मीमांसक शास्त्र में कोई भेद नहीं किया जा सकता। लोकतत्त्व का अन्वेषण करने पर ही सांख्य या मीमांसक शास्त्र की प्रवृत्ति हो सकती है, अन्यथा नहीं। सांख्य शास्त्र की प्रवृत्ति के लिए जिस प्रकार लोकतत्त्व का अन्वेषण आवश्यक है उसी प्रकार क्रिया का उपदेश देने के लिए भी लोकतत्त्व का अन्वेषण आवश्यक है। अतएव मीमांसक के द्वारा अज्ञानवाद का आश्रय लेकर क्रिया का उपदेश करना अनुचित है। 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्ग-

काम:' इस वैदिक विधिवाक्य को क्रियोपदेशकरूप से मीमांसकों के द्वारा माना जाता है। किन्तु अज्ञानवाद के आश्रय करने पर किसी भी प्रकार से यह वाक्य विधिवाक्य रूप से सिद्ध नहीं हो सकता। इसकी विस्तृत चर्चा की गई है और उस प्रसंग में सत्कार्यवाद के एकान्त में भी दोष दिए गए हैं। इस प्रकार पूर्व अर में प्रतिपादित अज्ञानवाद और क्रियोपदेश का निराकरण करके पुरुषाद्वैत की वस्तुतत्त्वरूप से और सब कार्यों के कारण रूप से स्थापना द्वितीय अर में की गई है। इस पुरुष को ही आत्मा, कारण, कार्य और सर्वज्ञ सिद्ध किया गया है। सांख्यों के द्वारा प्रकृति को जो सर्वात्मक कहा गया था, उसके स्थान में पुरुष को ही सर्वात्मक सिद्ध किया गया है।

इस प्रकार एकान्त पुरुषकारणवाद की जो स्थापना की गई है उसका आधार 'पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यं' इत्यादि शुक्ल यजुर्वेद के मन्त्र (३१·२) को वताया गया है। और अन्त में कह दिया गया है कि वह पुरुष ही तत्त्व है, काल है, प्रकृति है, स्वभाव है, नियति है। इतना ही नहीं, किन्तु देवता और अर्हन् भी वही है। आचार्य का अज्ञानवाद के वाद पुरुषवाद रखने का तात्पर्य यह जान पड़ता है कि अज्ञानविरोधी ज्ञान है और ज्ञान ही चेतन आत्मा है, अतएव वही पुरुष है। अतएव यहाँ अज्ञानवाद के वाद पुरुषवाद रखा गया है—ऐसी संभावना की जा सकती है।

इस प्रकार द्वितीय अर में विधिविधिनय का प्रथम विकल्प पुरुषवाद जव स्थापित हुआ तव विधिविधिनय का दूसरा विकल्प पुरुषवाद के विरुद्ध खड़ा हुआ और वह है नियतिवाद। नियतिवाद के उत्थान के लिए आवश्यक है कि पुरुषवाद के एकान्त में दोष दिखाया जाय। दोष यह है कि पुरुष ज्ञ और सर्वतन्त्र स्वतन्त्र हो तो वह अपना अनिष्ट तो कभी कर ही नहीं सकता है, किन्तु देखा जाता है कि मनुष्य चाहता है कुछ, और होता है कुछ और। अत एव सर्व कार्यों का कारण पुरुष नहीं, किन्तु नियति है, ऐसा मानना चाहिए।

इसी प्रकार से उत्तरोत्तर क्रमशः खण्डन करके कालवाद, स्वभा-

ववाद और भाववाद का उत्थान विधिविधिनय के विकल्परूप से आचार्य ने द्वितीय अर के अन्तर्गत किया है।

भाववाद का तात्पर्य अभेदवाद से—द्रव्यवाद से है। इस वाद का उत्थान भगवती के निम्न वाक्य से माना गया है–"किं भयवं ! एके भवं, दुवे भवं, अक्खए भवं, अव्वए भवं, अवट्ठिए भवं, अणेगभूतभव्व-भविए भवं ! सोमिला, एके वि अहं दुवे वि अहं..." इत्यादि भगवती १८. १०. ६४७।

(३) द्वितीय अर में अद्वैत दृष्टि से विभिन्न चर्चा हुई है। अद्वैत को किसी ने पुरुष कहा तो किसी ने नियति आदि। किन्तु मूल तत्त्व एक ही है उसके नाम में या स्वरूप में विवाद चाहे भले ही हो, किन्तु वह तत्त्व अद्वैत है, यह सभी वादियों का मन्तव्य है। इस अद्वैततत्त्व का खास कर पुरुषाद्वैत के निरास द्वारा निराकरण करके सांख्य ने पुरुष और प्रकृति के द्वैत को तृतीय अर में स्थापित किया है।

किन्तु अद्वैतकारणवाद में जो दोष थे वैसे ही दोषों का अवतरण एकरूप प्रकृति यदि नाना कार्यों का संपादन करती है तो उसमें भी क्यों न हो यह प्रश्न सांख्यों के समक्ष भी उपस्थित होता है। और पुरुषाद्वैतवाद की तरह सांख्यों का प्रधानकारणवाद भी खण्डित हो जाता है। इस प्रसंग में सांख्यों के द्वारा संमत सत्कार्यवाद में असत्कार्य की आपत्ति दी गई है और सत्त्व–रजस्–तमस् के तथा सुख–दुःख–मोह के ऐक्य की भी आपत्ति दी गई है। इस प्रकार सांख्यमत का निरास करके प्रकृतिवाद के स्थान में ईश्वरवाद स्थापित किया है। प्रकृति के विकार होते हैं यह ठीक है, किन्तु उन विकारों को करने वाला कोई न हो तो विकारों की घटना बन नहीं सकती। अत एव सर्व कार्यों में कारण रूप ईश्वर को मानना आवश्यक है।

इस ईश्वरवाद का समर्थन श्वेताश्वरोपनिषद् की 'एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति' इत्यादि (६. १२) कारिका के द्वारा किया गया है। और "दुविहा पण्णवणा पण्णत्ता—जीवपण्णवणा अजीवपण्णवणा च" (प्रज्ञापना १. १) तथा "किमिदं

भंते ! लोएत्ति पवुच्चति ? गोयमा ! जीवा चेव अजीवा चेव" (स्थानांग) इत्यादि आगम वाक्यों से सम्बन्ध जोड़ा गया है ।

(४) सर्व प्रकार के कार्यों में समर्थ ईश्वर की आवश्यकता जब स्थापित हुई तब आक्षेप यह हुआ कि आवश्यकता मान्य है । किन्तु समग्र संसार के प्राणियों का ईश्वर अन्य कोई पृथगात्मा नहीं, किन्तु उन प्राणियों के कर्म ही ईश्वर हैं । कर्म के कारण ही जीव प्रवृत्ति करता है और तदनुरूप फ़ल भोगता है । कर्म ईश्वर के अधीन नहीं । ईश्वर कर्म के अधीन है । अतएव सामर्थ्य कर्म का ही मानना चाहिए, ईश्वर का नहीं । इस प्रकार कर्मवाद के द्वारा ईश्वरवाद का निराकरण करके कर्म का प्राधान्य चौथे अर में स्थापित किया गया । यह विधिनियम का प्रथम विकल्प है ।

दार्शनिकों में नैयायिक—वैशेषिकों का ईश्वरकारणवाद है । उसका निरास अन्य सभी कर्मवादी दर्शन करते हैं । अतएव यहाँ ईश्वर-वाद के विरुद्ध कर्मवाद का उत्थान आचार्य ने स्थापित किया है । यह कर्म भी पुरुष-कर्म समझना चाहिए । यह स्पष्टीकरण किया है कि पुरुष के लिए कर्म आदिकर हैं अर्थात् कर्म से पुरुष की नाना अवस्था होती हैं और कर्म के लिए पुरुष आदिकर हैं । जो आदिकर है वही कर्ता है । यहाँ कर्म और आत्मा का भेद नहीं समझना चाहिए । आत्मा ही कर्म है और कर्म ही आत्मा है । इस दृष्टि से कर्म-कारणता का एकान्त और पुरुष या पुरुषकार का एकान्त ये दोनों ठीक नहीं—आचार्य ने यह स्पष्ट कर दिया है । क्योंकि पुरुष नहीं तो कर्मप्रवृत्ति नहीं, और कर्म नहीं तो—पुरुषप्रवृत्ति नहीं । अतएव इन दोनों का कर्तृत्व परस्पर सापेक्ष है । एक परिणामक है तो दूसरा परिणामी है, अतएव दोनों में ऐक्य है । इसी दलील से आचार्य ने सर्वैक्य सिद्ध किया है । आत्मा, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश आदि सभी द्रव्यों का ऐक्य भावरूप से सिद्ध किया है और अन्त में युक्तिबल से सर्वसर्वात्मकता का प्रतिपादन किया है और उसके समर्थन में—'जे एकणामे से बहुनामे' (आचारांग १. ३. ४.) इस आगमवाक्य को उद्धृत किया है । इस अर के प्रारंभ में ईश्वर का निरास

किया गया और कर्म की स्थापना की गई। यह कर्म ही भाव है, अन्य कुछ नहीं—यह अंतिम निष्कर्ष है।

(५) चौथे अर में विधिनियम भंग में कर्म अर्थात् भाव अर्थात् क्रिया को जब स्थापित किया तब प्रश्न होना स्वाभाविक है कि भवन या भाव किसका? द्रव्यशून्य केवल भवन हो नहीं सकता। किसी द्रव्य का भवन या भाव होता है। अतएव द्रव्य और भाव इन दोनों को अर्थरूप स्वीकार करना आवश्यक है; अन्यथा 'द्रव्यं भवति' इस वाक्य में पुनरुक्ति दोष होगा। इस नय का तात्पर्य यह है कि द्रव्य और क्रिया का तादात्म्य है। क्रिया बिना द्रव्य नहीं और द्रव्य बिना क्रिया नहीं। इस मत को नैगमान्तर्गत किया गया है। नैगमनय द्रव्यार्थिक नय है।

(६) इस अर में द्रव्य और क्रिया के तादात्म्य का निरास वैशेषिक दृष्टि के आश्रय से करके द्रव्य और क्रिया के भेद को सिद्ध किया गया है। इतना ही नहीं किन्तु गुण, सत्तासामान्य, समवाय आदि वैशेषिक संमत पदार्थों का निरूपण भी भेद का प्राधान्य मान कर किया गया है। आचार्य ने इस दृष्टि को भी नैगमान्तर्गत करके द्रव्यार्थिक नय ही माना है।

प्रथम अर से लेकर इस छट्ठे अर तक द्रव्यार्थिक नयों की विचारणा है। अब आगे के नय पर्यायार्थिक दृष्टि से हैं।

(७) वैशेषिक प्रक्रिया का खण्डन ऋजुसूत्र नय का आश्रय लेकर किया गया है। उसमें वैशेषिक संमत सत्तासंबंध और समवाय का विस्तार से निरसन है और अन्त में अपोहवाद की स्थापना है। यह अपोहवाद बौद्धों का है।

(८) अपोहवाद में दोष दिखा कर वैयाकरण भर्तृहरि का शब्दाद्वैत स्थापित किया गया है। जैन परिभाषा के अनुसार यह चार निक्षेपों में नामनिक्षेप है। जिसके अनुसार वस्तु नाममय है, तदतिरिक्त उसका कुछ भी स्वरूप नहीं।

इस शब्दाद्वैत के विरुद्ध ज्ञान पक्ष को रखा है और कहा गया है कि प्रवृत्ति और निवृत्ति ज्ञान के बिना संभव नहीं है। शब्द तो ज्ञान

का साधन मात्र है। अतएव शब्द नहीं, किन्तु ज्ञान प्रधान है। यहाँ भर्तृहरि और उनके गुरु वसुरात का भी खण्डन है।

ज्ञानवाद के विरुद्ध स्थापना निक्षेप का, निर्विषयक ज्ञान होता नहीं—इस युक्ति से उत्थान है। शाब्द बोध जो होगा उसका विषय क्या माना जाय? जाति सामान्य या अपोह? प्रस्तुत में स्थापना निक्षेप के द्वारा अपोहवाद का खण्डन करके जाति की स्थापना की गई है।

(९) जातिवाद के विरुद्ध विशेषवाद और विशेषवाद के विरुद्ध जातिवाद का उत्थान है; अतएव वस्तु सामान्यैकान्त या विशेषैकान्तरूप है ऐसा नहीं कहा जा सकता। वह अवक्तव्य है। इसके समर्थन में निम्न आगम-वाक्य उद्धृत किया है—"इमा णं रयणप्पभा पुढवी आता नो आता? गोयमा! अप्पणो आदिट्ठे आता, परस्स आदिट्ठे नो आता तदुभयस्स आदिट्ठे अवत्तव्वं॥"

(१०) इस अवक्तव्यवाद के विपक्ष में समभिरूढ नय का आश्रय लेकर बौद्ध दृष्टि से कहा गया कि द्रव्योत्पत्ति गुणरूप है अन्य कुछ नहीं। मिलिन्द प्रश्न की परिभाषा में कहा जाय तो स्वतंत्र रथ कुछ नहीं रथांगों का ही अस्तित्व है। रथांग ही रथ है अर्थात् द्रव्य जैसी कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं, गुण ही गुण हैं। इसी वस्तु का समर्थन सेना और वन के दृष्टान्तों द्वारा भी किया गया है।

इस समभिरूढ की चर्चा में कहा गया है कि एक-एक नय के शत-शत भेद होते हैं, तदनुसार समभिरूढ के भी सौ भेद हुए। उनमें से यह गुण समभिरूढ एक है। गुणसमभिरूढ के विधि आदि बारह भेद हैं। उनमें से यह नियमविधि नामक गुणसमभिरूढ है।

इस नय का निर्गम आगम के—"कई विहे णं भन्ते! भावपरमाणु पन्नते? गोयमा! चउविहे पण्णत्ते-वंण्णवन्ते, गंधवंते, फासवंते रसवंते" इस वाक्य से है।

(११) समभिरूढ का मन्तव्य गुणोत्पत्ति से था। तब उसके विरुद्ध एवंभूत का उत्थान हुआ। उसका कहना है कि उत्पत्ति ही विनाश है। क्योंकि वस्तुमात्र क्षणिक हैं। यहाँ बौद्धसंमत निर्हेतुक विनाशवाद के

आश्रय से सर्वरूपादि वस्तु की क्षणिकता सिद्ध की गई है और प्रदीपशिखा के दृष्टान्त से वस्तु की क्षणिकता का समर्थन किया गया है।

(१२) एवंभूत नय ने जब यह कहा कि जाति-उत्पत्ति ही विनाश है तब उसके विरुद्ध कहा गया है कि "जातिरेव हि भावानामनाशे हेतुरिष्यते" अर्थात् स्थितिवाद का उत्थान क्षणिकवाद के विरुद्ध इस अर में है। अत एव कहा गया है कि—"सर्वेप्यक्षणिका भावाः क्षणिकानां कुतः क्रिया।' यहां आचार्य ने इस नय के द्वारा यह प्रतिपादित कराया है कि पूर्व नय के वक्ता ने ऋषियों के वाक्यों की धारणा ठीक नहीं की; अत एव जहाँ अनाश की बात थी वहां उसने नाश समझा और अक्षणिक को क्षणिक समझा। इस प्रकार विनाश के विरुद्ध जब स्थितिवाद है और स्थितिवाद विरुद्ध जब क्षणिक वाद है, तब उत्पत्ति और स्थिति न कह कर शून्यवाद का ही आश्रय क्यों न लिया जाए, यह आचार्य नागार्जुन के पक्ष का उत्थान है। इस शून्यवाद के विरुद्ध विज्ञानवादी बौद्धों ने अपना पक्ष रखा और विज्ञानवाद की स्थापना की। विज्ञानवाद का खण्डन फिर शून्यवाद की दलीलों से किया गया। स्याद्वाद के आश्रय से वस्तु को अस्ति और नास्तिरूप सिद्ध करके शून्यवाद के विरुद्ध पुरुषादि वादों की स्थापना करके उसका निरास किया गया।

और इस अरके अन्त में कहा गया कि वादों का यह चक्र चलता ही रहता है, क्योंकि पुरुषादि वादों का भी निरास पूर्वोक्त क्रम से होगा ही।

अनुक्रमणिका

(इ)

(प)

(म)

(व)

(श)

(ष)

(स)

★

आगम-युग का जैन दर्शन

पण्डित दलसुख मालवणिया

भ० महावीर के हजार वर्ष बाद जैन दर्शन का जो विकास हुआ है उसकी चर्चा कई ग्रन्थों में विद्वानों ने की है। किन्तु भ० महावीर से लेकर हजार वर्ष में जैन दर्शन की जो विकास यात्रा हुई है उसका विवरण कहीं नहीं है। प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रथम वार यहाँ जैन आगम युग के जैन दर्शन की चर्चा की है। भूमिका रूप से वेद से लेकर उपनिपद की दार्शनिक चर्चा की संक्षिप्त चर्चा है। और, भ० बुद्ध महावीर के दृष्टिविन्दु में क्या भेद है इसका भी विवरण दिया है। भ० बुद्ध के अव्याकृत प्रश्नों का व्याकरण भ० महावीर ने किस प्रकार किया और अनेकान्तवाद की किस प्रकार स्थापना की उसकी विस्तृत चर्चा प्रस्तुत ग्रन्थ में मिलेगी।

मूल्य : रु० १०० (सजिल्द)
रु० ८० (अजिल्द)